दीनदयाल उपाध्याय

संपूर्ण वाङ्मय

खंड नौ

एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान

क्या बाजारवाद (पूँजीवाद) तथा राज्यवाद (साम्यवाद) विचारधाराएँ आधुनिक मानव को भीतरी सुख दिला सकती हैं? क्या इस देश के करोड़ों लोग पश्चिमी अवधारणाओं के अनुसार ही जीवन जीने को अभिशप्त हैं? क्या भारत की प्रजा के पास इसका कोई समाधान नहीं है? भारत के एक युगऋषि पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने इन सवालों, इन खतरों को दशकों पहले ही भाँप लिया था और भारतीय परंपराओं के खजाने में ही इनके उत्तर भी खोज लिये थे। उन्होंने व्यष्टि बनाम समष्टि के पाश्चात्य समीकरण को अमानवीय बताया था तथा व्यष्टि एवं समष्टि की एकात्मता से ही मानव की पहचान की थी। उन्होंने इस पहचान के लिए 'एकात्म मानवदर्शन' के रूप में एक दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की थी।

पर विडंबना, उनकी यह खोज, उनका यह दर्शन आगे न बढ़ सका। प्रयास कुछ अधूरे रहे। दोष शायद परिस्थितियों का रहा। लेकिन इस शताब्दी के प्रारंभ में कुछ सामाजिक व अकादमिक कार्यकर्ताओं ने इस धारा को आगे बढ़ाने का संकल्प लिया। इस समूह का अनुभव रहा कि गहन अनुसंधान एवं व्यावहारिक परियोजनाओं का सूत्रपात करने से ही इसे आगे बढ़ाया जा सकता है। उसी विचार व अनुभव में से उत्पत्ति हुई 'एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान' की। इसके विभिन्न आयामों व पहलुओं पर नियमित परिचर्चाओं व प्रकाशनों के माध्यम से जो वातावरण बना, उसके परिणाम सामने आने लगे हैं। 'एकात्म मानवदर्शन' देश में वैचारिक बहस की मुख्यधारा का अहम हिस्सा बन गया है। प्रतिष्ठान के सामने अब लक्ष्य है, उसे वैश्विक स्तर पर ले जाने का।

दीनदयाल उपाध्याय
संपूर्ण वाङ्मय

संपादक मंडल

दीनदयाल उपाध्याय
संपूर्ण वाङ्मय

खंड नौ

संपादक

डॉ. महेश चंद्र शर्मा

प्रकाशक • **प्रभात प्रकाशन**
4/19 आसफ अली रोड,
नई दिल्ली-110002
संकलन व संपादन • **डॉ. महेश चंद्र शर्मा**
अध्यक्ष, एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान, एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002

संस्करण • प्रथम, 2016
लेआउट व आवरण • दीपा सूद
मूल्य • चार सौ रुपए (प्रति खंड)
छह हजार रुपए
(पंद्रह खंडों का सैट)
मुद्रक • आर-टेक ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली

DEENDAYAL UPADHYAYA SAMPOORNA VANGMAYA (VOL. IX)
(Complete Works of Pandit Deendayal Upadhyaya)
Published by Prabhat Prakashan, 4/19 Asaf Ali Road, New Delhi-2
e-mail: prabhatbooks@gmail.com
in association with
Research and Development Foundation for Integral Humanism,
Ekatm Bhawan, 37, Deendayal Upadhyaya Marg, New Delhi-2
Vol. IX ₹ 400.00 ISBN 978-93-86231-24-6
Set of Fifteen Vols. ₹ 6000.00 ISBN 978-93-86231-31-4

समर्पण

सुंदर सिंहजी भंडारी

(12 अप्रैल, 1921-22 जून, 2005)

संस्थापक सदस्य, भारतीय जनसंघ

को समर्पित

परिचय

सुंदर सिंह भंडारी

समर्पित संगठन-शिल्पी सुंदर सिंहजी भंडारी का जन्म 12 अप्रैल, 1921 को उदयपुर में हुआ। इनके पिताजी डॉ. सुजान सिंह भंडारी और माता श्रीमती फूलकूँवर थीं। सुंदर सिंहजी की प्राथमिक-माध्यमिक शिक्षा उदयपुर और सिरोही में संपन्न हुई। महाराणा भूपाल कॉलेज उदयपुर से इंटरमीडिएट कर सन् 1937 में सनातन धर्म कॉलेज, कानपुर में बी.ए. हेतु प्रवेश लिया। सन् 1939 में इन्होंने एम.ए. अर्थशास्त्र और एल-एल.बी. अध्ययन एक साथ प्रारंभ किया और 1942 तक दोनों परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर अपने घर उदयपुर लौट आए।

कानपुर प्रवास भंडारीजी के लिए विद्यार्जन का केंद्र ही नहीं बना अपितु सामाजिक सहभागिता और संगठन साधना की पाठशाला भी सिद्ध हुआ। सन् 1937 में पं. दीनदयाल उपाध्याय ने भी सनातन धर्म कॉलेज में प्रवेश लिया था और वे भंडारीजी के सहपाठी थे। इसी वर्ष दिसंबर में कानपुर के नवाबगंज में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखा प्रारंभ हुई। बालू महाशब्दे इन दोनों को इस शाखा में ले गए और यहीं से इनकी राष्ट्रजीवन की साधना का श्रीगणेश हुआ, जो आजीवन अविराम रही।

उदयपुर लौटकर भंडारीजी ने वकालत प्रारंभ तो कर दी किंतु यह पेशा इनकी मनोरचना के अनुकूल नहीं था। अतः वकालत में मन नहीं रमता देख सन् 1943 में इन्होंने विद्या भवन उदयपुर में प्रधानाचार्य के रूप में कार्यारंभ किया। अध्यापन कौशल, अनुशासनप्रियता और विद्वत्ता ने भंडारीजी को शीघ्र ही 'हैड माटसाब' के रूप में लोकप्रिय कर दिया, किंतु नियति ने इनके लिए कुछ और ही नियत कर रखा था। संघकार्य के प्रति लगाव दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा था। संघ शिक्षावर्ग का प्रथम वर्ष और द्वितीय वर्ष तो इन्होंने क्रमशः सन् 1941 और 1942 में ही कर लिया था, सन् 1946 में तृतीय वर्ष कर भंडारीजी संघ के पूर्णकालिक प्रचारक हो गए। इन्हें जोधपुर विभाग प्रचारक का दायित्व दिया गया। सन्

1950 में जोधपुर विभाग के साथ जयपुर विभाग का दायित्व भी दे दिया गया।

इधर हाल ही में स्वतंत्र हुए भारत का राजनीतिक परिदृश्य लोकभावनाओं को भग्न करने वाला सिद्ध हो रहा था। देश की बागडोर सँभालने वाले राजनेताओं को दिशाहीनता एवं शासकीय तंत्र का वैदेशिक पिछलग्गूपन देशभक्त और जागरूक कार्यकर्ताओं को उद्वेलित कर रहा था। निर्दोष और निरपराध संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर प्रतिबंध ने इस उद्वेलन को निर्णायक बना दिया और उसकी परिणति सन् 1951 में भारतीय जनसंघ के गठन के रूप में हुई। संघ ने अपने कुछ संगठनकुशल और दृष्टिसंपन्न प्रचारकों को जनसंघ का कार्य करने हेतु भेजा। इसी क्रम में सुंदर सिंहजी भंडारी को प्रदेश महामंत्री का कार्यभार देते हुए राजस्थान में जनसंघ का कार्य खड़ा करने की ज़िम्मेदारी सौंपी गई।

भंडारीजी ने समर्पित और ध्येयनिष्ठ कार्यकर्ताओं की टोली खड़ी कर दी, किंतु अवसरजीवियों को पास नहीं फटकने दिया। सन् 1952 में राजस्थान विधानसभा में जनसंघ के आठ विधायक चुनकर आए थे। जब विधानसभा में ज़मींदारी उन्मूलन विधेयक लाया गया तो जनसंघ के अधिकतर विधायक इसके विरोध में उठ खड़े हुए, जबकि जनसंघ इस विधेयक का पक्षधर था। भंडारीजी ने कठोर निर्णय करते हुए दीनदयालजी के मार्गदर्शन में आठ में से छह विधायकों को पार्टी से निष्कासित कर दिया। यह थी भंडारीजी की दृढता और सिद्धांतनिष्ठा।

सन् 1967 में कालीकट अधिवेशन में जब दीनदयालजी को राष्ट्रीय अध्यक्ष बनाया गया तो भंडारीजी को महामंत्री का दायित्व सौंपा गया, वे दीनदयालजी के उत्तराधिकारी बने। यह दायित्व इन्होंने जब तक जनसंघ जीवित रहा, तब तक निभाया।

आपातकाल लगने पर भंडारीजी ने गुप्तवास करते हुए देशभर में जनक्रांति को दिशा दी। जनवरी, 1976 में इन्हें नई दिल्ली रेलवे स्टेशन पर गिरफ़्तार कर तिहाड़ जेल भेजा गया। सन् 1980 में भारतीय जनता पार्टी का गठन होने पर इसके संविधान निर्माण में भंडारीजी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। भाजपा के पहले कोषाध्यक्ष और बाद में उपाध्यक्ष का दायित्व भी वर्षों तक निभाया। भंडारीजी की बौद्धिक परिपक्वता का परिचय उनके राज्यसभा में दिए गए भाषणों से प्राप्त होता है। वे तीन बार राज्यसभा के सदस्य चुने गए। सन् 1966 में राजस्थान से, सन् 1976 में उत्तर प्रदेश से और सन् 1992 में पुनः राजस्थान से। सन् 1998 में बिहार राज्य के राज्यपाल तथा 1999 में इन्हें गुजरात राज्य का राज्यपाल बनाया गया।

संघ के प्रचारक से लेकर राज्यपाल जैसे मंहिमामंडित पद तक के सार्वजनिक जीवन में उतार-चढ़ाव भी आते रहे किंतु न तो उनकी सादगी, सहजता और सक्रियता में कमी आई और न ही कर्तव्यपथ से विचलन-शिथिलन हुआ। 'न्यायात्पथः प्रविचलन्ति

पदं न धीरा:' ऐसे ही धीरपुरुष थे भंडारीजी। 22 जून, 2005 को ब्राह्मवेला में भंडारीजी ने अंतिम श्वास ली और स्मृतिशेष रह गए।

राजनीति का भारतीयकरण करनेवाले महामनीषी पं. दीनदयाल उपाध्याय ने अपने जिन सहयोगियों को साथ लेकर भारतीय राजनीति की दिशा मोड़ दी, उनमें सुंदर सिंहजी भंडारी का नाम अविस्मरणीय रहेगा।

—इंदुशेखर तत्पुरुष

संपादकीय

1961 का वर्ष तृतीय महानिर्वाचन की पूर्व संध्या का वर्ष है तथा भारत पर चीन के आक्रमण की भी पूर्व संध्या का वर्ष है। दीनदयाल उपाध्याय दोनों मोरचों पर सतर्क एवं सक्रिय हैं। चुनाव के लिए दल को तैयार करना, लोकमत परिष्कार का कार्य करना, लोकतंत्र के मोरचे पर भारत अपनी छवि को सँवारे। उन्होंने आह्वान किया—'जनता समय की चुनौती को स्वीकार करे।' उन्होंने आग्रह किया, राजनीतिक दलों के लिए 'आचार संहिता' का निर्माण किया जाए।

भारत सरकार चीन के प्रति जितना नरम रवैया अपना रही थी, दीनदयालजी चीन के ख़िलाफ़ उतने ही उग्र हो रहे थे। तथाकथित अंतरराष्ट्रीयता व साम्यवाद के ख़िलाफ़ उन्होंने राष्ट्रवाद का बिगुल बजाया। इस खंड में यह ध्वनि स्पष्ट सुनाई देगी। उनका ऑर्गनाइज़र में 'पॉलिटिकल डायरी' स्तंभ नियमित रहा, तत्कालीन विषयों पर उनकी सिद्धांतपरक टिप्पणियाँ प्राप्त होती रहीं। देशभक्ति, राष्ट्रीय अखंडता एवं एकात्मता का स्वर उन्होंने मद्धिम नहीं पड़ने दिया, देश के नेतृत्व को उन्होंने हर विषय पर घेरा तथा बहुत से विषयों में उन्हें मजबूर भी किया। चीनी आक्रमण एवं तिब्बत के अपहरण के ख़िलाफ़ वे निरंतर मुखर रहे।

विचारधारा को तराशने का कार्य प्रति वर्ष दीनदयालजी आगे बढ़ाते रहे हैं। 'एकात्म मानववाद' तक पहुँचने की यात्रा का विचारधारा संदर्भित प्रथम आलेख इस वर्ष प्रकाशित हुआ 'समाजवाद, लोकतंत्र एवं मानवतावाद।' 1964 में इसका परिपाक हो जाएगा। संघ शिक्षा वर्गों के लखनऊ व दिल्ली के बौद्धिक वर्ग इस वर्ष प्राप्त हो गए, यह एक महत्त्वपूर्ण वार्षिक ख़ुराक है। संघ शिक्षा वर्गों के पाँच बौद्धिक वर्ग प्राप्त हुए। राजनीति के घटनाचक्रों में मुक्त वैचारिक अधिष्ठान को परिपुष्ट करने वाला उनका विवेचन हमें इन बौद्धिक वर्गों में उपलब्ध होता है। आलेखीय दृष्टि से भी यह खंड संपन्न है। डॉ.

श्यामाप्रसाद मुखर्जी के विषय में आलेख लिखा। तत्कालीन महत्त्वपूर्ण नेताओं ने तब जो कुछ मुखर्जी के विषय में लिखा, वह भी परिशिष्ट में सँजोया गया है।

सामाजिक विषयों एवं तात्कालिक घटनाओं पर तो वे निरंतर लिखते एवं बोलते ही थे। वे आलेख और वक्तव्य इस खंड में हैं। जनसंघ की महत्त्वपूर्ण बैठकें व सम्मेलन तथा विविध घटनाएँ उनके विचारों की अभिपूरक हैं, परिशिष्ट के रूप में उन्हें इस खंड में स्थान दिया गया है, वे बानगी हैं, संपूर्ण नहीं।

आर्थिक विषयों पर लिखना भी दीनदयालजी का निरंतर उपक्रम है। वे पंचवर्षीय योजनाओं की प्रतिवर्ष समीक्षा करते हैं। तृतीय पंचवर्षीय योजना का इस वर्ष उन्होंने वृहद् परीक्षण किया है। मूल्यों की स्थिरता, विदेशी धन की अर्थ शास्त्रीयता आदि उनके विवेचन के विषय रहे।

प्रत्येक खंड की भूमिका तो पृथक् लिखी ही जाएगी, इस खंड की भूमिका के लिए रा.स्व. संघ के सरकार्यवाह मा. सुरेश (भैयाजी) जोशी को निवेदन किया तथा 'वह काल' के लिए श्री बलबीर पुंज को। भूमिका व वह काल यथासमय प्राप्त हुए। भैयाजी व बलबीरजी की कृपा रही।

शुभम्!

—डॉ. महेश चंद्र शर्मा

भूमिका

पंडित दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय का यह नवम खंड है। काल की दृष्टि से इस खंड का काल सन् 1961 भी भारत के राजनैतिक पटल पर कई कारणों से महत्त्वपूर्ण रहा। स्वतंत्रता प्राप्त करके हमारा एक तप पूर्ण हो चुका था, देशवासियों के हाथों में निर्णय के अधिकार तथा नीतियाँ बनाने के स्वातंत्र्य के साथ ही क्रियान्वयन की व्यवस्था-रचना सुनिश्चित करने का अवसर भी प्राप्त हुआ था। समाजमन, परंपरा, जीवनशैली तथा मूलगामी चिंतन के आधार पर काल-सुसंगत व्यवस्थाएँ निर्माण कर विश्व के सम्मुख एक आदर्श व्यवस्था प्रस्तुत करने का स्वर्णिम अवसर सत्ता संचालन करने वालों को लगभग एक हज़ार वर्षों के बाद प्राप्त हुआ था। इस दृष्टि से उस कालखंड की समीक्षा करते हुए भविष्य की दिशा निर्धारित की जा सकती थी। दुर्भाग्य से कहना पड़ता है कि इस दिशा में विभिन्न राजनीतिक दलों ने न तो प्रामाणिकता से चिंतन किया और न किसी ने उसका महत्त्व समझा। गंभीर चिंतन आवश्यक था। आज 2016 की परिस्थिति देखते हुए इस प्रकार की समीक्षा की आवश्यकता प्रखरता से ध्यान में आती है। अभी भी अवसर है और प्रयास होंगे तो भारत विश्व कल्याण के संदर्भ में अवश्य ही एक मार्गदर्शक बनकर समग्र चिंतनाधारित शाश्वत विकास का श्रेष्ठ नमूना प्रस्तुत कर सकता है। इस श्रेष्ठ भूमिका का निर्वहन करने वाला भारत बनाने की दिशा में जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रामाणिक प्रयासों की आवश्यकता है। दीनदयालजी के विचारों से॰प्रेरणा प्राप्त कर रहे सभी अनुयायियों को इसकी ज़िम्मेदारी लेनी होगी।

दीनदयालजी का एकात्म मानवदर्शन इस देश के मनीषियों द्वारा प्रतिपादित जीवन दृष्टि की उस प्राकृतिकता एवं वैज्ञानिकता को अधोरेखित करता है, जो शाश्वत है, चिरंतन है, सार्वकालिक और वैश्विक है। अत: एकात्म मानवदर्शन की प्रासंगिकता चर्चा का विषय नहीं, अपितु सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं

के निर्माण पर क्रियान्वयन की आवश्यकता भी है।

व्यवस्था निर्माण के संदर्भ में दीनदयालजी के विचार काल सुसंगत हैं और व्यावहारिक भी। उनके द्वारा प्रस्तुत दर्शन किसी प्रकार से भी राजनीतिक चिंतन नहीं है। अत: उसे किसी एक राजनीतिक दल का चिंतन मानकर उसकी उपेक्षाएँ समझ के परे हैं। इस चिंतन की वैज्ञानिकता तब सिद्ध होती है, जब अन्यान्य चिंतनों का खोखलापन सामने आता है और उन पर आधारित अनेकानेक व्यवस्थाएँ विफल होती दिखाई देती हैं।

पूँजीवादी, समाजवादी अथवा साम्यवादी चिंतन के प्रकाश में निर्मित व्यवस्थाओं पर कई प्रश्नचिह्न लगते रहे हैं। परिणामों के रूप में विभिन्न प्रकार के संकटों के घेरे में मानव-समूह ही नहीं वरन् समग्र जीवजगत् तथा वनस्पतिजगत् भी आ गया है। प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की चाह ही आज की वैश्विक समस्याओं का मूल है।

संघर्ष नहीं, समन्वय की दृष्टि ऐकांतिक नहीं, समग्रता से चिंतन बहुजन नहीं, सार्वजनिक विकास पर आधारित व्यवस्थाएँ और उनका संचालन एक केंद्रित नहीं बहुकेंद्रित अभियान—इस प्रकार का चिंतन पंडित दीनदयालजी ने प्रस्तुत किया है।

पंडितजी द्वारा प्रस्तुत चिंतन में मनुष्य एक चेतनायुक्त इकाई है और वह केवल कर्मेंद्रियों का समुच्चय नहीं अपितु ज्ञानेंद्रियों से सन्नद्ध होने के कारण पशु से श्रेष्ठ है। अत: भौतिक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य के संदर्भ में विचार होना चाहिए। इसी में मानव कल्याण के साथ ही विश्व कल्याण का मार्ग प्रशस्त होना संभव है।

प्रस्तुत खंड में संकलित विचार सन् 1961 के आसपास पंडितजी द्वारा प्रस्तुत विचारों का संकलन है। लखनऊ तथा दिल्ली में संघ शिक्षा वर्गों के बौद्धिक वर्ग अथवा पाञ्चजन्य तथा ऑर्गनाइज़र में प्रकाशित लेख भी सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र हेतु मार्गदर्शक ही हैं। संकलन की एक विशेषता ध्यान में आती है, वह यह कि 'क्या हो रहा है' इसकी चर्चा अधिक न करते हुए 'क्या तथा कैसे होना चाहिए' इस ओर दिशादर्शन देने वाली सामग्री इसमें उपलब्ध है।

इस खंड में विभिन्न विचारधाराओं की तुलनात्मक प्रस्तुति करते हुए भारत का मूलभूत चिंतन भी उपलब्ध है। कुल 67 अध्याय हैं। स्वाभाविक है कि उनमें भारत के आसपास के पड़ोसी देशों के कार्यकलापों और उन देशों में घटित घटनाओं के संदर्भ में भी दीनदयालजी ने विचार प्रस्तुत किए हैं।

चिंतन के साथ ही सीमा-सुरक्षा, अर्थनीति, विदेशी शक्तियों के प्रभाव आदि के तत्कालीन संदर्भ भी हमें इस खंड में उपलब्ध हो रहे हैं।

इसके 67 अध्यायों में से 18 अध्याय 'पोलिटिकल डायरी' शीर्षक के अंतर्गत प्रस्तुत हैं। स्वाभाविक रूप से इन लेखों में पंडितजी तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति की समीक्षा कर रहे हैं।

जनसंघ के कार्यकर्ताओं के समक्ष उद्‌बोधन, वार्तालाप, प्रश्नोत्तरी इत्यादि से संबंधित 12–13 अध्याय हैं। संकुचित, भेदमूलक माँगें और भारतीयता विरोधी विचारधारा के दूरगामी परिणामों की ओर संकेत करनेवाले अध्याय भी इस खंड में हैं। यह खंड देखते हुए यह लगता है कि इसकी सामग्री अध्ययन करनेवाले कार्यकर्ता, राजनीतिक समीक्षक तथा जनसामान्य हेतु उपयुक्त जानकारी से परिपूर्ण है।

डॉ. महेश चंद्र शर्मा का यह प्रयास उनकी साधना ही है। महेश चंद्रजी केवल अभ्यासक, संकलक एवं मूक साक्षी ही नहीं, अंतर्बाह्य विचारों को आत्मसात् करते हुए विभिन्न रचनाओं का निर्माण करने में हो रहे प्रयासों के एक सार्थक अंग हैं।

मैं उन्हें साधुवाद दूँ, इसकी आवश्यकता नहीं, परंतु उनके द्वारा संपन्न हो रहे इस ज्ञान-यज्ञ में उनके योगदान को नमन करता हूँ। पंडित दीनदयालजी की जन्मशताब्दी वर्ष में और 'एकात्म मानवदर्शन' की प्रस्तुति के 50वें वर्ष के अवसर पर देश के सम्मुख श्रेष्ठ चिंतन समग्रता से उपलब्ध हो रहा है, इसे मैं केवल योगायोग नहीं मानता, यह ईश्वरीय शुभ संकेत है।

सार्थकता इसमें है कि पंडितजी द्वारा प्रस्तुत चिंतन को व्यावहारिक रूप में क्रियान्वित करने की प्रेरणा सभी को प्राप्त हो, देश-समाज लाभान्वित हों और देश गर्व का अनुभव करे।

—सुरेश (भैयाजी) जोशी

वह काल
(1961)

भारत की विकास-यात्रा

सन् 1961 को कुछ हद तक भारत की विकास-यात्रा में मील का पत्थर भी कहा जा सकता है। भारत को स्वाधीन हुए 14 वर्ष बीत चुके थे और देश में गणतंत्र स्थापित हुए एक दशक से अधिक समय हो चुका था। पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में सरकार ने देश को समाजवादी अर्थव्यवस्था के मार्ग पर चलाने का निर्णय किया था। नेहरूजी और कांग्रेस लोकप्रियता के शिखर पर पहुँच चुके थे। 1957 के चुनाव; दूसरी लोकसभा में कांग्रेस ने 47-78 प्रतिशत मत के साथ 371 सीटों पर जीत दर्ज की। परंतु इन सबके बावजूद आनेवाला बुरा समय भी दस्तक दे रहा था। अक्तूबर 1962 में चीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया, जिसमें भारत को मुँह की खानी पड़ी। इसके साथ ही पंडित नेहरू का तिलिस्म देश के जनमानस पर टूटा और स्वयं नेहरूजी को बहुत बड़ा मानसिक धक्का लगाए, जिससे वह कभी उबर नहीं सके। अंततोगत्वा 27 मई, 1964 को पक्षाघात के बाद नेहरूजी का देहांत हो गया और 1967 के आम चुनाव में कांग्रेस को कई राज्यों में करारी पराजय का सामना करना पड़ा।

इतिहास में यदि 1961 को सकारात्मक रूप से स्मरण किया जाएगा तो वह इस कारण कि इस वर्ष हमारा देश पूर्ण रूप से स्वाधीन हो गया था। 19 दिसंबर, 1961 का दिन ठीक उसी तरह याद किया जाएगा, जैसे 15 अगस्त, 1947; भारत को ब्रिटिश

हुकूमत से आज़ादी मिली और 26 जनवरी, 1950 को भारत ने स्वयं को गणराज्य घोषित किया और साल 13 अक्तूबर 1954; महर्षि अरविंद की कर्मभूमि पांडिचेरी को फ्रांस के शासन से मुक्ति मिली, को स्मरण किया जाता है। सन् 1510 में पुर्तगाली अलफांसो द अल्बुबर्क ने आक्रमण कर गोवा पर अधिकार जमाया था। 18 जून, 1946 को गोवा की आज़ादी के लिए पहले सत्याग्रह आंदोलन की शुरुआत हुई। इस दौर में कई संगठन गोवा की मुक्ति के लिए एकत्र होने लगे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भारतीय जनसंघ की भूमिका इस आंदोलन में सबसे अग्रिम और निर्णायक रही। संघ के स्वयंसेवक सन् 1955 से गोवा मुक्ति संग्राम में प्रभावी रूप से शामिल हो चुके थे। तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने शुरू में गोवा में सशस्त्र हस्तक्षेप करने से इनकार कर दिया। भारतीय जनसंघ के वरिष्ठ नेता जगन्नाथ राव जोशी के नेतृत्व में हज़ारों पार्टी और संघ के कार्यकर्ताओं ने 23 जून, 1955 को गोवा पहुँचकर आंदोलन शुरू कर दिया, जिसके परिणामस्वरुप जोशीजी सहित संघ के कई कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया, दो कार्यकर्ताओं का बलिदान हो गया। जगन्नाथ राव जोशीजी से जब तत्कालीन पुर्तगाली न्यायाधीश ने बिना किसी स्वीकृति के गोवा आने की वजह पूछी तो उन्होंने शेर की तरह दहाड़ते हुए कहा कि "मैं गोवा यह पूछने आया हूँ कि आप पुर्तगाली यहाँ क्यों आए हैं, गोवा मेरी मातृभूमि का अंग है और यह मेरा अधिकार है कि मैं अपने देश के किसी भी कोने में जा सकता हूँ।" अदालत द्वारा जगन्नाथ जोशी समेत संघ के कई कार्यकर्ताओं को दस वर्ष की सज़ा भी सुनाई गई। हालात बिगड़ने पर अंततः भारत सरकार को सैन्य कार्रवाई करनी पड़ी और तब जाकर 19 दिसंबर 1961 में गोवा पुर्तगाली शासन से पूर्णरूप से स्वाधीन हुआ और उसका विलय स्वतंत्र भारत में किया गया।

1961 में लोकसभा की नई दिल्ली सीट पर हुए उप-चुनाव में भारतीय जनसंघ के वरिष्ठ नेता बलराज मधोक ने जीत का परचम लहराया। पंडित दीनदयाल उपाध्याय भारतीय जनसंघ का कुशल नेतृत्व कर रहे थे, तब उनकी अगुवाई में अगली पीढ़ी के नेता जैसे अटल बिहारी वाजपेयी, सुंदर सिंह भंडारी, नानाजी देशमुख, जगन्नाथ राव जोशी और भाई महावीर बड़ी निपुणता के साथ देश में अपनी अलग पहचान बनाना प्रारंभ कर चुके थे। 1962 में जनसंघ ने तीसरे तथा 1967 के चौथे लोकसभा तथा विधानसभा चुनावों में प्राप्त मतदान प्रतिशत एवं सदनों में संख्या के हिसाब से जनसंघ कांग्रेस के बाद दूसरे दल के रूप में उभरा और इस काल में यह पार्टी की सबसे उत्कृष्ट तालिका थी।

वर्ष 1961 में स्वतंत्रता सेनानी और देश के चौथे गृहमंत्री 'भारत रत्न' गोविंद बल्लभ पंत का स्वर्गवास हो गया। वह उत्तर प्रदेश के पहले मुख्यमंत्री थे, जिन्होंने 26

जनवरी, 1950 से लेकर 27 दिसंबर, 1954 तक उत्तर प्रदेश का बतौर मुख्यमंत्री कार्यभार सँभाला। तत्पश्चात् तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में साल 1955 से लेकर 1961 तक गोविंद बल्लभ पंत देश के गृह मंत्री पद पर आसीन रहे। गृह मंत्री रहते हुए उन्हें देश के सर्वोच्च नागरिक सम्मान 'भारत रत्न' से भी सम्मानित किया गया। गृहमंत्री के रूप में उनका प्रमुख योगदान भारत को भाषा के अनुसार राज्यों में सृजन करना तथा हिंदी को भारत की राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करना रहा। गोविंद बल्लभ पंत के निधन के पश्चात् देश के गृह मंत्रालय की ज़िम्मेदारी लाल बहादुर शास्त्री ने सँभाली। उन्होंने 4 अप्रैल, 1961 को देश के पाँचवें गृहमंत्री के रूप में शपथ ली। बाद में पंडित नेहरू के देहांत के पश्चात् लाल बहादुर शास्त्री ने 9 जून, 1964 को देश के दूसरे प्रधानमंत्री के रूप में शपथ ली। परंतु ताशकंद में 11 जनवरी, 1966 में उनका रहस्यमय परिस्थितियों में देहांत हो गया। शास्त्रीजी की मृत्यु को लेकर आज भी तरह-तरह के क़यास लगाए जाते हैं।

तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में समाजवादी विचारधारा के अनुरूप देश का विकास किया जा रहा था। स्वतंत्रता से पूर्व ब्रिटिश शासन की नीतियों और औद्योगिक क्रांति के कारण पारंपरिक हस्तशिल्प को काफी नुक़सान पहुँचा। ब्रिटिश सरकार की भारत से कच्चे माल के निर्यात और देश में ब्रिटिश उत्पादों के आयात को प्रोत्साहित करने की नीति ने भी भारत के पारंपरिक औद्योगिक ढाँचे की कमर तोड़ दी। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत औद्योगिक उन्नति का नया अध्याय प्रारंभ हुआ। देश की सर्वांगीण उन्नति के लिए सन् 1951 को सरकार ने पंचवर्षीय योजनाएँ बनाईं, जिसमें 101 करोड़ रुपए की राशि उद्योगों में विनियोजित की तथा रासायनिक खाद, इंजन, रेल के डिब्बे, पेनीसिलिन तथा न्यूजप्रिंट के कारख़ानों की स्थापना की। देश के उद्योगपतियों ने भी, इस काल में पूँजी लगाकर अनेक नए कारख़ाने खोले तथा पुराने कारख़ानों की उत्पादन शक्ति बढ़ाई। 1956 में बनी द्वितीय पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य देश की औद्योगिक प्रगति को तीव्रतर करना था और वर्ष 1961 तक सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योग स्थापित करने के अभियान को और गति मिल चुकी थी। इसी वर्ष, 1 जनवरी को फर्टिलाइज़र कॉरपोरेशन ऑफ इंडिया; एफ.सी.आई. का जन्म हुआ और इसी माह की 28 तारीख़ को हिंदुस्तान मशीन टूल्स लिमिटेड; एच.एम.टी. के घड़ी बनाने के पहले कारख़ाने का बंगलौर में शिलान्यास किया गया। 5 अप्रैल को इंडियन ड्रग्स एंड फार्मास्युटिकल्स का पंजीकरण किया गया, जिसे चार महत्त्वपूर्ण परियोजनाओं को लागू करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। जिसमें ऋषिकेश में एंटीबायोटिक दवा, हैदराबाद में सिंथैटिक दवा, केरल में फोटोकैमिकल्स और मद्रास में शल्य चिकित्सा उपकरण बनाने की परियोजनाएँ शामिल थीं।

24 जून, 1961 को भारत में निर्मित पहले सुपरसॉनिक लड़ाकू विमान ने बंगलौर में उड़ान भरी। नाभिक विमान उद्योग की स्थापना बंगलौर में हिंदुस्तान एयरक्राफ्ट लिमिटेड द्वारा की गई थी, जिसे साल 1945 में भारत सरकार ने अपने अधीन कर लिया। इसके पश्चात् वर्ष 1951 को स्वतंत्र भारत में पहला विमान 'हिंदुस्तान ट्रेनर-2' तैयार किया गया, जिसने इसी वर्ष चौथे स्वतंत्रता दिवस से दो दिन पूर्व 13 अगस्त को पहली बार उड़ान भरी। 4 मार्च, 1961 को भारत के पहले विमान वाहक आईएनएस विक्रांत को आयरलैंड के बैलफास्ट में प्रदर्शित किया गया।

2 अक्तूबर, 1961 में गांधी जयंती के अवसर पर भारतीय नौवहन निगम; शिपिंग कॉरपोरेशन ऑफ इंडिया की स्थापना की गई। एक नवंबर को देश में पहले यात्री विमान एवीआरओ एचएस 748 ने उड़ान भरी। इस विमान को कानपुर के विमान निर्माण विभाग द्वारा निर्मित किया गया था। बाद में इस हवाई जहाज़ को 27 जून, 1967 में इंडियन एयरलाइंस को हस्तांतरित कर दिया गया। इसी वर्ष 24 फरवरी को मद्रास सरकार ने एक प्रस्ताव पारित कर राज्य का नाम बदलकर तमिलनाडु रख दिया। जिसे लगभग साढ़े सात साल बाद 22 नवंबर, 1968 को लोकसभा द्वारा स्वीकृति दी गई।

वर्ष 1961 में देश की तीसरी पंचवर्षीय योजना लागू की गई। जिसमें कृषि और गेहूँ के उत्पादन में सुधार के साथ-साथ परिवार नियोजन पर भी ज़ोर दिया गया। परंतु 1962 में भारत-चीन युद्ध ने देश की अर्थव्यवस्था की कमज़ोरियों को उजागर करते हुए रक्षा उद्योग की ओर सभी का ध्यान स्थानांतरित कर दिया। इससे पूर्व वर्ष 1952 में विश्व के पहले औपचारिक परिवार नियोजन कार्यक्रम की शुरुआत भारत में की गई थी। बाद में वर्ष 1956 में जनसंख्या पर नियंत्रण के लिए केंद्रीय परिवार नियोजन बोर्ड की स्थापना की गई।

यह समय वह भी था, जब देश में सामाजिक रूढ़ियाँ टूट रही थीं। महिलाओं की समाज में भूमिका को लेकर पुनर्विचार किया जा रहा था। परतंत्रता से पूर्व प्राचीन भारत में महिलाओं की स्थिति बहुत सम्मानजनक थी। परंतु ग़ुलामी के काल में विदेशी शक्तियों के प्रभाव से महिलाओं की स्थिति बिगड़ती चली गई। इसी नारी शक्ति के उत्थान और सम्मान के लिए वर्ष 1961 में कई क्रांतिकारी और महत्त्वपूर्ण क़दम उठाए गए। भारत सरकार ने गर्भवती महिलाओं के लिए देश में मातृत्व लाभ अधिनियम को लागू किया, जिसमें साल 1986 में संशोधन की आवश्यकता महसूस हुई। राजीव गांधी के शासनकाल में कुँवारी माताओं को भी इस अधिनियम में सम्मिलित किया गया, ताकि गर्भावस्था के पश्चात् इन्हें भी अन्य गर्भवती महिलाओं के समान अधिकार प्राप्त हो सकें।

भारत में दहेज प्रथा के विष को ख़त्म करने के लिए साल 1961 में दहेज निषेध

अधिनियम को संसद् द्वारा पारित किया गया। यह अधिनियम सन् 1914 के उस आंदोलन की परिणति थी, जिसमें स्नेहलता नामक एक बंगाली युवती ने दहेज के कारण स्वयं को आग के हवाले कर अपनी जीवनलीला समाप्त कर ली थी। युवती ने यह क़दम उस समय उठाया, जब उसे शादी के पश्चात् ज्ञात हुआ कि उसके पिता ने विवाह के ख़र्च और वर पक्ष की माँगों को पूरा करने के लिए अपने घर को गिरवी रख दिया है। दहेज के कारण महिला द्वारा आत्महत्या करने की इस घटना ने भारतीय जनमानस को हतप्रभ कर दिया और यहीं से दहेज प्रथा के विरुद्ध बड़े आंदोलन की शुरुआत हुई, जो बाद में साल 1961 में जाकर सफल हुआ। यद्यपि वर्ष 1961 में पारित यह बिल दहेज रूपी सामाजिक कुरीति से लड़ने में पूर्ण रूप से कारगर साबित नहीं हुआ। इसलिए साल 1985 में दहेज निषेध अधिनियम में सरकार द्वारा संशोधन कर इसे और कड़ा एवं प्रभावी बनाया गया।

कुल मिलाकर सन् 1961 वह साल था, जहाँ स्वाधीनता प्राप्ति के बाद देश ने जो आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में राह पकड़ी, वह अपने निश्‍चित पड़ाव तक पहुँच चुकी थी। जबकि इस व्यवस्था की कमज़ोरियाँ और अंतर्विरोध भी प्रत्यक्ष रूप से उभरकर सामने आने लगे थे। समाजवादी नीतियों की तार्किक परिणति 30 वर्ष पश्चात् साल 1991 में हुई, जब भारत लगभग दिवालिया हो चुका था और देश को ख़र्चा चलाने के लिए अपना स्वर्ण भंडार अंतरराष्ट्रीय बाज़ार में गिरवी रखना पड़ा था। कांग्रेस का भीतर से क्षय प्रारंभ हो चुका था और नवंबर 1969 में पार्टी का विभाजन हो गया तथा कांग्रेस अंततोगत्वा एक वंश की संपत्ति बनकर रह गई। कश्मीर को लेकर नेहरूजी की ग़लतियों ने धरती के स्वर्ग को अब तक विवादास्पद बना रखा है। चीन की साम्राज्यवादी मानसिकता को भी नेहरूजी ने समझने में भूल की थी, उसके कारण ही 20 अक्तूबर, 1962 भारत को चीन के हाथों शर्मनाक पराजय का मुँह देखना पड़ा और आज भी हमारी हज़ारों वर्ग किलोमीटर भूमि चीन के क़ब्ज़े में है।

—बलबीर पुंज

वाङ्मय संरचना

'एकात्म मानवदर्शन' के प्रणेता पं. दीनदयाल उपाध्याय के आलेखों, भाषणों, बौद्धिक वर्गों, वक्तव्यों एवं विविध संवादों ने भारतीयता के अधिष्ठान पर तात्कालिक समस्याओं का विवेचन, विश्लेषण एवं समाधान प्रस्तुत किया। इन सबसे भी कालजयी साहित्य का निर्माण हुआ। उनके जाने के पाँच दशकों बाद उनका संपूर्ण वाङ्मय प्रकाशित हुआ है। विलंब से ही सही, लेकिन उनके शताब्दी वर्ष पर उसका प्रकाशन एक ऐतिहासिक अवसर है। 15 खंडों में संपादित हुए उनके संपूर्ण साहित्य का यथासंभव संकलन हुआ है। आइए, हम उनका परिचय प्राप्त करें।

खंड एक : वर्ष 1940 से 1950 की सामग्री इस खंड में है। संघ प्रचारक के रूप में एक दशक में उनके द्वारा सृजित साहित्य का इसमें संकलन है। यह 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' के द्वितीय सरसंघचालक श्री मा.स. गोलवलकर परमपूजनीय श्रीगुरुजी को समर्पित है। श्रीगुरुजी का परिचय संघ के वरिष्ठ प्रचारक श्री रंगाहरि ने लिखा है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के ही वर्तमान सरसंघचालक श्री मोहन भागवत इस खंड के भूमिका-लेखक हैं। सभी खंडों में उस काल के संदर्भ में एक अध्याय है 'वह काल'। इस खंड में इसका लेखन वरिष्ठ पत्रकार पद्मश्री श्री रामबहादुर राय ने किया है।

खंड दो : यह दो वर्षों का है—1951 तथा 1952। यह 'भारतीय जनसंघ' की स्थापना, प्रथम आम चुनाव तथा पंचवर्षीय योजना का काल है। यह डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी को समर्पित है। 'डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी शोध अधिष्ठान' के निदेशक श्री अनिर्बान गांगुली ने डॉ. मुखर्जी का परिचय लिखा है। इस खंड की भूमिका विख्यात इतिहासवेत्ता श्री देवेंद्र स्वरूप ने लिखी है। 'वह काल' अध्याय का आलेखन पद्मश्री श्री जवाहरलाल कौल ने किया है।

खंड तीन : वर्ष 1954-1955 का है। यह 'गोवा मुक्ति-संग्राम' का काल है। यह गोवा मुक्ति के लिए सत्याग्रह का नेतृत्व करनेवाले श्री जगन्नाथ राव जोशी को समर्पित है; उनका परिचय भाजपा के पूर्व राष्ट्रीय उपाध्यक्ष श्री बलवीर पुंज ने लिखा है तथा इसकी भूमिका के लेखक जनसंघ के जन्मकाल से कार्यकर्ता रहे वरिष्ठ नेता डॉ. विजय कुमार मल्होत्रा हैं। 'वह काल' के लेखक हैं—राजा राम मोहनराय पुस्तकालय प्रतिष्ठान के अध्यक्ष श्री ब्रजकिशोर शर्मा।

खंड चार : वर्ष 1956-1957 का है। यह संघात्मक संविधान के अनुसार राज्य पुनर्गठन का काल है। यह 'भारतीय जनसंघ' के अध्यक्ष एवं जम्मू-कश्मीर में 'प्रजापरिषद्' के संस्थापक पं. प्रेमनाथ डोगरा को समर्पित है। उनका परिचय जम्मू-कश्मीर के उपमुख्यमंत्री श्री निर्मल सिंह ने लिखा है, भूमिका श्री रंगाहरि ने। 'वह काल' का आलेखन माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति श्री अच्युतानंद मिश्र ने किया है।

खंड पाँच : एक ही वर्ष सन् 1958 के दो खंड हैं पाँच व छह। दीनदयालजी के आर्थिक विचारों के परिपक्व होने का यह काल है। महान् गणितज्ञ एवं भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष रहे आचार्य देवा प्रसाद घोष को खंड पाँच समर्पित है। ऑर्गनाइजर के संपादक श्री प्रफुल्ल केतकर ने उनका परिचय लिखा है। हिमाचल प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री श्री शांता कुमार ने भूमिका-आलेखन किया है। प्रसिद्ध विचारक श्री के.एन. गोविंदाचार्य ने 'वह काल' लिखा है।

खंड छह : इसमें दीनदयालजी की पुस्तक 'टू प्लांस : प्रोमिसेज : परफोर्मेंस : परस्पेक्टिव' संयोजित है तथा डॉ. भाई महावीर के द्वारा लिखी पुस्तक की समीक्षा का समाहन किया गया है। रा.स्व. संघ के उत्तर क्षेत्र के संघचालक एवं अर्थवेत्ता डॉ. बजरंगलाल गुप्त ने भूमिका लिखी है। इस खंड में 'वह काल' अध्याय नहीं है। यह खंड महान् अर्थचिंतक श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी को समर्पित किया गया है। उनका परिचय अ.भा. विद्यार्थी परिषद् के पूर्व अध्यक्ष श्री राजकुमार भाटिया ने लिखा है।

खंड सात : वर्ष 1959 का है। चीन द्वारा तिब्बत का अधिग्रहण कर भारत की सीमा का अतिक्रमण किया गया। यह दीनदयालजी को संघ प्रचारक बनानेवाले रा.स्व. संघ के पूर्व सह-सरकार्यवाह श्री भाऊराव देवरस को समर्पित है। उनका परिचय श्री अच्युतानंद मिश्र ने लिखा है। भूमिका-लेखन का कार्य 'विश्व हिंदू परिषद्' के राष्ट्रीय महामंत्री श्री चंपतराय ने किया है। वरिष्ठ पत्रकार डॉ. नंद किशोर त्रिखा ने 'वह काल' का आलेखन किया है।

खंड आठ : वर्ष 1960 का है। 'हमार ध्येय दर्शन' लेखमाला एवं 'जनसंघ ही क्यों' आलेख इसमें शामिल हैं। उत्तर प्रदेश की पहली महिला उपाध्यक्ष एवं जम्मू-कश्मीर सत्याग्रही श्रीमती हीराबाई अय्यर को यह खंड समर्पित है। श्री ब्रजकिशोर शर्मा ने उनका परिचय लिखा है। रा.स्व. संघ के पूर्व सह-सरकार्यवाह श्री मदनदास इसके भूमिका-लेखक तथा 'दीनदयाल शोध संस्थान' के प्रधान सचिव श्री अतुल जैन 'वह काल' के लेखक हैं।

खंड नौ : वर्ष 1961 का है। लोकमत परिष्कार का आलेखन, दलों की आचार संहिता के मुद्दे इसमें प्रमुख हैं। दीनदयालजी के साथी रहे तथा उनके बाद महामंत्री बने श्री सुंदर सिंह भंडारी को यह खंड समर्पित है। जयपुर के श्री इंदुशेखर 'तत्पुरुष' ने उनका परिचय लिखा है। रा.स्व. संघ के वर्तमान सरकार्यवाह श्री सुरेश (भय्याजी) जोशी ने इसकी भूमिका लिखी है तथा 'वह काल' का आलेखन श्री बलबीर पुंज ने किया है।

खंड दस : वर्ष 1962 का है। भारत चीन के आक्रमण से आक्रांत हुआ था। यह खंड लब्धप्रतिष्ठ राजनेता डॉ. संपूर्णानंद को समर्पित है, उन्होंने दीनदयालजी की 'पॉलिटिकल डायरी' की भूमिका लिखी थी। इनका परिचय 'पाञ्चजन्य' के संपादक श्री हितेश शंकर ने लिखा है। भूमिका आलेखन का कार्य सह-सरकार्यवाह डॉ. कृष्ण गोपाल ने किया है। लब्धप्रतिष्ठ भारतविद् श्री बनवारी ने 'वह काल' लिखा है।

खंड ग्यारह : वर्ष 1963-64 का है। यह वही काल है, जब दीनदयालजी ने 'एकात्म मानववाद' का व्याख्यान किया था। यह खंड महान् भाषा एवं भारतविद् आचार्य रघुवीर को समर्पित है। उनका परिचय दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी प्राध्यापक डॉ. राजीव रंजन गिरि ने लिखा है। भारतमाता मंदिर के संस्थापक स्वामी सत्यमित्रानंद गिरि के विद्वान् शिष्य गोविंद गिरि महाराज ने इसकी भूमिका लिखी है। भाजपा के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष एवं राज्यसभा सांसद डॉ. विनय सहस्रबुद्धे ने 'वह काल' का आलेखन किया है।

खंड बारह : वर्ष 1965 का है। कच्छ समझौता, पाकिस्तान से युद्ध, भारत की विजय एवं ताशकंद समझौते का यह काल है। संघ के तत्कालीन सरकार्यवाह श्री प्रभाकर बलवंत (भैयाजी) दाणी को यह खंड समर्पित है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के दिल्ली प्रांत सहसंघचालक अधिवक्ता श्री आलोक कुमार ने इनका परिचय लिखा है। बिहार राज्य के राज्यपाल श्री रामनाथ कोविंद ने इसकी भूमिका तथा प्रतिष्ठित साहित्यकार डॉ. सीतेश आलोक ने 'वह काल' का आलेखन किया है।

खंड तेरह : वर्ष 1966 का है। स्वातंत्र्य वीर सावरकर का निधन, गोहत्या के

ख़िलाफ आंदोलन। दीनदयालजी के सहयोगी तथा ग्रामोदय प्रकल्पों के नियोजक दीनदयाल शोध संस्थान के संस्थापक श्री नानाजी देशमुख को यह खंड समर्पित है। उनका परिचय श्री देवेंद्र स्वरूप ने लिखा है। इस खंड की भूमिका उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री राम नाईक ने लिखी है। वरिष्ठ पत्रकार श्री राहुल देव 'वह काल' के लेखक हैं।

खंड चौदह : वर्ष 1967-68 का है। भारतीय राजनीति में एकदलीय एकाधिकार टूटने का यह काल है। दीनदयालजी अध्यक्ष चुने गए तथा जघन्य हत्या के शिकार हुए। इस खंड की भूमिका गुजरात के राज्यपाल प्रो. ओमप्रकाश कोहली ने लिखी है। 'वह काल' का आलेखन श्री जगदीश उपासने ने किया है। यह खंड दक्षिण भारत में 'जनसंघ' के कार्य को प्रारंभ करनेवाले तथा 'भारतीय जनता पार्टी' के राष्ट्रीय अध्यक्ष रहे श्री जना कृष्णमूर्ति को समर्पित है। उनका परिचय श्री ला. गणेशन ने लिखा है।

खंड पंद्रह : यह अंतिम खंड है। जिसकी तिथि ज्ञात नहीं, ऐसा साहित्य, इसमें संकलित है। महान् गांधीवादी एवं भारतविद् श्री धर्मपाल को यह खंड समर्पित है। डॉ. जितेंद्र कुमार बजाज ने उनका परिचय लिखा है। संघ के वरिष्ठ कार्यकर्ता तथा प्रख्यात पत्रकार श्री मा.गो. वैद्य ने इसकी भूमिका लिखी है। इस खंड में 'वह काल' नहीं है। दीनदयालजी संदर्भित 'अवसान' अध्याय का इसमें संयोजन किया गया है, जिसका आलेखन श्री रामबहादुर राय ने किया है।

—डॉ. महेश चंद्र शर्मा

WEDN AY 11th JANUARY 1956

अनुक्रमणिका

परिशिष्ट—

1

कुछ प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न : क्या आप जनसंघ के कार्य की प्रगति से संतुष्ट हैं?

उत्तर : मैं कभी भी संतुष्ट नहीं होऊँगा। स्वाभाविक रूप से हम लगातार अधिक और बेहतर काम करना चाहते हैं।

प्रश्न : क्या आपको लगता है कि कहीं और के बजाय जनसंघ का काम करना अधिक संतोषजनक है?

उत्तर : जहाँ भी हमारे पास अधिक और अच्छे कार्यकर्ता हैं, वहाँ-वहाँ कार्य की अधिक प्रशंसा होती है। अच्छा कार्य चार कारकों पर निर्भर करता है—(1) संगठनात्मक कार्य, (2) प्रचार कार्य, (3) सार्वजनिक विषयों को उठाना और (4) चुनावी कार्य। जहाँ भी ये चार कारक अच्छी तरह संतुलित और उचित ढंग से एकजुट रहे हैं, वहाँ परिणाम संतोषजनक रहे हैं। मुझे लगता है कि हमारे पास उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र में यह संतुलन सर्वाधिक है, और कुछ कम हद तक दिल्ली में।

प्रश्न : क्या आपको पार्टी के काम में किसी कठिनाई का सामना करना पड़ता है?

उत्तर : हाँ, एक कठिनाई है, और वह समय की है। अपने कार्यकर्ताओं को जनता के समक्ष और अधिक प्रस्तुत करने तथा उन्हें जनता का नेता बनाने में हमें कुछ और समय लग जाएगा। पिछले दस वर्षों में बहुत प्रगति हुई है, लेकिन अभी बहुत कुछ किया जाना बाक़ी है।

प्रश्न : क्या पैसा एक समस्या है?

उत्तर : जिनमें उद्देश्य की ईमानदारी होती है, उनके लिए यह समस्या कभी नहीं होती है। हम 'दाम संवारे सारे काम' की कहावत में विश्वास नहीं करते हैं।

हम चुनाव लड़ने के लिए अपने स्वयं के और स्थानीय संसाधनों पर निर्भर करते हैं, और ये संसाधन जुटाए जा सकते हैं। बाहरी संसाधनों पर निर्भरता भारतीय जनसंघ के दृष्टिकोण और आदर्शवाद पर खरी नहीं उतरती है।

प्रश्न : अगले साल होनेवाले आम चुनाव में आप कितनी सीटों पर चुनाव लड़ने का इरादा रखते हैं?

उत्तर : मैं समझता हूँ कि यह संख्या राज्य विधानसभाओं के लिए 1,000 और लोकसभा के लिए लगभग 200 होगी। हम सघन कार्य कर रहे हैं और हमें अगली बार ज़्यादा बेहतर परिणामों की आशा है।

प्रश्न : किसी भी चुनावी गठबंधन के लिए आपकी दृष्टि क्या है?

उत्तर : यह कहना जल्दबाज़ी होगी। मुझे विश्वास नहीं है कि अन्य दल इतने अनुशासित हैं कि वे एक गठबंधन की शर्तों का ईमानदारी से पालन कर सकें। दूसरी कठिनाई इन दलों के अंधाधुंध गठजोड़ हैं। केरल में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी (पी.एस.पी.) का मुसलिम लीग के साथ गठजोड़ है। स्वतंत्र पार्टी अकाली दल के बहुत क़रीब है। ये सांप्रदायिक, संकीर्ण दल हैं। राजा जी (श्री राजगोपालाचारी) ने हाल ही में कालीकट में कहा है कि मुसलिम लीग में कोई भी बुराई नहीं है, और वह उनकी सफलता की कामना करते हैं। मैं समझ नहीं सकता हूँ कि वह मुसलिम लीग और जनसंघ दोनों के लिए सफलता की कामना कैसे कर सकते हैं। निःसंदेह कई अन्य मुद्दे हैं, जिन पर हम स्वतंत्र पार्टी के साथ बहुत कुछ सहमत हैं। पी.एस.पी. भी एक राष्ट्रीय पार्टी है, जो अखंड भारत में विश्वास रखती है। इन सभी कारकों को ध्यान में रखते हुए मुझे लगता है कि एक देशव्यापी गठबंधन की तुलना में स्थानीय समायोजन अधिक व्यावहारिक है।

प्रश्न : जनसंघ के चुनाव अभियान में अधिक महत्त्वपूर्ण मुद्दे क्या होंगे?

उत्तर : निश्चित रूप से जो भी मुद्दे हम अब तक उठा रहे हैं, वे सभी महत्त्वपूर्ण मुद्दे होंगे। निश्चित रूप से, मुख्य विषय देश की एकता, अखंडता और रक्षा है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण विषय एक लोकतांत्रिक ढाँचे के अनुरूप देश का दुरुस्त विकास है। रोज़गार और उत्पादन में वृद्धि के एक साधन के रूप में यंत्रीकृत (मैकेनाइज्ड) लघु उद्योग भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। हम निश्चित रूप से सरकार द्वारा व्यापार और सहकारी खेती के विरुद्ध हैं।

—ऑर्गनाइज़र, जनवरी 2, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

2

समाजवाद, लोकतंत्र अथवा मानवतावाद

यह लेख राष्ट्र जीवन की समस्याएँ (1960) व राष्ट्र चिंतन (1962) में पुनः प्रकाशित हुआ है।

यद्यपि भारत में समाजवादी विचार और समाजवादी पार्टियाँ उस समय से ही विद्यमान हैं, जब से यूरोपीय विचारों ने यहाँ के शिक्षित लोगों को प्रभावित करना आरंभ किया, तथापि सैद्धांतिक रूप में समाजवाद यहाँ के निवासियों के राजनीतिक या सामाजिक जीवन में अपना कोई विशेष स्थान नहीं बना सका। परंतु कांग्रेस के आवडी अधिवेशन[1] के पश्चात् जिसमें कांग्रेस ने समाजवादी समाज रचना को अपना अंतिम लक्ष्य घोषित किया, स्थिति बदल गई। जहाँ तक जनसाधारण का प्रश्न है, वह आज भी उससे उतनी ही दूर है। कांग्रेस द्वारा समाजवाद के लक्ष्य को अपनाए जाने के बाद भी यह जनता का हृदय स्पर्श नहीं कर पाई है। जनता उसके प्रति उत्साहित नहीं है। परंतु ऐसा समझा जाने लगा है कि सरकार की नीतियाँ उसी के अनुरूप ढलती जा रही हैं और इस कारण जो सरकारी निर्णयों को प्रभावित करने का विचार करते हैं, उन्हें अवश्य चिंता हो गई है। आज इस विचारधारा के अनुयायियों की संख्या के अनुपात में इसे कहीं अधिक महत्त्व प्राप्त हो गया है। साथ ही प्रधानमंत्री की लोकप्रियता और सम्मान के कारण कुछ समय के लिए तो ऐसा लगने लगा है, मानो समाजवाद यहाँ की जनता का सर्वप्रिय जीवन दर्शन हो गया हो। आज अपने आप को समाजवादी कहना एक फ़ैशन सा लगता है। समय के प्रवाह में बहने वाली राजनीतिक पार्टियों में तो इस बात की होड़ सी लगी है

1. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का 1955 का अधिवेशन आवडी (मद्रास) में उछरंगराय नवलशंकर ढेबर (1905-1977) की अध्यक्षता में हुआ था।

कि उनमें से कौन अपने को समाजवाद का बड़ा पुरस्कर्ता सिद्ध कर सकता है। हिंदू महासभा भी हिंदू समाजवाद की बातें करने लगी है। वैदिक विचारकों ने भी पुराना साहित्य कुरेदकर 'वैदिक समाजवाद' की नई खोज कर डाली है।

समाजवाद के विभिन्न स्वरूप

इस देश में कांग्रेस समाजवाद का नारा बुलंद करनेवाली प्रथम पार्टी नहीं है। कांग्रेस द्वारा समाजवाद स्वीकार किए जाने के पूर्व भी यहाँ समाजवादी पार्टियाँ थीं और आज भी हैं। विभिन्न समाजवादी पार्टियों के असंतुष्ट लोग भी अपने को समाजवादी ही कहते हैं। इतना ही नहीं, उनका तो दावा यह होता है कि वे जिस समाजवाद को मानते हैं, वही अधिक शुद्ध है। इस स्थिति ने समाजवाद के बारे में और अधिक भ्रम बढ़ा दिया है। यूरोप में वैसे भी समाजवाद के अनेक प्रकार विद्यमान हैं। रूज़वेल्ट,[2] हिटलर, मुसोलिनी[3] और स्टालिन[4] सभी अपने आपको समाजवादी कहते थे।

ऐसे भी लोगों की कमी नहीं, जिन्होंने स्वयं प्रत्यक्ष राजनीति से दूर रहने के बाद भी अनेक प्रकार के समाजवादी सिद्धांतों की रचना कर डाली है। भारत में इन सभी प्रकार के समाजवादी पंथों के अनुयायी विद्यमान हैं। कुछ इस प्रकार के भी प्रयास यहाँ होते रहे हैं, जिनमें यूरोपीय समाजवाद को भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक जीवन के अनुरूप ढालकर स्वीकार करने का आग्रह रहा है।

बाबू जयप्रकाश नारायण आज भी समाजवादी बने हुए हैं। एम.एन. राय[5] ने अपने जीवन के अंतिम काल में समाजवाद का पूर्णतः त्याग कर दिया था तथापि मृत्यु के समय भी वे रेडिकल सोशलिस्ट ही कहलाए। उन राजनीतिज्ञों के साथ-साथ जो बिना समझे-बूझे किसी भी समय कोई भी बात कह सकते हैं, अन्य सिद्धांतवादी और राजनीतिज्ञों ने भी इस समाजवाद के बारे में ऐसी धारणाएँ पैदा कर दी हैं कि लोग यही नहीं समझ पाते कि वे हैं कहाँ पर।

प्रेरणा का मूल स्रोत

एक बार ऐसा व्यंग्य किया गया था कि समाजवाद कोई जीवन-दर्शन नहीं अपितु एक अटपटी वृत्ति मात्र है। यदि हम समाजवादियों के विचारों का विश्लेषण करें तो

---

2. फ्रैंकलिन डेलानो रूज़वेल्ट (1882-1945), अमरीका के 32वें राष्ट्रपति (1933 से 1945 तक) थे।
3. बेनिटो मुसोलिनी (1883-1945) इटली के फासीवादी नेता, जो कि 1922 से 43 तक प्रधानमंत्री रहे।
4. जोसेफ़ स्टालिन (1879-1953) कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ सोवियत संघ के महासचिव और 1941 से 53 तक सोवियत यूनियन के प्रीमियर रहे, अपने विरोधियों की हत्याएँ करवाने के लिए विश्व-इतिहास में कुख्यात।
5. मानवेंद्रनाथ राय (1887-1954) मेक्सिको और भारत दोनों की ही कम्युनिस्ट पार्टियों के संस्थापक थे। 1940 में मार्क्सवाद से अलग हो नवीन मानवतावाद दर्शन के प्रतिपादक बने।

बहुत अंशों तक यह उक्ति सही प्रतीत होगी। सभी समाजवादियों की यह एक सर्वमान्य अभिलाषा है कि साधारण मनुष्य का जीवन-स्तर उठया जाए। वे उन लोगों के विरुद्ध, जिन्हें वे कामचोर मानते हैं या मज़दूरों के उचित लाभांशों की प्राप्ति में बाधक समझते हैं, मेहनतकश मज़दूरों का पक्ष ग्रहण कर लेते हैं। हमें शायद यह जानकर आश्चर्य होगा कि स्वामी विवेकानंदजी भी अपने आपको समाजवादी कहते थे और अपनी मान्यताओं की पुष्टि में बहुत कुछ इसी प्रकार के तर्क भी देते थे। एक भाषण में उन्होंने कहा भी था कि 'मैं भी एक समाजवादी हूँ।' इसलिए नहीं कि समाजवाद कोई पूर्ण दर्शन है, अपितु इसलिए कि मैं समझता हूँ कि भूखे रहने की अपेक्षा एक कौर मात्र प्राप्त करना भी अच्छा है। सुख-दुःख का पुनर्विभाजन सचमुच ही उस स्थिति से अधिक श्रेयस्कर होगा, जिसमें निश्चित व्यक्ति ही सुख या दुःख के भागी होते हैं। इस कष्टपूर्ण संसार में प्रत्येक को अच्छा दिन देखने का अवसर मिलना ही चाहिए। बुभुक्षितों के प्रति हार्दिक सहानुभूति और समाज में उन्हें समान स्तर और सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करा देने की यह इच्छा आज भी प्रत्येक समाजवादी को प्रेरणा देती है।

उनकी सदिच्छा सराहनीय है। इस दुःख और कष्टों से परिपूर्ण विश्व में असमानता, अन्याय, दुःख, कष्ट, उत्पीड़न, प्रताड़न, दासत्व, शोषण, क्षुधा और अभाव को देखकर कोई भी व्यक्ति जिसे मानवीय अंत:करण प्राप्त है, समाजवादी वृत्ति अपनाए बिना नहीं रह सकता। परंतु समाजवाद यहीं तक सीमित नहीं है। यह ठीक है कि वह इस दुःखपूर्ण स्थिति का अंत चाहता है। उसने स्थिति का विश्लेषण किया है, रोग का निदान किया है और उसके लिए औषधि की योजना भी की है। यहाँ पर उन्हें मार्क्स का शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ता है। उसने अपने समकालीन समाजवादी विचारों को एकत्र कर एक ऐसी विस्तृत विचार-सरणी प्रस्तुत की, जो आगे आनेवाली पीढ़ियों को भी आकर्षित करने की क्षमता रखती थी। मार्क्स से विचार भिन्नता रखने वाले समाजवादी भी उसके अकाट्य तर्कों का खंडन नहीं कर पाते थे। उसने एक करणीय योजना प्रस्तुत की और बोल्शेविकों ने उस स्वप्न को साकार करने के लिए सफलतापूर्वक रूस की सत्ता पर अधिकार कर लिया। बोल्शेविक क्रांति[6] से लेकर आज तक का रूस का इतिहास विभिन्न क्षेत्रों में अनेक सफलताओं के बावजूद इस पद्धति की अपूर्णता का ही द्योतक रहा है।

लोकतंत्र पर हमला

समाजवाद का पहला हमला हुआ लोकतंत्र पर। लौह आवरण के पीछे रहनेवालों को छोड़कर समस्त विश्व के समाजवादी विचारक आतंकित हो उठे। उन्हें लोकतंत्र में

6. रूस की महान् अक्तूबर समाजवादी क्रांति 1917 में हुई, जिसके फलस्वरूप रूसी रोमानोव वंश की तीन सौ साल की राजशाही का अंत हुआ और बोल्शेविक (साम्यवादी) शासन की नींव पड़ी।

आस्था थी। सच पूछा जाए तो लोकतांत्रिक आदर्शों के कारण ही उन्हें जनसाधारण के प्रति सहानुभूति थी और वे उससे छुटकारे की बात करते थे। लोकतंत्र ने ही उन्हें राजनीतिक समानता प्रदान की थी। पर वैज्ञानिक अन्वेषणों और यंत्रीकृत उत्पादन पद्धति ने उन्हें आर्थिक विषमता के गड्ढे में ढकेल दिया। परिणामत: ऐसी राजनीतिक परिस्थिति में समानता का कोई महत्त्व न रहा। मार्क्स ने वर्गविहीन समाज का नारा लगाया। अंतरिम अवधि तक मज़दूरों के अधिनायकवाद की बात कही गई। इसमें संदेह की पूरी गुंजाइश थी। लोगों को एक संदिग्ध वस्तु की प्राप्ति के लिए उस चीज़ (राजनीतिक समानता) का त्याग करने को कहा गया, जो उन्हें पहले से ही प्राप्त थी। उन्हें इस बात की किंचित् भी कल्पना नहीं थी कि समाजवाद उन्हें पहले से ही प्राप्त वस्तु भी छीन लेगा। वे तो पहले से ही अभावग्रस्त थे। समाजवाद के द्वारा उन्हें कुछ प्राप्त होना चाहिए था, न कि उनके पास का ही छीना जाना।

किंतु कुछ देने के पूर्व ही समाजवाद ने उनकी व्यक्तिगत स्वाधीनता और राजनीतिक समानता का अपहरण कर लिया। 28 अप्रैल, सन् 1919 में ही प्रिंस क्रोपाटकिन[7] ने पश्चिमी यूरोप के मज़दूरों के नाम एक पत्र में लिखा—

"I owe it to you to say frankly that according to my view, this effort to build a communist republic on the basis of a strongly centralised state, communism under the iron law of party dictatorship is bound to end in failure. We are learing to know in Russia how not to introduce communism. As long as the country is governed by a party dictatorship, the worker and peasants. lose their entire significance. It (U.S.S.R.) develops a bureaucracy so formidable, that French bureaucracy which requires the help of forty officials to sell a tree, broken down by a storm on the national high way is a mere begalle in comparision.

(मैं आपको स्पष्ट रूप से यह बताना अपना दायित्व समझता हूँ कि मेरे विचार से सुदृढ केंद्रित शासन व्यवस्था के आधार पर, दलीय तानाशाही के फ़ौलादी शिकंजे के नीचे, साम्यवादी गणतंत्र निर्माण करने का प्रयास असफलता के रूप में ही सामने आएगा। रूस से हम इस बात को सीख रहे हैं कि साम्यवाद को प्रवेश करने से कैसे रोका जाए। जब तक देश में दलीय तानाशाही का शासन क़ायम है, तब तक किसान और मज़दूर परिषद् अपना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं बना सकतीं, वे अपना समस्त वैशिष्ट्य ही खो बैठेंगी। रूसी गणराज्य आज एक ऐसी अभेद्य नौकरशाही को जन्म दे रहा है,

7. प्रिंस अलेक्सेविच क्रोपाटकिन (1842-1921) रूस के अर्थशास्त्री, जंतु विज्ञानी, क्रम विकास सिद्धांती, दार्शनिक लेखक एवं अराजकतावादी साम्यवाद के अग्रदूत थे।

जिसके सम्मुख वह फ्रांस की नौकरशाही भी मात खा जाएगी, जिसमें कहीं रास्ते में आँधी से गिरे हुए पेड़ को बेचने के लिए भी चालीस सरकारी अधिकारियों की आवश्यकता पड़ती है।)

सहअस्तित्व असंभव

यूरोपीय समाजवादियों के नए प्रयासों ने उस तत्त्व को जन्म दिया, जिसे आज जनतांत्रिक समाजवाद का नाम दिया गया है। वे कम्युनिस्टों से मतभिन्नता रखते हुए यह प्रतिपादित करते रहे कि समाजवाद का प्रादुर्भाव जनतांत्रिक ढंग से होना चाहिए। वे एक साथ समाजवाद और जनतंत्र दोनों की आराधना करना चाहते हैं। पर मूल प्रश्न तो यह है कि क्या समाजवाद और जनतंत्र एक साथ पनप भी सकते हैं। सिद्धांतवादी इस प्रश्न पर आशान्वित हैं। पर प्रगतिवादी इस पर विश्वास नहीं करते। समाजवाद इस बात का हामी है कि उत्पादन के समस्त स्रोत राज्य के अधीन होने चाहिए। चूँकि समाजवादी यह समझते हैं कि समाज का राजनीतिक, बौद्धिक और सामाजिक जीवन उसके उत्पादन के स्रोतों के द्वारा ही ढलता है, अत: समाजवादी व्यवस्था में राज्य का, आर्थिक क्षेत्र के साथ-साथ राजनीतिक एवं अन्य क्षेत्रों में भी पूर्ण वर्चस्व रहना आवश्यक है। इससे एक ऐसी स्थिति पैदा होगी, जब उन लोगों के विरुद्ध जो शासन में हैं, लोकतांत्रिक अधिकारों का प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयोग करना संभव नहीं होगा। समाजवादी बंदूक की गोली का पहला शिकार निश्चित रूप से कोई लोकतंत्रवादी ही होगा। समाजवाद और लोकतंत्र दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते, शेर-बकरी का एक ही घाट पर पानी पी सकना असंभव है।

गोली का पहला शिकार लोकतंत्रवादी होगा

आज समाजवादी खेमे में व्याप्त भ्रमपूर्ण स्थिति के लिए बहुत अंशों तक यह सिद्धांत ही ज़िम्मेदार है, अब तक कोई भी विचारक ऐसा सर्वांगपूर्ण दोषरहित चित्र प्रस्तुत करने में सफल नहीं हो सका है, जिसमें इन दोनों तत्त्वों का सह अस्तित्व संभव हो सके। इसमें भी, यदि हम लोकतंत्र के विभिन्न स्वरूपों और मर्यादाओं के साथ-साथ भिन्न-भिन्न देशों के विभिन्न सामाजिक सांस्कृतिक ढाँचे और भिन्न-भिन्न प्रकार के भौतिक एवं आर्थिक विकास के स्तरों पर विचार करें, तब तो यह भ्रम के बादल और भी घनीभूत हो जाते हैं। इस भ्रजमाल की जटिलता के कारण यह गुत्थी इतनी उलझती जाती है कि जिसका सुलझना असंभव सा हो जाता है।

ग़ैर-समाजवादी देशों ने भी समाजवादियों के भ्रम को बढ़ाने का ही कार्य किया है। विगत 30 वर्षों में अपनी उदारवादी नीतियों एवं नवीन आर्थिक चिंतन के कारण

उन्होंने समाजवादियों को हतप्रभ सा कर डाला है। आज अमरीका या इंग्लैंड का सर्वसाधारण व्यक्ति, किसान और मज़दूर, जिसे साम्यवादी परिभाषा के अनुसार सर्वहारा कहा जाता है, सौ वर्ष पूर्व की उत्पीड़ित अवस्था में नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर कल्याणकारी राज्य के आदर्श प्रस्थापित हो रहे हैं। पूँजीवादी ओर समाजवादी दोनों ही प्रकार के देशों के बारे में मार्क्स की भविष्यवाणी असत्य सिद्ध हुई है। कल के पूँजीवादी देशों ने अपनी पद्धति में विकास किया है और आज वे भौतिक विकास में समाजवादियों से टक्कर लेने को उद्यत हैं, पर समाजवाद आज भी उसी स्थान पर ही अड़ा हुआ है, जहाँ से उसने अपनी यात्रा प्रारंभ की थी। यदि उसने कुछ पग आगे बढ़ाए भी हैं तो वे सही दिशा में नहीं बढ़े हैं। इसके विपरीत पूँजीवादी देशों में लोकतंत्र होने के कारण अपनी भूलों को सुधारने एवं नवीन बातों को स्वीकार करने की सिद्धता रहती है। पर समाजवादियों के समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण में इस प्रकार के लचीलेपन का अभाव है। यह विचारधारा किसी प्रकार के नवीन चिंतन की प्रेरणा नहीं देती। मसीहावाद और अपरिवर्तनीय अंधविश्वासों पर आधारित मज़हब के अनुयायी की तरह कट्टर समाजवादी नए स्वतंत्र विचारों से दूर ही रहना पसंद करता है। यही कारण है कि कम्युनिस्टों के शब्दकोश में ऐसे विचारकों के लिए अनेक प्रकार की गालियाँ भरी रहती हैं। परंतु विचारशील मानव विचाररहित नहीं हो सकता। यदि उसकी विचार-तरंगों को योग्य दिशा देने की कोई योजनाबद्ध व्यवस्था न रही तो उसका अनिवार्य परिणाम चतुर्दिक् भ्रम के रूप में सामने आए बिना नहीं रह सकता।

यह कैसा विरोध?

आज भारत में समाजवाद के बारे में जो वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ है, वह प्रमुख रूप से राजकीय उद्योगों के विस्तार की अनिवार्यता या व्यर्थता के ऊपर ही केंद्रित है। स्वतंत्र उद्योगों के पुरस्कर्ता एवं समाजवादी विचारक एक-दूसरे के विरुद्ध ताल ठोककर खड़े हो गए हैं। पर साथ ही एक मज़ेदार तथ्य यह है कि दोनों एक-दूसरे के लिए पर्याप्त और न्यायसंगत क्षेत्र को ख़ाली छोड़ने के लिए तत्पर भी हैं। अविकसित अर्थव्यवस्था में सरकार को कुछ ऐसे उद्योगों को भी अपने हाथ में लेना पड़ता है, जो कदाचित् साधारण अवस्था में स्वतंत्र लोगों के हाथ में छोड़े जा सकते थे। साथ ही किसी नियोजित अर्थव्यवस्था में स्वतंत्र उद्योगपतियों को वैसी खुली छूट भी नहीं दी जा सकती, जैसी शताब्दियों से पश्चिम के लोग उपयोग करते रहे हैं। सच पूछा जाए तो यह स्पर्धा यदि नियंत्रित रखी गई, तो दोनों में योग्य संतुलन स्थापित करने में सहायक हो सकती है। समस्याओं का सामना करते समय समाजवादी स्वतंत्रों की श्रेणी में आ बैठता है और स्वतंत्र समाजवादी खेमे में।

साध्य के अनुरूप साधन हों

पर प्रमुख समस्या यह नहीं है कि हम समाजवाद को स्वीकार करें या उद्योगों की स्वतंत्रता के सिद्धांतों को। समाजवाद और लोकतंत्र की आपस में तुलना नहीं की जा सकती, पर हमारे लिए ये ही विकल्प के रूप में नहीं हैं। वे साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। तब फिर साध्य क्या हो? हमें पहले गंतव्य निर्धारित कर, फिर मार्ग का निर्धारण करना चाहिए। सभी विचारशील मनुष्यों ने मानव कल्याण को साध्य माना है। पर दुर्भाग्य यह है कि अभी तक मनुष्य मनुष्य को ही समझने में असमर्थ रहा है। मानव को सुखी व संपन्न बनाने के प्रयास में समाजवाद एवं लोकतंत्र, दोनों ने ही उसको एक वीभत्स स्वरूप दे डाला है। उन्होंने उसकी समस्त विशेषताओं को उससे छीन लिया है। रेने फुलप ने 'डी ह्यूमनाइज़ेशन इन मॉर्डन सोसाइटी' (De-Humanisation in modern society) नामक अपनी पुस्तिका में लोकतंत्र एवं समाजवाद के इस पहलू का विशद विवेचन किया है। वह लिखता है—

'Democracy, although it gave us right to vote, trial by jury, a free press, religious freedom, the freedom to choose their jobs and the freedom to speak their mind, it also gave us the economic man.'

(यद्यपि जनतंत्र ने हमें मत देने का अधिकार, न्याय पाने का अधिकार, विचार स्वातंत्र्य, धार्मिक स्वातंत्र्य, स्वयं का पेशा निर्धारित करने की स्वतंत्रता और भाषण स्वातंत्र्य प्रदान किया है, पर साथ ही उसने हमें एक 'आर्थिक मानव' की कल्पना भी दी है।)

इस कल्पना ने पूँजीवाद को जन्म दिया, जहाँ अधिकाधिक उत्पादन क्षमता बढ़ाने पर तो अत्यधिक बल दिया गया, पर सोद्देश्य जीवन व्यतीत करने की क्षमता बढ़ाने की ओर पूर्ण दुर्लक्ष्य कर दिया गया। दूसरी ओर समाजवाद या साम्यवाद ने सामूहिक सुरक्षा एवं मज़दूर वर्ग के हितों के संरक्षण का नारा लगाया, पर इसी के साथ-साथ उसने 'युद्ध-पिपासु मानव' को जन्म दिया। यह युद्ध-लोलुप मानव समाजवादी राज्य की ही देन है। उसे न विचार करने की स्वतंत्रता प्राप्त है, न स्वयं के निर्णय करने की। इस व्यवस्था के अंतर्गत मानव जीवन का मूल्य एक निरीह पशु से अधिक नहीं आँका जाता।

मशीन की ग़ुलामी का अंत आवश्यक

समाजवाद और लोकतंत्र दोनों ने ही मानव के भौतिक स्वरूप और आवश्यकताओं पर ही अपना ध्यान केंद्रित किया है और दोनों की आधुनिक विज्ञान तथा यांत्रिक उन्नति पर अत्यधिक श्रद्धा है। दोनों ही इन वर्तमान आविष्कारों के शिकार से हो गए हैं।

परिणाम यह है कि उत्पादन के साधनों का निर्धारण मानव कल्याण और उसकी आवश्यकताओं के अनुसार नहीं किया जा रहा है, बल्कि उनका निर्धारण यंत्रों के अनुसार करना पड़ रहा है। उत्पादन की केंद्रित व्यवस्था में, फिर उसका नियंत्रण चाहे व्यक्ति द्वारा हो अथवा राज्य द्वारा, मानव के स्वतंत्र व्यक्तित्व का लोप हो जाता है। मशीन के एक पुरज़े से अधिक उसका महत्त्व ही नहीं रहता। यदि हमें मनुष्य के मनुष्यत्व की रक्षा करनी है तो उसे मशीन की ग़ुलामी से मुक्त करना होगा।

आज व्यक्ति मशीन पर शासन नहीं करता, मशीन मनुष्य पर शासन कर रही है। इस मशीन-प्रेम के मूल में मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं को अधिकाधिक मात्रा में तृप्त करने की भावना ही निहित है। पर हम यह न भूलें कि केवल भौतिक समृद्धि मात्र से मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। भौतिक साधनों से संपन्न राष्ट्रों की समस्याएँ भी आज हमारे सम्मुख हैं। हमें संपूर्ण मानव जीवन का विचार कर उत्पादन, वितरण और उपभोग को एक इकाई मानकर चलना पड़ेगा। हमें एक ऐसी पद्धति का निर्माण करना होगा, जिसमें मनुष्य उत्पादन और उपभोग करते समय एक सार्थक जीवन व्यतीत करने का भी ध्यान रखता है। मनुष्य केवल भौतिक आवश्यकताओं का समुच्चय मात्र ही नहीं है। उसकी कुछ आध्यात्मिक आवश्यकताएँ भी हैं। जो जीवन-पद्धति मानव-जीवन के इस आध्यात्मिक पहलू की उपेक्षा करती हो, वह कदापि पूर्ण नहीं हो सकती। यहाँ हमें इस बात का स्मरण रखना होगा कि भौतिक उन्नति के साथ आध्यात्मिक प्रगति की कल्पना केवल हवाई उड़ान ही नहीं है। मानव की गरिमा को सुरक्षित रखते हुए समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने का दायित्व भी निभाना ही होगा। समाजवाद और लोकतंत्र दोनों ने ही एकांगी मार्ग स्वीकार किया है, और मनुष्य की इन दो भिन्न प्रवृत्तियों का समुचित सामंजस्य बिठाकर उसके व्यक्तित्व का विकास करने के स्थान पर एक भ्रमपूर्ण स्थिति पैदा कर विभिन्न शक्तियों के लिए एक युद्ध-स्थल तैयार कर दिया है।

तरणोपाय

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों पर आधारित हिंदू जीवनादर्श ही हमें इस संकट से उबार सकते हैं। विश्व की समस्याओं का उत्तर समाजवाद नहीं, हिंदुत्ववाद है। यही एक ऐसा जीवन दर्शन है, जो जीवन का विचार करते समय उसे टुकड़ों में नहीं बाँटता अपितु संपूर्ण जीवन को एक इकाई मानकर उसका विचार करता है। यहाँ पर हमें हिंदू-जीवनादर्शों का विचार करते समय कुछ निष्प्राण कर्मकांड के साथ अथवा हिंदू समाज में व्याप्त अनेक अहिंदू व्यवहारों के साथ उसका संबंध नहीं जोड़ना चाहिए। साथ ही यह समझना भी भारी भूल होगी कि हिंदुत्व वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति का विरोधी है। विज्ञान और यंत्र इन दोनों का उपयोग इस पद्धति से होना चाहिए, जिससे वे

हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पद्धति के अनुरूप हों।

महात्मा गांधी के विचारों का अनुसरण कर विनोबा, जयप्रकाश नारायण और राजगोपालाचारी ने ट्रस्टीशिप का विचार सम्मुख रखा है। यह हिंदू जीवन-पद्धति के अनुसार ही है। यह एक ऐसा विचार है, जो समाजवादी और ग़ैर-समाजवादी दोनों ही समाजों के लिए समान रूप से उपयोगी हो सकता है। पर यदि हम पाश्चात्य-यंत्र प्रणाली का अंधानुकरण करते रहे तो पूँजीवाद या समाजवाद दोनों ही न हमारी संस्कृति का संरक्षण कर सकेंगे और न हमारे सम्मुख उपस्थित समस्याओं का समाधान ही कर सकेंगे। हमें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सैद्धांतिक सभी मोरचों पर इस यंत्रवाद का सामना करना पड़ेगा। हमें धर्मराज्य, लोकतंत्र, सामाजिक समानता और आर्थिक विकेंद्रीकरण को अपना लक्ष्य बनाना होगा। इन सबका सम्मिलित निष्कर्ष ही हमें एक ऐसा जीवन-दर्शन उपलब्ध करा सकेगा, जो आज के समस्त झंझावातों में हमें सुरक्षा प्रदान कर सके। आप इसे किसी भी नाम से पुकारिए, हिंदुत्ववाद, मानवतावाद अथवा अन्य कोई भी नया वाद, किंतु यही एकमेव मार्ग भारत की आत्मा के अनुरूप होगा और जनता में नवीन उत्साह संचारित कर सकेगा। संभव है, विभ्रांति के चौराहे पर खड़े विश्व के लिए भी यह मार्गदर्शक का काम कर सके।

—पाञ्चजन्य, जनवरी 2, 1961

□

3

सन् 62 के चुनाव में जनसंघ डेढ़ हज़ार सीटों पर चुनाव लड़ेगा

आगामी आम चुनाव में जनसंघ की तैयारी पर लखनऊ में दीनदयालजी की पत्रकार गोष्ठी।

आगामी आम चुनाव में संपूर्ण देश में हम 1,500 स्थानों पर अपने प्रत्याशी खड़े करेंगे। इनमें से 962 स्थानों के प्रत्याशी अब तक निर्धारित किए जा चुके हैं। भिन्न-भिन्न प्रदेशों के कार्यकर्ताओं द्वारा अभी तक दिए गए वृत्त के अनुसार 1,260 से अधिक विधानसभाओं की सीटों तथा कम-से-कम 200 लोकसभा सीटों पर हमारे प्रत्याशी खड़े होंगे। इसमें 860 विधानसभाई सीटों के प्रत्याशियों के नाम भी निश्चित किए जा चुके हैं।

हमारे सर्वाधिक प्रत्याशी उत्तर प्रदेश में खड़े होंगे। यहाँ पर विधानसभा के लगभग 216 और लोकसभा के 44 स्थानों के प्रत्याशी निश्चित किए जा चुके हैं। अन्य स्थानों पर विचार किया जा रहा है। आपने बताया कि उड़ीसा में जनसंघ की शाखा न होने के कारण अभी वहाँ पर कोई प्रत्याशी खड़ा नहीं किया जाएगा तथा केरल एवं आसाम में हमारा कार्य कम होने के कारण वहाँ हम कुछ सीमित दायरे में ही प्रत्याशी खड़े करेंगे।

महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, आंध्र, राजस्थान, पंजाब, उत्तर प्रदेश और बिहार में शेष प्रदेशों की अपेक्षा हम अधिक अच्छी स्थिति में रहेंगे।

अन्य दलों से चुनाव-समझौते का जहाँ तक प्रश्न है, यदि विरोधी दल उन्हीं क्षेत्रों में अपने प्रत्याशी खड़े करें, जहाँ उन्हें जीतने की पूरी उम्मीद हो तो अलग से कोई समझौता करने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होगा। इस प्रकार की कोई आवश्यकता पड़ी भी

तो जनसंघ ग़ैर-कांग्रेसी और कम्युनिस्ट विरोधी दलों से समझौता कर सकता है, पर किसी भी मूल्य पर वह सांप्रदायिक दलों से कोई समझौता नहीं करेगा। हिंदूसभा या रामराज्य परिषद् संप्रदायवादी दल नहीं हैं।

आज तक की संवैधानिक स्थिति यह है कि 1965 में अंग्रेज़ी चली जाएगी। उर्दू कोई पृथक् भाषा नहीं है, पर्शियन-निष्ठ हिंदी ही है। जो उर्दू कवि कमल-पुष्प में भी सौंदर्य नहीं देख सकते, उन्हें हम भारतीय कैसे कहें? जब महाराष्ट्र और मद्रास का मुसलमान भी उर्दू को अपनी मातृभाषा लिखवाता है, तो स्पष्ट होता है कि यह मुद्दा भाषिक नहीं वरन् राजनीतिक एवं सांप्रदायिक है।*

—पाञ्चजन्य, जनवरी 9, 1961

□

* पत्रकार वार्ता की विषय-वस्तु में भाषा का यह मुद्दा ऑर्गनाइज़र से अनूदित है। पाञ्चजन्य के वार्ता-विवरण में यह मुद्दा प्रकाशित नहीं है।

4

कार्यकर्ताओं की निष्ठा और जनता का सहयोग हमें अभूतपूर्व सफलता प्रदान करेगा

मुखर्जी मंडप, लखनऊ में 1 जनवरी को प्रतिनिधि सम्मेलन के समारोप-अवसर पर दीनदयालजी का भाषण।

विगत दो चुनावों में यद्यपि प्राप्त मतों के आधार पर हम अखिल भारतीय मान्यता प्राप्त करने में सफल हुए हैं,[1] तथापि मतों की तुलना में हम विधान मंडलों में स्थान नहीं प्राप्त कर सके। आगामी आम चुनाव में हमें उसी अनुपात में सीटें जीतकर विधान मंडलों में अपनी आवाज़ बुलंद करनी पड़ेगी।

चुनावों में हम अधिकांश सीटें इसलिए खो बैठते हैं, क्योंकि हम पहले से तैयारी नहीं करते। यदि हम पूर्व योजना बनाकर अपनी संपूर्ण शक्ति का उपयोग करें तो आज की तुलना में हमें कहीं अधिक सफलता मिल सकती है।

यह ठीक है कि चुनाव की वर्तमान पद्धति में अर्थ का भी एक प्रमुख स्थान है। पर हमें यह समझकर चलना चाहिए कि इस कमी की पूर्ति के लिए हमें न तो विदेशों से ही कोई सहायता लेनी है, न यहाँ के तथाकथित पूँजीपति ही हमें सहयोग देंगे। इसके बावजूद हम आवश्यक धन जुटा सकते हैं, यदि हम साधारण जनता से संपर्क स्थापित करें। गत वर्ष जिन प्रदेशों में निधि-संग्रह का अभियान चलाया गया, उनमें यही अनुभव हुआ कि महलों की अपेक्षा झोंपड़ी में अधिक सहयोग और सहानुभूति मिलती है।

---

1. भारतीय जनसंघ को 1952 के लोकसभा चुनाव में 3.1 प्रतिशत वोट (तीन सीट) तथा 1957 के लोकसभा चुनाव में 5.9 प्रतिशत वोट (चार सीट) प्राप्त हुए थे, साथ ही राज्यों के विधानसभा चुनावों में मिले जन समर्थन के आधार पर अखिल भारतीय मान्यता प्राप्त हुई थी ।

कुछ लोग कहते हैं कि जनता अब चंदा नहीं देना चाहती। मैं उन लोगों के सहमत नहीं हूँ। जनता के हृदय में अपनी सेवा के द्वारा जो भी दल या व्यक्ति स्थान बनाएगा, जनता उसे तन-मन-धन पूर्वक सहयोग देगी। जिन क्षेत्रों में हमारे कार्यकर्ताओं ने जनसेवा में तत्परता दिखाई, वहाँ पर जनता ने स्वयं आकर धन की सहायता दी। जहाँ हमारे सेवा-कार्य का प्रत्यक्ष प्रमाण-पत्र मौजूद है, वहाँ हमें किसी भी बात की कमी नहीं पड़ सकती। आवश्यकता है कि हम पूरी निष्ठा और लगन के साथ निस्स्वार्थ बुद्धि से जनता--जनार्दन के दु:ख-सुख में सहभागी बनें।

अपने संगठन का विस्तार करते समय हम यह न भूलें कि हम एक ध्येयवादी संगठन का निर्माण कर रहे हैं। ऐसे संगठन में जहाँ हमें अपने अंदर की जनता की प्रखर ध्येय-निष्ठा का जागरण करना होगा, वहीं अपने संगठन में अनुशासन का भी पूरा ध्यान आवश्यक है। यदि इस अनुशासन में थोड़ी सी भी ढिलाई हुई तो संगठन का ढाँचा चरमरा उठता है। अत: आवश्यक है कि अपने-अपने स्थान पर दृढतापूर्वक खड़े होकर हम अपने कर्तव्य का निर्वाह करें।

आगामी कुछ वर्ष देश के इतिहास में विशेष महत्त्व रखते हैं। ये वर्ष इस बात का निर्धारण करेंगे कि हम जिन सिद्धांतों को अपने प्राणों से भी अधिक मूल्यवान समझते हैं, उनकी इस देश में मान्यता होगी या वे समाप्त होंगे। हम यह निश्चित रूप से समझ लें कि और लोग नारे चाहे जो लगाएँ, परिस्थितियों का मुक़ाबला करने के लिए हमें ही आगे बढ़ना पड़ेगा। जब हमने यह उत्तरदायित्व स्वीकार किया है, तब हम उसका निर्वाह करेंगे। मुझे पूरा विश्वास है कि आप सबकी लगन और जनता का सहयोग प्राप्त कर अगले वर्ष हम अभूतपूर्व प्रगति कर सकेंगे।

—पाञ्चजन्य, जनवरी 9, 1961

□

5

चुनावी वर्ष में कठोर और समर्पित कार्य का आह्वान

ऑर्गनाइज़र और पाञ्चजन्य दोनों में लखनऊ प्रतिनिधि सम्मेलन के समारोप भाषण के अलग-अलग विवरण प्रस्तुत किए हैं। अतः दोनों प्रस्तुतियों को इस खंड में पृथक्-पृथक् अध्याय के रूप में स्थान दिया गया है।

अगला वर्ष हमारे लिए एक उद्योग पर्व है, एक ऐसी अवधि, जिसमें हमें स्वयं को एक श्रमसाध्य उद्योग से संलग्न करना होगा। जनसंघ ने लोगों में जो आशाएँ प्रेरित की हैं, उनकी पूर्ति के लिए अपने संगठन को एक चुस्त माध्यम बनाने के लिए और आज संपन्न हुए भव्य सत्र में जो कुछ हुआ है, उसकी एक अभिव्यक्ति के लिए एक साहसी और उत्साहपूर्ण प्रयास में जुटना होगा।

यदि राम शक्तिशाली रावण पर विजय पाने में सक्षम थे, तो इसमें लक्ष्मण के बलिदान की भूमिका कोई कम नहीं थी, जो पूरे चौदह वर्ष, जब तक राम वनवास में थे, एक भी रात सोए नहीं थे। और फिर लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला के उनसे भी बड़े बलिदान को स्मरण करें, जिन्होंने अपना सर्वस्व इसलिए त्याग दिया था, ताकि लक्ष्मण अपने भाई की सेवा करने का एक अवसर प्राप्त कर सकें। लक्ष्मण और उर्मिला का यह बलिदान ही सभी महान् उपलब्धियों का आधार है।

राम को जिस रावण के साथ संघर्ष करना पड़ा था, वह एक शक्तिशाली रावण था, लेकिन आज के रावण मिट्टी के रावण हैं। आज तो लक्ष्मण और उर्मिला द्वारा किए गए बलिदानों का एक लेशमात्र भी पर्याप्त साबित होगा।

लक्ष्मणों और उर्मिलाओं की आवश्यकता

प्रतिनिधियों के विशाल जुलूस में छोटी संख्या में कोई 5 प्रतिशत प्रतिनिधि ऐसे थे, जिनका तमाशे के प्रति आकर्षण उनकी कर्तव्य की भावना से अधिक महत्त्वपूर्ण था। गुजरते घुड़सवार क़ाफ़िले को देखने के लिए वे अपनी स्वयं की क़तार छोड़कर रास्ते के साथ खड़े हो गए। स्वाभाविक रूप से इससे मार्च पास्ट के कुल प्रभाव से ध्यान बँटता है। इससे मुझे उन पोलिंग एजेंटों की याद आ जाती है, जो अपने केंद्रों में मतदान से प्रसन्न होकर कर्तव्य का अपना स्थान छोड़कर यह देखने के लिए निकल पड़ते हैं कि दूसरे कितनी अच्छी तरह या ख़राब तरह चल रहे हैं। मात्र एक उत्साही दर्शक बनने के प्रलोभन पर नियंत्रण और अपने कार्य और कर्तव्य में पूरी तरह से अपने स्वयं को तल्लीन करना (चाहे आप काफिले में सबसे आगे हों या सबसे पीछे), एक कार्यकर्ता के कुछ गुण होते हैं, जो एक संगठन को हमारे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक प्रभावी माध्यम बना सकते हैं।

टिकट आवंटन के लिए न केवल व्यक्तिगत योग्यता, बल्कि संसदीय बोर्ड द्वारा निर्धारित न्यूनतम संगठनात्मक कार्य किए जाने के भी सख्त मानदंडों की संभावना की ओर संकेत करते हुए श्री उपाध्याय ने कहा कि जनसंघ के कार्यकर्ता चुनाव की दौड़ में जुआड़ी नहीं हो सकते, जो मात्र चुनाव की पूर्व संध्या पर ही जागें और अपनी क़िस्मत आज़माने के लिए चुनाव में उतर जाएँ। उन्हें ध्यानपूर्वक योजना बनानी चाहिए और अभी से परिणामों के लिए कार्य करना चाहिए। जनसंघ नेता ने कहा कि इस वर्ष पार्टी कार्यकर्ताओं के समक्ष कार्य यह है कि वे जिन निर्वाचन क्षेत्रों से चुनाव लड़ने की कामना करते हैं, वहाँ के प्रत्येक मतदान केंद्र में स्थानीय समितियों की स्थापना करें।

—ऑर्गनाइज़र, जनवरी 9, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

6

चुनावी जुमला है भावनगर कांग्रेस संकल्प

भावनगर में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के छियासठवें सत्र में, अन्य प्रस्तावों के साथ-साथ, भारत-चीन सीमा पर भी एक प्रस्ताव पारित किया गया है। इस प्रस्ताव में चीनी आक्रमण को 'विश्व शांति की प्रगति और एशिया के सहयोग तथा स्थिरता और शक्ति के लिए एक ख़तरा' निरूपित किया गया है और कहा गया है कि प्रस्ताव 'अपने क्षेत्र की अखंडता बनाए रखने, अपनी सीमाओं की प्रभावी रक्षा करने, किसी भी कोने से हुए आक्रमण को वापस धकेलने और आक्रांताओं से अपने क्षेत्र को छुड़ाने के भारत के लोगों और भारत सरकार के संकल्प की पुष्टि करता है'।

कांग्रेस अध्यक्ष ने भी इसी लहज़े में इस समस्या पर बात की। जो लोग काफ़ी समय से चीनी आक्रमणकर्ताओं को अपनी भूमि से वापस धकेलने में सरकार की विफलता से निराश हो चुके हैं, और जो प्रधानमंत्री के युद्धविरोधी रवैए और तुष्टीकरण की नीति के कारण राष्ट्रीय अपमान अनुभव कर रहे हैं, उन्हें इस बहादुरी भरे संकल्प की घोषणा अखबार की सुर्खियों में पढ़कर कोई ख़ुशी नहीं हुई है। लेकिन मात्र कुछ भोले-भाले लोग कांग्रेस के भाषणकर्ताओं के इस अभिनय से प्रभावित हो जाएँगे।

कांग्रेस के इस प्रस्ताव में सरकार की चीन नीति में कोई परिवर्तन आता देखना ग़लत होगा। वास्तव में प्रस्ताव में कुछ संशोधन प्रस्तुत करनेवालों पर प्रधानमंत्री ने अपने भाषण में जिस तरह हमला किया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान सरकार चीन के प्रति अपना रवैया कड़ा करने नहीं जा रही है। डॉ. राम सुभाग सिंह[1] एक संशोधन के माध्यम से चाहते थे कि कांग्रेस चीनी आक्रमणकर्ताओं को वापस खदेड़ने के लिए शीघ्र

---

1. राम सुभाग सिंह (1917-1980) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सदस्य। 1962 व 1967 में क्रमिक रूप से बिक्रमगंज और बक्सर (बिहार) से तीसरी और चौथी लोकसभा के सदस्य रहे।

क़दम उठाने का भारत सरकार को निर्देश दे। इस संशोधन का विरोध करते हुए प्रधानमंत्री ने कहा, 'यह भारत के समक्ष आज, कल या दस साल बाद का सबसे गंभीर विषय है। हम जो भी क़दम उठाते हैं, उसके लिए हमें सभी प्रयास करके तैयारी करनी होगी और गंभीरता बरतनी होगी तथा चीख-पुकार मचाए या महज़ लाचारी व्यक्त किए बिना तैयारी करनी होगी। भारत कोई छोटा सा देश नहीं है। यदि भारत इन बातों पर प्रतिक्रिया देता है, तो उसे सभी आवश्यक क़दम उठाकर गंभीर ढंग से प्रतिक्रिया करनी होगी, उनके बारे में जहाँ तक संभव हो, शोर किए बिना और अपनी मूलभूत इच्छाओं तथा हितों के अनुरूप प्रतिक्रिया करनी होगी।' उन्होंने कहा, 'मुझे संशोधन में ज्ञान या समझ का नितांत अभाव लगता है, इस मामले से इस तरह से निपटा जाना लापरवाही की पराकाष्ठा होगी। जो लोग इस मामले पर बात कर रहे हैं, वे नितांत ग़ैर-ज़िम्मेदाराना तरीक़े से और गंभीरता के अभाव में बात कर रहे हैं, जैसे कि यह मामला कठोर भाषा के प्रयोग द्वारा हल कर लिया जाएगा।'

ज़ाहिर तौर पर अगर प्रधानमंत्री चीनी आक्रामणकर्ताओं को वापस खदेड़ने के लिए जल्दी क़दम उठाने की किसी भी माँग को 'लापरवाही की पराकाष्ठा' समझते हैं, तो इसका सीधा सा अर्थ यह है कि एक 'ज़िम्मेदार भद्रपुरुष' की हैसियत से वह चीखते-चिल्लाते रहेंगे और उस समय तक लाचारी जताते रहेंगे, जब तक चीनी ख़ुद ही वापस नहीं चले जाते या हम स्वयं ही परिस्थिति के यथार्थ के साथ अपना सामंजस्य नहीं बैठा लेते। यह माँग न किसी ने की है, न कोई कर रहा है कि सरकार यह संकेत दे कि वह कौन से सटीक क़दम चीनी चुनौती से निपटने के लिए उठाने जा रही है। लेकिन यह न केवल वांछनीय, बल्कि आवश्यक है कि सरकार अपना रवैया सख़्त करने के बजाय मात्र अपने मूल स्टैंड को पलटने का संकेत दे। घुसपैठियों को अपने क्षेत्र से परे धकेलने के विपरीत चीन के साथ अपनी वार्ता में हम उन बिंदुओं को भी हार चुके हैं, जिनके बारे में प्रधानमंत्री बार-बार पहले कहा करते थे कि उन पर सवाल नहीं किया जा सकता है।

पहले प्रधानमंत्री की निश्चित दृष्टि यह थी कि भारत की सीमाएँ संधियों और परंपराओं द्वारा अच्छी तरह परिभाषित हैं, और कुछ छोटे क्षेत्रों में सीमांकन के सवाल को छोड़कर उन पर विवाद या विचार-विमर्श नहीं किया जा सकता है। लेकिन चीनियों ने इनमें से कोई भी बात स्वीकार नहीं की। इसके विपरीत उन्होंने हमारी समूची उत्तरी सीमाओं पर दावा जताया है और हम दब्बूपन के साथ उनसे बात करने के लिए झुक गए हैं तथा हमने अपने अधिकारियों को डेटा का विश्लेषण करने के लिए भेजा है। चीन के साथ संबंधों में अपने रुख़ में जुलाई 1959 से लेकर जनवरी 1961 तक हमने एक बहुत लंबा रास्ता तय कर लिया है।

भारत सरकार ने भूटान और सिक्किम की सीमाओं पर तिब्बत के साथ चर्चा करने

से मना कर दिया है। ज़ाहिर तौर पर उन्होंने इन रियासतों के साथ हमारी संधियों को मान्यता देने से इनकार कर दिया है। इससे पहले प्रधानमंत्री ने कहा था कि इन क्षेत्रों की अखंडता की रक्षा और उनकी प्रतिरक्षा भारत की ज़िम्मेदारी है। तो फिर हमारे अधिकारियों ने अपने चीनी समकक्षों के साथ उनकी वार्ता में ज़िम्मेदार तरीक़े से व्यवहार क्यों नहीं किया? यदि चीनी इन क्षेत्रों में हमारी ज़िम्मेदारी को मान्यता देने से इनकार करते हैं, तो हमें बातचीत बंद कर देनी चाहिए थी। दृढता की ख़ातिर यह आवश्यक है कि न केवल अपने न्यायपूर्ण दृष्टिकोण को दोहराया जाए, बल्कि अन्यायपूर्ण मुद्दों पर विचार करने से इनकार भी किया जाए।

वैसे भी एक ऐसी स्थिति निर्मित हो चुकी है, जिसमें चीनी चुनौती से मेज़ के इर्द-गिर्द बातें करके या उसके बारे में एक शाब्दिक युद्ध करके नहीं निपटा जा सकता है। कई लोग महसूस करते हैं कि चीनियों को हमारी ज़मीन से तब तक वापस नहीं लौटाया जा सकता है, जब तक हम सैन्य कार्रवाई न करें, और यहाँ तक कि प्रधानमंत्री भी कह चुके हैं कि हम इसके लिए पूरी तरह तैयार हैं। इस कारण, जब वह तैयारियों की बात कर रहे थे, तो उनका आशय हमारी किसी सैन्य कमज़ोरी से नहीं था। लेकिन उनको भय है कि सैन्य हलचल का परिणाम एक बड़े युद्ध में हो सकता है। इस संबंध में मत भिन्न हो सकते हैं। लेकिन पिछले अनुभवों के आधार पर यह मानने का पर्याप्त कारण होने के बावजूद कि इस तरह के मामलों में पंडित नेहरू के निर्णय हमेशा ग़लत रहे हैं, हम फिर एक बार प्रधानमंत्री के निर्णय को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं, बशर्ते वह चीनियों पर प्रभावी दबाव डालने के लिए सैन्य कार्रवाई जैसा कुछ क़दम उठाएँ। हमारे साथ कुछ ग़लत हुआ है, इसका एहसास विश्व को कराने के लिए हमने कूटनीति के क्षेत्र में क्या किया है? अभी तक तो कुछ भी नहीं। चीन के ख़िलाफ़ हमारा विषवमन हमारे देश की चारदीवारों के भीतर ही सीमित है। जब प्रधानमंत्री या हमारे राजनयिक विदेश जाते हैं, तो वे यह भूल जाते हैं कि चीन हमलावर है या यह कि उसने पंचशील के सिद्धांतों का उल्लंघन किया है या यह कि वह एशिया की स्थिरता को अशांत कर रहा है। क्या चीन पर कांग्रेस के संकल्प की पृष्ठभूमि में हम लाओस के संबंध में अपनी नीति का औचित्य सिद्ध कर सकते हैं? क्या तिब्बत की स्वतंत्रता के प्रति हमारे निरंतर विश्वासघात का या संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन प्रवेश पर हमारे आग्रह का कोई औचित्य हो सकता है?

चीन के साथ हमारे राजनयिक संबंधों की पूरी जाँच करके मरम्मत करने की ज़रूरत है। सरकार को यह दरशाना चाहिए कि कांग्रेस ने जो कहा है, उसका तात्पर्य वही है। (अन्यथा हमारे लिए ऐसा निष्कर्ष निकालना सही सिद्ध होगा कि भावनगर कांग्रेस के संकल्प का आशय चीनियों को खदेड़ना नहीं, बल्कि इस देश के लोगों को धोखा देना है। यह चुनौती देश के दुश्मन के लिए नहीं, बल्कि आम जनता की सहज

समझ के लिए है। यह मात्र एक चुनावी जुमला है।)

पिछले आम चुनाव के दौरान हमने कश्मीर मुद्दे पर पाकिस्तान के ख़िलाफ़ इससे भी कठोर शब्द सुने हैं। चीनी ख़तरा केवल तब जाकर वास्तव में गंभीर हुआ, जब केंद्र सरकार के कर्मचारियों ने आम हड़ताल का आह्वान किया। इस प्रकार कांग्रेस और सरकार इस मुद्दे को जनता को भ्रम में डालने के तौर पर उपयोगी भर मानते हैं, और इस कारण लगातार ऐसे क़दम उठाते जाते हैं, जिनमें इसके किसी वास्तविक समाधान से चालाकी से बच निकला जाता है।

चुनावी घोषणा-पत्र प्रस्ताव में गोवा की आज़ादी के सवाल का भी उल्लेख किया गया है। हम जानते हैं कि जब गोवा की स्वतंत्रता बहुत नजदीक थी, तब सरकार ने कैसे धोखा दिया था। गोवा के मुद्दे की तरह चीनी समस्या को भी समय-समय पर कांग्रेस के चुनाव घोषणा-पत्रों में गर्वपूर्ण स्थान दिया जाएगा। यदि सरकार चाहती है कि भारत के लोग और पूरी दुनिया कांग्रेस के संकल्प को महज एक चुनावी नारे के रूप में न ले, तो उसे अपनी नेकनीयती का ठोस प्रमाण देना होगा। हम अगामी महीनों में चीनी चुनौती का सामना करने और आक्रमणकारियों से क्षेत्र को ख़ाली कराने के लिए सरकार के क़दमों पर पूरी चिंता के साथ दृष्टि बनाए रखेंगे।

—ऑर्गनाइज़र, जनवरी 16, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

7

एन.डी.सी. का प्रयोग एक चुनावी मुद्दे के रूप में नहीं किया जाना चाहिए

राष्ट्रीय विकास परिषद् (एन.डी.सी.) ने एक बार फिर प्रदर्शित किया है कि यह योजना के संबंध में निर्णय लेने में आर्थिक उद्देश्यों की तुलना में राजनीतिक और पक्षपातपूर्ण हितों से अधिक निर्देशित होती है। इसकी 10,200 करोड़ रुपए की योजना, जो पहले ही काफ़ी बड़ी है, को बढ़ाकर अब 12,000 करोड़ रुपए का कर दिया गया है। हालाँकि वित्तीय संसाधनों के संबंध में अव्यावहारिक अनुमान लगाने के बाद भी, योजना आयोग इतनी बड़ी राशि एकत्र करने के तरीक़े और साधन सुझाने में विफल रहा है। इस कारण पूरी योजना को दो भागों—वित्तीय और भौतिक—में विभाजित करने का फ़ैसला किया गया है। सार्वजनिक क्षेत्र की योजना का भौतिक लक्ष्य 8000 करोड़ रुपए रखा गया है, जबकि वित्तीय लक्ष्य 500 करोड़ रुपए कम है। प्रधानमंत्री ने योजना के यह दो भाग करने को उचित ठहराने के लिए जो भी कहा हो, उन परियोजनाओं के लिए योजना बनाने का कोई अर्थ नहीं है, जिनके लिए संसाधन न जुटाए जा सकते हों। निस्संदेह, इस तरह के सुर उठे हैं, जिनमें उपलब्धियों को मापने के लिए वित्तीय लक्ष्यों के बजाय भौतिक लक्ष्यों से तुलना करने पर अधिक ज़ोर देने की बात कही गई है। लेकिन वर्तमान भौतिक योजना को माँगी गई योजना से भ्रमित करना ग़लत होगा।

वास्तव में 8,000 करोड़ रुपए की भौतिक योजना का निर्णय जनता को धोखा देने के लिए और शोरगुल करनेवाले मुख्यमंत्रियों को संतुष्ट करने के लिए लिया गया है। ये मुख्यमंत्री अपने राज्य की योजना में किसी भी तरह की कटौती को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। यही स्थिति विभिन्न केंद्रीय मंत्रालयों के साथ थी। लिहाज़ा राष्ट्रीय

विकास परिषद् ने हर किसी की माँगों को स्वीकार कर लिया है। किसी को भी निराश क्यों किया जाए? ज़ाहिर है, योजना लागू करने के लिए नहीं, बल्कि केवल घोषित करने के लिए स्वीकार की गई है। यह तिकड़म स्थिति की आवश्यकताओं की तुलना में चुनावी रणनीति के अनुरूप अधिक है। यदि चुनाव जीता जाना है, तो हर क्षेत्र में लोगों से एक या दो परियोजनाओं का वादा करना ही होगा। और योजना आयोग चाहे कुछ भी सोचे, जब तक आम चुनाव ख़त्म न हो जाएँ, तब तक राष्ट्रीय विकास परिषद् किसी भी वादे को वापस नहीं ले सकती। इस प्रकार हम अफ़रा-तफ़री के आर्थिक उद्यम की उस पूर्वावस्था में फिर पहुँच गए हैं, जो योजना आयोग की नियुक्ति से पहले अस्तित्व में थी।

यह वास्तव में समझ से परे है कि जो राष्ट्रीय विकास परिषद् बच्चों की कारों, चॉकलेटों और रेयान के प्रश्नों पर घंटों बात कर सकती है, उसके एजेंडे में शामिल होने के बावजूद बेरोज़गारी के विषय पर चर्चा करने के लिए समय नहीं मिल सका है। स्पष्ट तौर पर, परिषद् समस्या का सामना करने से मुँह छिपा रही है। वे इस महत्त्वपूर्ण समस्या के संबंध में बिल्ली को देखकर आँखें मूँद लेनेवाले कबूतर की नीति अपनाना पसंद करते हैं।

प्रधानमंत्री एक बार फिर से 'बड़े पैमाने पर योजना बनाने' और भारी तथा बड़े उद्योगों के महत्त्व के अपने पुराने विषय पर लौट आए हैं। वह एक लाइलाज अहंकारोन्मादी बन चुके प्रतीत होते हैं। यह सनक पहले से ही हमें काफ़ी महँगी पड़ चुकी है। इसे और आगे जारी रखा जाना केवल आपदा लाएगा।

वित्तीय संसाधनों के अतिरिक्त, आयोग ने मानव संसाधन की समस्या पर ज़रा भी गंभीरता से विचार नहीं किया है। किसी योजना को पूरा करने के लिए हमें मात्र पैसे की नहीं, बल्कि लोगों की भी ज़रूरत है। लोगों और पैसे के सबसे अच्छे उपयोग के लिए हमें एक संगठनात्मक ढाँचे की आवश्यकता होती है। जब तक हम प्रशासनिक मशीनरी को सक्षम नहीं बनाते हैं और प्रभावी विभाग स्थापित नहीं करते हैं, तब तक सार्वजनिक क्षेत्र की योजनाओं पर भारी परिव्यय का परिणाम केवल बरबादी और भ्रष्टाचार होगा।

यह आवश्यक है कि नियोजन की तकनीक और अवधारणा को मूलभूत स्तर पर संशोधित किया जाए। यदि राष्ट्रीय विकास परिषद् को योजना को चुनाव प्रचार के एक मुद्दे के रूप में ही लेना है और हल्के-फुल्के ढंग से ही निर्णय लेने हैं, तो बेहतर यह होगा कि हम योजना को हमेशा के लिए त्याग दें और देश को विभिन्न प्रकार के उद्यमों के लिए मुक्त छोड़ दें। आर्थिक शक्तियाँ काम करेंगी और यद्यपि उसमें अपव्यय होगा, लेकिन जो बच जाएँगे, वे सबसे अच्छे और क्षेत्र में सबसे योग्य होंगे। इस तरह के नियोजन में बेहतर और अधिक कुशल इकाइयों की क़ीमत पर सबसे अक्षम इकाइयों को टेका देकर खड़ा किया जा रहा है।

नेपाल और भारत के बीच तनाव की वर्तमान स्थिति उन सभी के लिए चिंता का विषय है, जिन्हें इन दो देशों के बीच अटूट संबंधों का अहसास है और जो इन्हें बनाए रखना चाहते हैं। कोइराला सरकार के बर्खास्त[1] किए जाने के बाद जब भारत के प्रधानमंत्री नेपाल के बारे में बोले थे, तो वह तार्किकता की तुलना में आवेग से अधिक संचालित थे। हमारे यह टिप्पणी करने का कोई लाभ नहीं कि नेपाल एक क़दम पीछे गया है या आगे। राजनीतिक बुद्धिमत्ता की आवश्यकता यह है कि हम काल्पनिक दर्शन के स्थान पर इस स्थिति की वास्तविकताओं को समझें और तथ्यों का सामना करें।

इन संबंधों को बिगाड़ने में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी (पी.एस.पी.) और कम्युनिस्टों की बहुत भूमिका रही है। कम्युनिस्ट नेपाल में भारत विरोधी भावनाओं को हवा देने में सबसे आगे रहे हैं। और अब वे भारत में एक नेपाल-विरोधी भावना पैदा करने की कोशिश कर रहे हैं। हम नहीं जानते कि अपदस्थ नेपाल सरकार के साथ पी.एस.पी. की वित्तीय भागीदारी के आरोप में कितना सत्य है, लेकिन यह अजीब बात है कि उनके नेतृत्व ने नेपाल की स्थिति पर प्रतिक्रिया देने में अपरिपक्व नेताओं की तरह व्यवहार किया है।

हालाँकि ये दल और नेता भारत की विशाल जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व बमुश्किल ही करते हैं। अगर भारत के लोगों ने अपने विचार व्यक्त नहीं किए हैं, तो मात्र इसलिए कि वे उस विषय पर किसी का पक्ष लेना नहीं चाहते हैं, जो मुख्य रूप से नेपाल का आंतरिक प्रश्न है। लेकिन नेपाल के लोगों और नेपाल की सरकार के लिए उनके मन में पूरी मित्रता और सद्भावनाएँ हैं। वास्तव में इन दोनों देशों की जनता को एक साथ बाँधने वाले बंधन इतने पुराने और मज़बूत हैं कि कुछ पथभ्रष्ट राजनेताओं के प्रयासों से उन्हें तोड़ा नहीं जा सकता है। यह अच्छी बात है कि नेपाल की ओर से मित्रता के प्रति प्रधानमंत्री को आश्वस्त करने के लिए श्री तुलसी गिरि नई दिल्ली आ रहे हैं। प्रधानमंत्री को इस मित्रतापरकता का प्रत्युत्तर देना चाहिए और इस प्रकार उन भावनाओं को आधिकारिक अभिव्यक्ति देनी चाहिए, जो पहले से ही भारत के लोगों के मन में मौजूद है।

—ऑर्गनाइज़र, जनवरी 23, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

---

1 बिश्वेश्वर प्रसाद कोइराला (1914-1982) 1959 से 1960 तक नेपाल के प्रधानमंत्री थे। उन्होंने सामाजिक जनतांत्रिक राजनीतिक दल नेपाली कांग्रेस का नेतृत्व किया। कोइराला पहली बार जनतांत्रिक पद्धति से निर्वाचित नेपाल के 22 वें प्रधानमंत्री थे। वह सत्ता से अपदस्थ किए जाने और राजा महेंद्र के आदेश पर बंदी बनाए जाने से पहले मात्र 18 माह तक प्रधानमंत्री रहे।

8

राष्ट्रवाद एक जीवंत संकल्पना है

शिक्षा मंत्रियों के पिछले सम्मेलन में लोगों में राष्ट्रीय चेतना की गिरावट पर चिंता व्यक्त की गई थी और युवा लोगों में राष्ट्रीय चेतना के निर्माण के तरीक़े और उपाय सुझाने के लिए एक समिति गठित करने का निर्णय लिया गया था। ऐसे समाचार हैं कि डॉ. संपूर्णानंद[1] ने इस समिति का प्रमुख बनने के लिए सहमति दे दी है। यद्यपि युवा लोगों में शिक्षा प्राप्ति के साथ-साथ राष्ट्रवाद को जाग्रत् करनेवाले कार्यक्रमों की महत्ता और आवश्यकता पर कोई भी प्रश्न नहीं कर सकता है, लेकिन डॉ. संपूर्णानंद की अध्यक्षता के बावजूद प्रस्तावित समिति वास्तव में कोई प्रभावी प्रस्ताव दे सकेगी, यह संदिग्ध है। वास्तव में हमें सबसे पहले राष्ट्रवाद की मूल अवधारणा के बारे में स्पष्ट होना होगा। दुर्भाग्य से भारत में हमारे राष्ट्रीय स्व के बारे में बहुत भ्रम रहा है। राष्ट्रवाद के नाम पर पिछली अर्धसदी के दौरान के प्रयासों ने वास्तव में राष्ट्रवाद की जड़ों पर प्रहार किया है और एक बहुत बड़े पैमाने पर लोगों का अ-राष्ट्रीयकरण किया है। वर्तमान परिस्थितियाँ हमारे अतीत की शैक्षणिक, राजनीतिक और सामाजिक नीतियों का परिणाम हैं, और जब तक हम उन्हें संशोधित करने के लिए तैयार न हों, तब तक भविष्य के लिए कोई उम्मीद नहीं है।

इस सरकारी समिति के साथ-साथ कांग्रेस ने भी राष्ट्रीय एकात्मता के प्रश्न पर विचार करने के लिए श्रीमती इंदिरा गांधी की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया है। हाल ही में घोषित इस समिति के सदस्यों से स्पष्ट रूप से संकेत मिलता है कि इस पूरी योजना के पीछे (मूल धारणा) राष्ट्रीय समेकन के बजाय सांप्रदायिक तुष्टीकरण है।

---

1. डॉ. संपूर्णानंद (1891-1969) एक शिक्षक और उत्तर प्रदेश में राजनीतिज्ञ थे। वह 28 दिसंबर, 1954 से 7 दिसंबर, 1960 तक उत्तर प्रदेश के दूसरे मुख्यमंत्री रहे।

जहाँ शिक्षा मंत्री राष्ट्रवाद के बारे में क्षेत्रीय आधार पर सोचते हैं, वहीं कांग्रेस कार्य समिति इस पर सांप्रदायिक और पंथवादी तर्ज़ पर विचार करती है। लेकिन राष्ट्रवाद न तो प्रदेशों का संघ है और न ही समुदायों का समूह है। यह एक जीवंत अवधारणा है और क्षैतिज या ऊर्ध्वगामी आधारों पर इसका कोई उपवर्गीकरण और इसके खंडों को मान्यता देना या उन पर बल देना, पूरी अवधारणा को ही विरूपित करना होता है। अंश का पूर्ण के प्रति समर्पण राष्ट्रवाद की आवश्यकता है। मात्र यही उदात्तीकरण है। लेकिन जब आप अंशों पर अधिक-से-अधिक ज़ोर और मुख्य आग्रह देते हैं, तो इसका अर्थ राष्ट्रवाद के लिए केवल ज़ुबानी जमाख़र्च करने की क़ीमत माँगना और उस क़ीमत का भुगतान करना होता है। घटक अंशों को महसूस होता है कि उनके लिए अपनी पहचान अलग रखना ही ज़्यादा मुनाफे का सौदा है, और इस तरह राष्ट्रीय पहचान उभरने और विविध तरीक़ों से प्रकट होने के बजाय विभक्त होना और टुकड़ों में बिखरना शुरू हो जाती है! पूर्ण के प्रति इन अंशों की निष्ठा कृत्रिम, राजनीतिक और तिकड़म जैसी हो जाती है।

यदि हम राष्ट्रीय चेतना का निर्माण करना चाहते हैं, तो हमें पहले इसकी प्राचीन जड़ों को मान्यता देनी होगी, हमें अपने आप को इस ग़लत धारणा से मुक्त करना होगा कि भारत में राष्ट्रवाद ब्रिटिश शासन की अधीनता में या भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ शुरू हुआ है। गांधीजी के प्रति पूरे सम्मान के साथ हमें उनको 'राष्ट्रपिता' कहना बंद करना होगा। अगर उन्हें भारतमाता के एक महान् पुत्र के रूप में पुकारा जाए, तो यह अधिक सम्मानीय होगा। यदि हम राष्ट्रवाद के इस पुराने आधार को समझते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह हिंदुत्व के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। वास्तव में हिंदुत्व अकेला ही भारत के चालीस करोड़ लोगों को बाँधता है। सभी उपखंड फ़ीके पड़कर निरर्थक हो जाते हैं, जब उन्हें अहसास होता है कि वे हिंदू हैं। अगर कोई इतिहास ऐसा है, जो हमें प्रेरणा देता है और हमारे संबंधों को मज़बूत कर सकता है, तो यह हिंदू इतिहास है। अगर कोई संस्कृति है, जो हमारी सभी स्पष्ट विविधताओं को एक वास्तविकता और एकता दे सकती है, अगर कोई भी ऐसा जीवन है, जो राष्ट्रीय जीवन कहा जा सकता है, तो वह हिंदू जीवन है। अगर इस देश में ऐसे लोग हैं, जो हिंदुत्व के दायरे के बाहर हैं, तो राष्ट्रवाद के हित में यह उनका कर्तव्य है कि वे हिंदू जीवन शैली का अनुकरण करें और उसमें शामिल हों। हालाँकि यह स्पष्ट रूप से समझ लिया जाना चाहिए कि हिंदुत्व स्वयं को न तो किसी विशेष पूजा पद्धति से बाँधता है और न ईश्वर प्राप्ति की किसी विधि से।

क्या समिति में इतना साहस होगा कि वह उन सभी मूर्तियों को खंडित करने का सुझाव दे सके, जिन्हें कांग्रेस के शीर्ष नेतृत्व द्वारा इतने शौक से और इतने लंबे समय से बाज़ार भर में सजाया गया है। यदि वह ऐसा कर सकी, तो यहाँ ऐसी सैकड़ों पुरानी संस्थाएँ और परंपराएँ मौजूद हैं, जिनका प्रयोग राष्ट्रीय चेतना के संरक्षण और प्रोत्साहन में किया

जा सकता है। हमें नए तरीक़े खोजने की आवश्यकता नहीं है, हमें पुराने तरीक़ों की खोज करनी होगी। पुराने ऋषि, शंकराचार्य, अवतार, स्मृतिकार, संत और कवि ऐसा बहुत कुछ कर गए हैं, जिससे हम एक राष्ट्रीय जीवन जी सकें। अगर हम आज इस तरह का जीवन जी रहे हैं, तो ऐसा कांग्रेस के प्रयासों के बूते नहीं, बल्कि कांग्रेस के प्रयासों के बावजूद है। आवश्यकता है तो मात्र लोगों का अ-राष्ट्रीयकरण करने की, उनकी गति को रोकने की। हमारे युवा लड़कों और लड़कियों में कोई ख़राबी नहीं है। नेतागण जो महसूस कर सकते हैं, अगर उसे साहसपूर्वक स्वीकार कर सकें और खुलेआम अपना सकें, तो आनेवाली पीढ़ी निश्चित रूप से भारतीय राष्ट्रवाद की जीवनशक्ति का प्राकट्य करेगी।

—ऑर्गनाइज़र, जनवरी 30, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

9

राष्ट्रमंडल की सदस्यता हमारी प्रभुसत्ता का उपहास

इंग्लैंड की महारानी एलिज़ाबेथ द्वितीय अपने पति एडिनबरा के ड्यूक राजकुमार फिलिप्स के साथ भारत, पाकिस्तान और नेपाल की यात्रा के लिए 20 जनवरी को लंदन से चलकर 21 जनवरी को नई दिल्ली पहुँच गईं। नई दिल्ली में उनका शाही स्वागत किया गया। शासन ने स्वागत की तैयारियाँ कई सप्ताह पूर्व प्रारंभ कर दी थीं; जनता ने भी सहयोग दिया। हिंदुस्तान टाइम्स के अनुसार 15 लाख और आकाशवाणी के अनुसार 10 लाख लोग इस अवसर पर एकत्र थे।

नई दिल्ली के लिए विदेशी राजप्रमुखों का स्वागत नया नहीं है। इंग्लैंड की महारानी के पूर्व अन्य अनेक देशों के प्रधान, राष्ट्रपति अथवा महाराजा भारत आ चुके हैं। अमरीका के राष्ट्रपति आइज़नहावर एवं रूस के प्रधानमंत्री बुल्गानिन और ख्रुश्चेव भी अपने कार्यकाल में भारत यात्रा कर गए हैं। उनका स्वागत भी बड़े उत्साह और तैयारी के साथ किया गया था तथा उस समय वह अभूतपूर्व ही समझा गया था। महारानी का स्वागत उससे कुछ और दो क़दम आगे बढ़कर किया जा रहा है। इसके पीछे पुराने अनुभवों से लाभ तथा हर काम पहले से अच्छा करके दिखाने की भावना काम कर रही हो तो हम उसकी प्रशंसा ही करेंगे। साथ ही हम यह भी नहीं भुला सकते कि वे केवल एक देश की राजप्रमुख ही नहीं, महारानी हैं। उन्हें कितना भी सादगीपसंद कहा और समझा जाए, राजनयिक दृष्टि से वे अन्य देशों, विशेषकर गणराज्यों के प्रमुखों की अपेक्षा अधिक शान-शौक़त की आदी हैं। अतः उनका स्वागत उस स्तर पर ही करना होगा। फिर महिला होने के कारण उनके स्वागत और सम्मान में अधिक ध्यानपूर्वक व्यवहार की सभी से स्वाभाविक अपेक्षा है। किंतु व्यवहार में इनसे कुछ अधिक और

भिन्न भावनाएँ काम करती हुई दिखाई दे रही हैं।

महारानी एलिज़ाबेथ केवल इंग्लैंड की महारानी ही नहीं, राष्ट्रमंडल की अध्यक्षा भी हैं। भारत राष्ट्रमंडल का एक सदस्य है। अत: उसके लिए आवश्यक है कि वह अपनी अध्यक्षा का यथोचित सत्कार करे। किंतु महत्त्व का प्रश्न है कि राष्ट्रमंडल के सदस्य के नाते भारत और ग्रेट-ब्रिटेन के पारस्परिक संबंध क्या है? क्योंकि उसी आधार पर यह निर्णय हो सकेगा कि हमारे 'यथोचित' सत्कार की कौन सी मर्यादाएँ हैं? जहाँ तक जनता की भीड़, समाचार-पत्रों की उत्सुकता और शासन के उत्साह का संबंध है, वे इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते। विभिन्न कारणों से इनमें अतिरेक हो सकता है, किंतु भारतीय गणराज्य से इंग्लैंड की महारानी का क्या संबंध है, इसका निश्चय होना चाहिए। क्योंकि राजनयिक शिष्टाचार इसी बात पर निर्भर करता है।

राष्ट्रमंडल की कहीं भी कोई सुनिश्चित व्याख्या नहीं की गई। अत: वैधानिक दृष्टि से वह एक अस्पष्ट सी कल्पना है। भारत के गणराज्य बनने तथा राष्ट्रमंडल की सदस्यता स्वीकार करने के पूर्व तक जो उसके स्वरूप की कल्पना मान्य थी, वह 1926 के बालफोर घोषणा के अनुसार निम्नलिखित थी—"वे (राष्ट्रमंडल के सदस्य) ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वायत्त राष्ट्र हैं, प्रतिष्ठा में समान तथा अपने आंतरिक मामलों या विदेशी संबंधों में किसी भी प्रकार एक-दूसरे के अधीन नहीं हैं, यद्यपि ब्रिटिश राजमुकुट के प्रति समाननिष्ठा से बँधे हैं और ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के सदस्य के नाते स्वतंत्रतापूर्वक संबद्ध हैं।"

महारानी की भक्ति का परिणाम

किंतु रावी के तट पर जब कांग्रेस ने पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव भी स्वीकृत किया तो उसे यह मान्य नहीं था। इसमें समानता नहीं अपितु अधीनता थी। वर्तमान राष्ट्रमंडल निश्चित ही इससे भिन्न है। उक्त घोषणा में से अब अटोनोमस (स्वायत्त), एलीजेंस (निष्ठा) एवं ब्रिटिश शब्द निकाल दिए गए हैं। अब ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के स्थान पर केवल राष्ट्रमंडल शब्द रह गया है तथा राज सिंहासन के प्रति निष्ठा के स्थान पर उसे समान संबंधों के प्रतीक के नाते राष्ट्रमंडल का अध्यक्ष स्वीकार किया गया है; स्वायत्तता का स्थान स्वतंत्रता ने ले लिया है। डॉ. राधाकृष्णन ने राष्ट्रमंडल की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की है—"हम राष्ट्रमंडल का अर्थ समझते हैं पूर्ण स्वतंत्रता तथा अनौपचारिक संबंध, आदर्शों की न कि अधीनता की, उद्देश्यों की न कि निष्ठाओं की साझेदारी, सहविचार जिसमें से अपनी समस्याओं का अधिक अच्छा आकलन न कि राष्ट्र-सदस्यों की स्वतंत्रता को मर्यादित करनेवाले बंधनकारी निर्णय उद्भूत हों।"

निश्चित ही दोनों कल्पनाओं में अंतर है, और संभवत: उसी आधार पर भारत ने

राष्ट्रमंडल में रहना स्वीकार किया। किंतु महारानी के आगमन तथा भारत शासन द्वारा प्रयुक्त राजनयिक शिष्टाचार ने हमें यह सोचने पर विवश कर दिया है कि यह संबंध 1926 की घोषणा से मूलतः भिन्न है भी या नहीं? यह हो सकता है कि निर्णय का अधिकार हमें ही सौंप दिया गया हो, किंतु हमने यही निर्णय लिया जो कि अंत में बंधनकारी ही सिद्ध हो! राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने महारानी का पालम हवाई अड्डे पर स्वागत करते हुए भारत और ब्रिटेन के दो सौ वर्षों के संबंध एवं ब्रिटिश विचारों का भारत के जीवन और संगठनों पर प्रभाव का उल्लेख किया है। यह तो ठीक है कि स्वतंत्र भारत पर कोई बंधन नहीं कि वह अंग्रेज़ी को स्वीकार करे अथवा अपनी राजनीति इंग्लैंड की परंपराओं के अनुसार चलाए। पर हम स्वेच्छा से ही (यदि कुछ बंधन हैं तो वे विदित नहीं) महारानी की भक्ति करने को उद्यत हुए हैं, किंतु उसका परिणाम हमारे लिए बंधनकारी ही होगा।

—पाञ्चजन्य, जनवरी 30, 1961

□

10

भारत और रानी

नई दिल्ली को अब तक कई बार अन्य देशों के प्रधानों का स्वागत करने का अवसर मिल चुका है। रानी एलिज़ाबेथ द्वितीय इस शृंखला में प्रथम नहीं हैं। अमरीकी राष्ट्रपति श्री आइज़नहावर और सोवियत रूस के प्रधानमंत्री मार्शल बुल्गानिन और श्री वोरोशिलोव भी अपने-अपने कार्यकाल में यहाँ आ चुके हैं। उनका स्वागत भव्यता से किया गया। रानी के और भी अधिक भव्य स्वागत का प्रबंध किया गया है। यदि इसके पीछे केवल सामान्य इच्छा रहती कि हर अगला कार्यक्रम पिछले कार्यक्रम से बढ़कर हो तो शायद ही किसी को कोई आपत्ति होती, बल्कि इसको पसंद ही किया जाता। इसे भुलाया नहीं जा सकता कि एलिज़ाबेथ द्वितीय केवल एक देश की प्रधान ही नहीं हैं, बल्कि रानी भी हैं। चाहे उन्हें कितना भी सादगी-पसंद बताया जाए और माना जाए, पर वे अन्य देशों के प्रधानों, विशेषकर जनतांत्रिक देशों के प्रधानों की तुलना में अधिक तड़क-भड़क की अभ्यस्त हैं। इस तथ्य के कारण कि वे एक महिला भी हैं, स्वागत की अधिक गरिमामय तैयारी की अपेक्षा की जाती है। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि रानी के प्रति भारत सरकार का व्यवहार कुछ अन्य बातों पर आधारित है।

रानी एलिज़ाबेथ केवल इंग्लैंड की रानी नहीं हैं बल्कि राष्ट्रमंडल की प्रधान भी हैं। भारत राष्ट्रमंडल का एक सदस्य है। इसलिए रानी का स्वागत उनके पद के अनुरूप करना पड़ा है। पर एक प्रासंगिक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राष्ट्रमंडल के सदस्य के रूप में भारत और ग्रेट ब्रिटेन के ठीक-ठीक संबंध क्या हैं? यह प्रश्न ही वह आधार है, जिसपर यह निर्णय करना संभव हो सकेगा कि इस प्रकार के 'उपयुक्त स्वागत' की बाध्यता क्या है?

राष्ट्रमंडल की कोई ठीक-ठीक परिभाषा उपलब्ध नहीं है। संवैधानिक रूप से इसकी धारणा अस्पष्ट है। भारत के गणतंत्र बनने और राष्ट्रमंडल की सदस्यता स्वीकार करने के पूर्व इस धारणा की व्याख्या 1926 की बालफोर-घोषणा[1] द्वारा इस प्रकार की जाती थी—

"वे (राष्ट्रमंडल के सदस्य) ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वायत्तता-प्राप्त देश हैं, समान प्रतिष्ठा-प्राप्त हैं, और आंतरिक विषयों में एवं विदेशों के साथ संबंध के बारे में एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं, यद्यपि वे ब्रिटिश ताज के प्रति सामान्य राजभक्ति के भाव से बँधे हुए हैं और ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के सदस्यों के रूप में एक-दूसरे से उन्मुक्त भाव से संयुक्त हैं।"

जब कांग्रेस ने रावी के तट पर पूर्ण स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा ली थी,[2] तब यह भावना अस्वीकार्य थी। यह समानता की नहीं, परतंत्रता की संयुति थी। इसमें संदेह नहीं कि आज का राष्ट्रमंडल उससे अलग है। पूर्वोक्त घोषणा में 'स्वायत्त' के स्थान पर 'स्वतंत्र' शब्द कर दिया गया है और 'ब्रिटिश' तथा 'राजभक्ति' शब्द हटा दिए गए हैं, ब्रिटिश ताज को राष्ट्रमंडल का प्रधान स्वीकार किया गया है, किंतु ऐसा केवल उसके सदस्यों की 'समान संयुति' के प्रतीक के रूप में किया गया है।

डॉ. राधाकृष्णन ने राष्ट्रमंडल की व्याख्या करते हुए इसे एक 'स्वतंत्र और अनौपचारिक संयुति' बताया है, जो निर्भरता की नहीं आदर्शों की भागीदारी, निष्ठाओं की नहीं लक्ष्यों की भागीदारी है, और जहाँ संयुक्त विचार-विमर्श के द्वारा ऐसे निर्णय किए जा सकते हैं, जिनसे समस्याओं को भली-भाँति समझा जा सकता है, परंतु जिनसे सदस्य राष्ट्रों की स्वतंत्रता सीमित नहीं हो सकेगी।

किंतु रानी की यात्रा, और विशेषकर इस अवसर पर सरकार द्वारा जिस राजकीय शान-शौकत का पालन किया गया, उसे देखकर हम लोगों को इस बात पर पुनर्विचार करने को विवश होना पड़ रहा है कि क्या यह नया संबंध पुराने संबंध से मूल रूप से अलग है? 'गणतंत्र दिवस परेड' के अवसर पर राष्ट्रपति की राजकीय यात्रा में वे उनके साथ बनी रहीं। राष्ट्रपति-भवन के ऊपर रानी का झंडा राष्ट्रपति के झंडे के साथ फहराता रहा। किंतु जहाँ तक हमारा संबंध है, क्या राष्ट्रमंडल का प्रधान हमारे राष्ट्रपति

---

1. 18 नवंबर, 1926 को लंदन में आयोजित ब्रिटिश साम्राज्यवादी नेताओं के सम्मेलन में राष्ट्रमंडल को वैधानिक स्वरूप प्रदान करने के लिए यूनाइटेड किंगडम के भूतपूर्व प्रधानमंत्री अर्थर बालफोर ने मसौदा प्रस्तुत किया, जिसे 1930 में कुछ संशोधनों के पश्चात् 11 सितंबर, 1931 को ब्रिटिश संसद् ने मान्यता दी थी।
2. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का 1929 का वार्षिक अधिवेशन लाहौर में रावी नदी के तट पर हुआ था, इसकी अध्यक्षता करते हुए पं. नेहरू ने पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव रखा, यह प्रस्ताव ध्वनिमत से पारित हो गया। इसके पश्चात् 31 दिसंबर, 1929 की आधी रात को पूर्ण स्वराज की माँग के साथ भारतीय स्वाधीनता का तिरंगा फ़हराया गया था।

से श्रेष्ठ या उनके समकक्ष है?

चाहे जितनी बार, चाहे जितना भव्य स्वागत करने की इच्छा हो, रानी का स्वागत होने दें, परंतु हमारे गणतंत्र-दिवस के समारोहों में राष्ट्रपति के साथ-साथ रानी का भाग लेना निश्चय ही हमारे गणतंत्र और हमारी स्वतंत्र स्थिति का न्यूनीकरण है। रानी के प्रति हमारे आदर और प्रेम की अभिव्यक्ति के अनेकानेक मार्ग हैं, किंतु हम उन्हें कदापि वह स्थान नहीं दे सकते, जो भारतीय गणतंत्र के केवल प्रथम नागरिक का है। यदि हम वैसा करते हैं तब राष्ट्रमंडल के साथ हमारा संबंध समानता का नहीं, बल्कि दासता का है। ऐसी स्थिति हमारी सार्वभौमता के विपरीत है। इसे बदलना पड़ेगा।

—पाञ्चजन्य, फरवरी 6, 1961

□

11

पृथक् और पृथकतावादी कश्मीर संविधान रद्द किया जाए!

दीनदयालजी जम्मू प्रांत की छह दिन की यात्रा पर थे। वहाँ उन्होंने राज्य प्रजा परिषद् के तत्त्वावधान में एक बैठक को संबोधित किया। दीनदयालजी का वक्तव्य।

कश्मीर के प्रधानमंत्री (प्रीमियर) बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद को राज्य के पृथक् संविधान को रद्द कर देना चाहिए और संपूर्ण जम्मू-कश्मीर में भारतीय संविधान लागू करना चाहिए और इस प्रकार जम्मू-कश्मीर के भारत में परिग्रहण को पूर्ण एकीकरण में परिवर्तित करने का सम्मान अर्जित करना चाहिए।

प्रजा परिषद् कश्मीर और शेष भारत के बीच वर्तमान एकता के लिए प्रजा परिषद् को ज़िम्मेदार मानती है। नेशनल कॉन्फ्रेंस ऐसी एकता में विश्वास नहीं करता।

यह कहने के ख़तरनाक निहितार्थ हैं कि कश्मीर का भारत में परिग्रहण नेशनल कॉन्फ्रेंस द्वारा 6 फरवरी, 1954 को हासिल किया गया था, और न कि महाराजा हरि सिंह द्वारा 26 अक्तूबर, 1947 को। नेशनल कॉन्फ्रेंस 6 फरवरी को परिग्रहण दिवस का वार्षिक उत्सव मनाकर संयुक्त राष्ट्र में हमारे पक्ष को कमज़ोर कर रही है।

'लद्दाख पर हुए आक्रमण से न निपटने के लिए' भारत सरकार की तुलना में कश्मीर सरकार अधिक दोषी थी। आक्रमण को दिए गए इस उकसावे की जाँच किए जाने की आवश्यकता है।

हमारी बहादुर सेना नहीं, बल्कि यह भारत सरकार है, जो राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए चुनौती का सामना करने से डर रही है।

—ऑर्गनाइज़र, फरवरी 15 , 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

12

प्रेग नगर[1] का ख़ूनी स्कूल

कांगो के प्रश्न ने विश्व की दृष्टि अपनी ओर लगा ली है। बेल्जियम के साम्राज्यवादी चंगुल से मुक्त हुए इस देश में अब प्रजातंत्र का उदय होकर सैकड़ों वर्षों से पद-दलित दरिद्र और पिछड़ी हुई जनता उत्कर्ष, अभ्युदय की राह पर अग्रसर होगी, ऐसी अपेक्षा थी; किंतु आज इन सभी आशावादी मधुर कल्पनाओं को अराजकता ने एक ज़बरदस्त धक्का दिया है। कांगो के अंदर आज दानवीय ध्वंस मचा हुआ है। विश्व के दोनों गुट षड्यंत्र कर अपना आधिक्य स्थापित करने के लिए बहुत दिनों से षड्यंत्र चला रहे हैं। चाहे जिस मार्ग से भिन्न-भिन्न देशों में कम्युनिस्ट सत्ता स्थापित करने के प्रयत्न चल रहे हैं। एशिया और चीन क्या चाहता है, यह वियतनाम, लाओस, नेपाल आदि देशों में घटित गत वर्षों की घटनाओं से, हंगरी, पोलैंड और पूर्व जर्मनी के विद्रोह से और अभी-अभी भारत की उत्तरी सीमा के प्रश्न से स्पष्ट हो गया है। स्वतंत्र जनता के अज्ञान का दारिद्र्य और आपसी झगड़े का लाभ उठाकर प्रत्येक देश में आंतरिक विद्रोह कराना कम्युनिस्टों का तंत्र हो गया है। वर्षों से पारतंत्र्य की शृंखला में बद्ध अफ्रीका महाखंड भी कम्युनिस्टों के इस षड्यंत्र से मुक्त कैसे रहता? कांगो से हज़ारों मील दूर चेकोस्लोवाकिया के प्रेग नगर में रशियन गुप्तचर विभाग द्वारा स्थापित (एम.व्ही.डी.) ख़ूनी स्कूल में ही (एसैसिनेशन स्कूल) कांगो में अराजकता फैलाने का शिक्षण हुआ है, यह बात कितनों को पता है? किंतु यह इतिहास सत्य है।

ख़ूनी स्कूल

अफ्रीका महाखंड में सर्वत्र फैले रशियन गुप्तचर विभाग के केंद्रों में अफ्रीकी

1. प्रेग नगर चेकोस्लोवाकिया में स्थित है। यद्यपि यह कांगो से हज़ारों मील दूर है, परंतु रशियन गुप्तचर विभाग द्वारा स्थापित वह ख़ूनी स्कूल यहीं पर चालू किया गया, जिसमें प्रशिक्षण-प्राप्त युवकों ने कांगो में अराजकता पैदा कर दी।

नवयुवकों को भरती करने का कार्य माइकेल आरलोव्ह नाम के एक छँटे हुए शैतान की ओर है। अफ्रीका की कम्युनिस्ट पार्टी राजनीतिक ख़ून तथा तोड़-फोड़ आदि करने के लिए जिन तरुणों की सिफारिशें करती है, उनकी जाँच कर प्रेग के उपर्युक्त स्कूल में भेजने का अति कठिन काम माइकेल करता है। कर्नल अलेक्ज़ेंडर इस स्कूल का प्रमुख है। उसके कड़े अनुशासन में कुछ महीने शिक्षा ग्रहण कर ये तरुण अपने स्थान को वापस आकर बड़े उत्साह के साथ और निष्ठापूर्वक अपनी देशघाती कार्रवाइयाँ प्रारंभ करते हैं। प्रेग नगर के बाहर यह स्कूल है। यह स्कूल पहले मार्क्स स्वोबोडो नाम के काँच के एक बड़े कारख़ाने के मालिक का था, जो कि आलीशान महल था। एम.व्ही.डी. की इस प्रासाद की ओर दृष्टि घूमी। 1956 के प्रारंभ में चेकोस्लोवाकिया के गुप्तचर विभाग ने इस पर छापा मारकर बनावटी नोट तैयार करने का तथाकथित कारख़ाना ढूँढ़ निकाला। स्वोबोडो जनता का शत्रु घोषित हुआ और एक दिन उसको दुनिया से कूच करा दिया गया। उसके पश्चात् स्वाभाविक ही वह महल सरकार का हो गया। इस महल के चारों ओर घने वृक्ष हैं। एम.व्ही.डी. के अधिकार में आने पर कर्नल अलेक्ज़ेंडर ने उसको पूर्ण रूप से बदल दिया। महल की खुली खिड़कियों में छड़ लगे। अलेक्ज़ेंडर ने दीवानखाने की कचहरी के तहख़ाने को साउंड प्रूफ कर वहाँ निशाना लगाने की शिक्षा देने की व्यवस्था की और चारों ओर तारों से घेरकर चौबीसों घंटे उसमें बिजली दौड़ाने की व्यवस्था हुई। हरे-हरे 'लान' के स्थान पर दो और मकान खड़े किए गए। एक मकान में जिमनेजियम और दूसरे में शिक्षार्थियों के ठहरने की व्यवस्था की गई। महल के चारों ओर संतरी चौबीसो घंटे गश्त लगाने लगे।

जहाँ गला घोंटने, चाकू मारकर प्राण लेने की ट्रेनिंग दी जाती है

इस स्कूल में अफ्रीका महाखंड के कांगो, ब्रिटिश कैमरून, फ्रेंच इकैटोरियल अफ्रीका, सूडान आदि देशों के 20 विद्यार्थियों की पहली टुकड़ी दाखिल हुई। इस शिक्षा को प्राप्त करने के लिए कांगो से गोटोना नाम का 25-26 वर्ष का एक तरुण आया था। स्टेनलेव्हिले से 80 मील दूर इसांगी नदी पर होने वाले नाव के यातायात में सामान चढ़ाने-उतारने वाली एक कंपनी में यह फोरमैन था। उसने लुलुआ नाम की मातृभाषा की शिक्षा प्राप्त की थी। शरीर से गोटोना ऊँचा-पूरा और मज़बूत था, साथ ही बुद्धिमान और महत्त्वाकांक्षी भी था। मेकैनिक होने की उसकी प्रबल इच्छा थी। गोटोना सरीखे योग्य तरुणों पर दृष्टि रखकर उनको अपने जाल में फँसाने का कार्य आरलोह्व के हस्तक सहायबाया की ओर था। सहायबाया वहाँ कपास का निर्यात करने के कार्य का बहाना

बनाकर रहता था। वह बड़ा दिलचस्प कार्य था। उसके बँगले पर समय-समय पर बड़ी-बड़ी दावतें उड़ती थीं और ऐसे प्रसंग पर वह अपने 'शिकार' को भी बुलाता था। भोला गोटोना शीघ्र ही उसके जाल में आ फँसा। "परकीय सत्ता उलटने के पश्चात् तुमको भी मेरे जैसा सुख मिलेगा किंतु उसके लिए लड़ना होगा और सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर उसको उलटना होगा," ऐसा एक दिन सहायबाया ने गोटोना से कहा।

"किंतु मैं अकेला क्या कर सकता हूँ? इतने प्रबल शत्रु से कैसे सामना करूँगा? हमें कौन सहायता करेगा?" वह बोला। "गोटोना, तुमको चिंता करने की आवश्यकता नहीं है। इन तरुणों का नेतृत्व करने योग्य तू है। किंतु इसके लिए तुझको विदेश जाकर गुरिल्ला युद्ध की शिक्षा लेनी होगी। है तेरी तैयारी?"

"हाँ है। किंतु कहाँ, किस देश में?"

"चेकोस्लोवाकिया में। चिंता मत करो, तेरे समान 20-25 तरुण तेरे साथ शिक्षा ग्रहण करने जा रहे हैं।"

"किंतु यह चेकोस्लोवाकिया है कहाँ?"

"समय आने पर वह भी ज्ञात हो जाएगा।"

गोटोना जिस प्रकार भरती हुआ, उसी प्रकार ब्रिटिश कैमरून का दुआला, सूडान का हेनरी आँचू और इनके समान अन्य कुछ लोग ओरलोव्ह के साथ एक दिन रशियन इल्युसिन हवाई जहाज़ से प्रेग में दाखिल हुए।

प्रेग स्कूल के प्रत्येक विद्यार्थी को एक चारपाई, आलमारी, एक डेस्क और उत्तम कपड़े दिए गए। प्रत्येक को स्वाहिली भाषा में दो पुस्तकें भी दी गईं। एक पुस्तक का नाम था 'क्लास वारफेयर'। रशियन गुप्तचर विभाग के जनक फैलिक्स पराशियन्स्की द्वारा यह लिखी गई थी। 'टैक्टिस एजिटेशन एंड सबोटेज', यह दूसरी पुस्तक का नाम था। स्वयं कर्नल अलेक्ज़ेंडर ने इसको लिखा था। इस स्कूल में किस प्रकार की शिक्षा दी जाने वाली है, इसकी कल्पना गोटोना और उसके मित्रों को हो गई। गुरिल्ला युद्ध के दाँव-पेंच, तोड़-फोड़ करना, जनता में क्षोभ कैसे निर्माण करना चाहिए, झगड़े कैसे शुरू करना चाहिए आदि सबका विधिवत् शिक्षण उनको दिया गया। आवाज़ न करते हुए, पल भर में किस प्रकार किसी का ख़ून करना चाहिए, इसका भी प्रतिदिन आधा से डेढ़ घंटा अभ्यास कराया जाता था। यह शिक्षा 'एम.व्ही. डीज़ सीक्रेट हैंडबुक फॉर चिस्ट काज़ (पर्जर्स)' पुस्तक के आधार पर दी जाती है। इस पुस्तक में चाकू, छुरे अथवा दूसरे तीक्ष्ण शस्त्र से ख़ून कैसे करना चाहिए—इसका तंत्र दिया जाता है। गला घोंटकर ख़ून करना, गरदन मरोड़कर मारना भी उसमें बताया गया है।

परीक्षा

इस प्रकार लगातार अनेक सप्ताह तक सब प्रकार की शिक्षा देने के पश्चात् विद्यार्थियों की परीक्षा ली जाती है। चेकोस्लोवाकिया की जेल में फाँसी की प्रतीक्षा करनेवाले कैदियों पर मध्य रात्रि के पश्चात् ये प्रयोग किए जाते हैं। उम्मीदवार को इसके लिए तैयार करते हैं। यह देखने के लिए ख़ून करने के पूर्व और ख़ून करने के पश्चात् उसकी नाड़ी, छाती की धड़कन आदि देखी जाती है। ख़ून करने के पश्चात् भी छाती की धड़कन में यदि फ़र्क़ नहीं आया तो वह ख़ून करने का पात्र समझा जाता है, ख़ून करने के पूर्व और पश्चात् 'रक्तचाप' कितना है, इसकी डॉक्टर परीक्षा करता है। गोटोना और उसके सहकारियों को भी परीक्षा देनी पड़ी। उसमें वे उत्तम रीति से उत्तीर्ण भी हो गए। रशिया द्वारा निर्मित ख़ूनी स्कूलों में इस प्रकार ख़ूनी तरुणों का अधिकाधिक संख्या में निर्माण होता है।

शिक्षा का प्रभाव

गोटोना और उसके मित्रों की शिक्षा समाप्त होने पर गत वर्ष 11 अक्तूबर को उनकी अपने-अपने देश रवानगी हुई। सीधा-साधा गोटोना अब छँटा हुआ ख़ूनी था, वह गोरिल्ला युद्ध में निपुण और विद्रोहियों का नेता होने योग्य हो गया। सहायबाया ने उसके लिए पहले से ही एक कार्य तैयार रखा था कि "लुलुबर्ग जाकर वहाँ की पुलिस को समाचार देनेवाले 'माडेस्ट कामाबाला' को समाप्त करे।"[1] अक्तूबर को अर्थात् आज्ञा मिलने के सिर्फ़ 6 दिन बाद लुलुबर्ग से 8 मील उत्तर में एक राजमार्ग पर ही कामाबाला की लाश पुलिस को मिली। अधकचरे कम्युनिस्टों को कम्युनिज़्म का ऐसा ही नशा चढ़ता है। कामाबाला और बालुबा जमात का बैर था, अतः पुलिस ने इस ख़ून का अपराध बालुबा पर मढ़ा। चोर छोड़ संन्यासी को फाँसी देने का कुचक्र चला। फिर भी पुलिस और गुप्तचर विभाग का फ़र्क़ ऐसे कांड में दिखाई दे गया। कांगो के गुप्तचर विभाग को ऐसा नहीं लगा कि यह ख़ून बालुबा जाति ने किया होगा। उसने वास्तविक ख़ूनी का पता करना प्रारंभ किया। 29 अक्तूबर को स्टेनलेव्हिले के ले. आगस्टी विएर मान ने चुनी हुई पुलिस के साथ कांगो नदी के नं. 3 गोदाम पर छापा मारकर गोटोना समेत 10-12 लुलुआओं को पकड़कर क़ैद में डाला। गोटोना ने जेल से भागने का प्रयास किया, उसमें अनेक लुलुआ तरुण मारे गए, किंतु गोटोना भागने में सफल हुआ। लुलुआ तरुणों को मारा गया देखकर गोटोना की अपेक्षा के अनुसार ही उस जाति में बड़ा क्षोभ निर्माण हुआ। सैकड़ों लुलुआओं ने जेल के सिपाहियों व फ़ौज पर तीक्ष्ण भाले-बरछी और पत्थर आदि से हमला किया। इनमें से अनेक 'मान्गोबा' अर्थात् लुमुंबा के गाँव के थे और इसी गाँव में स्वातंत्र्य-आंदोलन का ज़ोर भी था। सरकार ने

इस घटना का उत्तरदायित्व लुमुंबा पर डाला। झगड़ा बढ़ता गया। लियोपोल्डव्हिले के गवर्नर जनरल हेनरी क्जनिलेरू ने सहायता भेजकर यह झगड़ा शांत किया। इसके लिए लुमुंबा[2] को उत्तरदायी समझकर क़ैद किया गया। परिणामस्वरूप जनता में और क्षोभ बढ़ा। रशियन गुप्तचर विभाग यही करना भी चाहता था। गोटोना के साथ जेल से भागने वालों को भी सरकार ने पकड़कर फाँसी दी, लेकिन गोटोना नाम का एक तरुण इस झगड़े के लिए ज़िम्मेदार है, वह इसकी चेकोस्लोवाकिया के ख़ूनी स्कूल से शिक्षा प्राप्त कर आया है और उसके द्वारा यहाँ तोड़-फोड़ प्रारंभ की गई है, इसकी कल्पना भी सरकार को उस समय नहीं थी।

अंत में पता लगा

अफ्रीकन जातियों के उठाव के पीछे किसी-न-किसी बलशाली किंतु अदृश्य शक्ति का हाथ होगा, ऐसा संशय पूर्वी अफ्रीका के ब्रिटिश गुप्तचर विभाग को अनेक वर्ष पूर्व ही हुआ था। उस विभाग ने गुप्त रीति से उसका पता लगाना भी प्रारंभ कर दिया था तथा माऊ-माऊ आंदोलन[3] के कारण इस विभाग को पूर्ण विश्वास भी हो गया था। इस आंदोलन में सैकड़ों गोरे और 10 हज़ार से अधिक माऊ-माऊ मारे गए थे। इसके नेता जामो केनियाता को 7 वर्ष का दंड भी मिला था। माऊ-माऊ आंदोलन को उखाड़ फेंकने के लिए ब्रिटिश गुप्तचर विभाग ने कमर कसी। 1958 तक यह आंदोलन समाप्त हो गया, किंतु 1958 के उत्तरार्ध में टांगानिका सीमा पर यह आंदोलन फिर भड़क उठा, मक्स-मासो पोल और उसके सहयोगियों का माऊ-माऊ से कतई संबंध नहीं है, यह बाद में ब्रिटिश गुप्तचर विभाग को ज्ञात हुआ। मासोपोल के गुरिल्ला के पास रशियन निर्मित आटोमेटिक पिस्तौल मिले। 1958 के सितंबर में इन गुरिल्लों ने गोना के पास एक स्टेट पर हमला किया, उसमें अनेक गुरिल्ला मारे गए और 'विलियम पला' नाम का लुलुआ जाति का एक गुरिल्ला पुलिस के हाथ लगा।

---

2. पैट्रिस एमरी लुमुंबा (1925-1961), कांगो स्वतंत्रता संग्राम के नेता, जिन्होंने बेल्जियम से देश को आज़ाद कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्वतंत्रता पश्चात् हुए चुनाव में लोकतांत्रिक ढंग से निर्वाचित होकर आए व 24 जून, 1960 को प्रधानमंत्री बने, लेकिन दुर्भाग्यवश 12 सप्ताह के बाद ही 14 सितंबर को सैन्य तानाशाह यूसुफ-डिजायर मोबुतू ने तख़्तापलट कर दिया और लुमुंबा को क़ैद किया गया तथा बाद में उसे गोली मार दी गई। इन्होंने क़ैद के दौरान संयुक्त राष्ट्र से हस्तक्षेप की माँग की थी, लेकिन उन्होंने कोई क़दम नहीं उठाया, अनेक इतिहासकार इनकी मौत के लिए बेल्जियम, संयुक्त राज्य अमरीका और यूनाइटेड किंगडम को ज़िम्मेदार मानते हैं।
3. 1952 में कीनिया में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध वहाँ के माऊ-माऊ गुट ने अभियान शुरू किया था, जिसे बाद में ब्रिटिश सरकार ने दबा दिया था, कीनिया के मानवाधिकार आयोग के अनुसार इस दौरान 90 हज़ार कीनियाइयों की हत्या हुई, उन्हें यातनाएँ दी गईं या अपंग बना दिया गया। इसके अलावा दयनीय हालत में क़रीब एक लाख 60 हज़ार लोगों को कैंपों में बंद रखा गया था।

विलियम की स्वीकारोक्ति

पुलिस ने उसको दार-ए-सलाम[4] ले जाकर उस पर डाका डालने और ख़ून करने का आरोप लगाया। फाँसी के डर से उसने जो बातें बताईं, वे एटम बम जैसी भेदक निकलीं। मैक्स मासोपाल ने गुरिल्ला युद्ध की शिक्षा मॉस्को शहर में ली थी व अपने हाथ के नीचे उसने अनेक टोलियाँ तैयार की हैं, यह उसने स्वीकार किया। 'तो फिर तू भी वहीं तैयार हुआ होगा?' ऐसा पूछते ही उसने कहा, ''नहीं-नहीं, मैंने प्रेग के ख़ूनी स्कूल में यह शिक्षा ली है।'' रशियन गुप्तचरी विभाग अफ्रीका में कासाब्लांका से कैप्टाऊन तक अपना जाल बिछाकर ब्रिटिश, पूर्वी अफ्रीका, घाना, बेल्जियम, कांगो और दक्षिण अफ्रीका के तरुणों की इस गुप्तचर विभाग में भरती करता रहता है। मैं स्वयं मोटर से सूडान और वहाँ से हवाई जहाज़ से प्रेग गया था। वहाँ अनेक महीने तोड़-फोड़, ख़ून, झगड़े आदि कराने की शिक्षा लेकर फिर मैं टांगानिका आया और वहाँ जनता में क्षोभ निर्माण करने लगा''। उसने स्वीकार किया।

शत्रु के गुट में प्रवेश

ब्रिटिश गुप्तचर विभाग को एक बड़े ही गुप्त भेद का पता लगा। तुरंत ही उसने शत्रु पर दाँव उलटाने की योजना बनाई और उससे यश भी प्राप्त हुआ। ब्रिटिश गुप्तचर विभाग ने इस षड्यंत्र में कुछ अफ्रीकन विद्यार्थियों को भी सम्मिलित कर लिया। ये विद्यार्थी रशियन गुप्तचर विभाग में प्रवेश कर वहाँ से प्रेग के स्कूल में प्रविष्ट हुए। इन विद्यार्थियों ने बड़े तिकड़म से वहाँ से पाठ्यक्रम की पुस्तकें और अफ्रीका के 40-50 रशियन हस्तकों की सूची प्राप्त की। युगांडा के नेशनल कांग्रेस के नेता किवानुक्ता का नाम इस सूची में था। कंपाला में उसका कैंप था। ब्रिटिश गुप्तचर विभाग ने किवानुका की हलचल पर दृष्टि रखकर उसकी एक रिपोर्ट तैयार की; उसमें से कुछ भाग इस प्रकार है—''लीरिया से उसने हवाई जहाज़ से कैरो की ओर प्रस्थान किया। वहाँ मेना हाउस में एक रशियन गुप्तचर उसको मिला। उसने किवानुका को आंदोलन के लिए 21,000 डॉलर दिए। कैरो से वह वियना गया। वहाँ उसने कम्युनिस्ट यूथ फेस्टिवल में भाग लिया। उस समय चीन से आए प्रतिनिधियों के साथ उसकी अनेक बैठकें हुईं।'' यह जानकारी प्राप्त होने के कारण अफ्रीका के रशियन गुप्तचर विभाग के हस्तकों की कार्रवाइयों पर प्रकाश पड़ना संभव हुआ।

3000 पदवीधर

गोटोना के साथ ब्रिटिश कैमरून से आया दूसरा विद्यार्थी था 'डारटुंग'। यह माकाटोली

---

4. दार-ए-सलाम, पूर्वी अफ्रीकी देश तंज़ानिया का सबसे बड़ा शहर है।

का नेता था। 11 फरवरी, 1960 को उसने अपनी टोली के कुछ लोगों को लेकर कैमरून सीमा के कुछ गाँवों पर सशस्त्र हमले किए, किंतु पुलिस विभाग उनके स्वागत के लिए वहाँ सिद्ध था। मुठभेड़ में अनेक हस्तक मारे गए। उनके पास भी रशियन ऑटोमेटिक पिस्तौल मिली। उनमें से डारटुंग गोटोना के समान बच निकला। उपरोक्त सूची में गोटोना का भी नाम मिला और वह अक्तूबर में हुए दंगे का कारण ज्ञात हुआ। प्रेग के ख़ूनी स्कूल से अब तक ऐसे 3000 गोटोना तैयार हुए हैं।

समय रहते अफ्रीका के उपनिवेशवादियों ने यदि अपना साम्राज्यवादी दृष्टिकोण न छोड़ा तो रशिया द्वारा आरंभ किए गए नरमेध में प्रेग स्कूल से शिक्षित इन हज़ारों तरुणों की सहायता से आज नहीं तो कल, अफ्रीका महाखंड की बलि निश्चित ही पड़ेगी।

प्रेग के ख़ूनी स्कूल के इस संकेत से क्या विश्व बोध लेगा?

—पाञ्चजन्य, फरवरी 20, 1961

□

13

जम्मू-कश्मीर सरकार न 15 अगस्त मनाती है, न 26 जनवरी

जम्मू में 6 फरवरी को परिग्रहण दिवस मनाया गया। चूँकि 6 फरवरी, 1954 को राज्य की संविधान सभा ने उस परिग्रहण का अनुमोदन किया था, जो महाराजा द्वारा पहले ही 27 अक्तूबर, 1947 को किया जा चुका था, उसके बाद से राज्य सरकार यह दिवस मनाती आ रही है, विशेष रूप से जम्मू में! मुझे यह अवगत करा दिया गया था कि इस तरह का कोई समारोह कश्मीर घाटी में आयोजित नहीं हुआ है, जहाँ इसके स्थान पर शहीद दिवस मनाया जाता है, जो लोगों को 1931 के गंभीर और दुःखद सांप्रदायिक अतिरेक की याद दिलाता है।

इस तरह के भेद का संभावित कारण भारत के साथ घनिष्ठ जुड़ाव के लिए जम्मू के लोगों के अधिक और तीव्र आग्रह का अस्तित्व हो सकता है। अगर 6 फरवरी के इस आयोजन के पीछे के उद्देश्य परिग्रहण के तथ्य की पुष्टि करना और उसे दोहराना है, तो यह प्रशंसनीय है। लेकिन यह संदेह उत्पन्न होने लगता है कि क्या इस दिवस का आयोजन वर्ष दर वर्ष किए जाने से यह प्रशंसनीय उद्देश्य पूरा हो रहा है। पहली बात तो यह कि भारत के साथ राज्य का परिग्रहण 27 अक्तूबर, 1947 को हुआ था, और इसलिए अगर सरकार उस घटना की याद में समारोह करने का कोई भी कारण या उपयोग पाती है, तो यह समारोह 6 फरवरी को नहीं बल्कि 27 अक्तूबर को होना चाहिए।

इस पिछली तिथि (27 अक्तूबर की) को भुलाकर राज्य सरकार संभवतः अनजाने में अपना स्वयं का और कश्मीर के संबंध में भारत का पक्ष दुर्बल कर रही है। यदि इसका उद्देश्य सिर्फ़ महाराजा का अनादर करना और भारत में विलय करने के लिए

बख़्शी शासन का महिमामंडन करना होता, तो इसे हर अच्छी और बहुमूल्य बात के लिए स्वयं को श्रेय देने की मानवीय कमज़ोरी का एक प्रकरण मानकर ख़ारिज कर दिया जा सकता था। लेकिन 6 फरवरी को परिग्रहण दिवस के रूप में मनाए जाने के निहितार्थ गहरे और अधिक गंभीर हैं। इसका अर्थ होता है, महाराजा द्वारा हस्ताक्षरित विलय के पत्र को रद्द करना। बख़्शी सरकार की दृष्टि में परिग्रहण पूर्ण और अंतिम केवल तब होगा, जब उसका अनुसमर्थन कर लिया जाएगा। लेकिन भारत सरकार का रुख़ यह रहा है कि महाराजा द्वारा किया गया राज्य का विलय अंतिम और अटल था। श्री कृष्ण मेनन[1] ने इसी आधार पर सुरक्षा परिषद् के समक्ष भारत का पक्ष प्रस्तुत किया था। इसी आधार पर भारत के पास वैध सेनाओं को भेजकर पाकिस्तानी क़बीलों की घुसपैठ से राज्य की रक्षा करने का वैधानिक औचित्य है। यदि हम बाद की तिथि को विलय की अंतिम तिथि के रूप में मानते हैं, तो इन दो तिथियों के अंतराल के दौरान हमारा कोई भी अधिकार नहीं बनता है। पाकिस्तान को न केवल कश्मीर के ख़िलाफ़ बल्कि भारत के ख़िलाफ़ भी एक हमलावर कहा गया था। एकमात्र इस आधार पर कि राज्य के शासक द्वारा हस्ताक्षरित विलय-पत्र के आधार पर कश्मीर भारत (का अंग) था। अगर हम इस तथ्य की अनदेखी करते हैं, तो हम आक्रमण करनेवाले, और जिस पर आक्रमण हुआ है, उसके के बीच अंतर की अनदेखी कर देते हैं। जम्मू-कश्मीर राज्य भौगोलिक दृष्टि से, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भारत का अभिन्न अंग रहा है। केवल ब्रिटिश संसद् द्वारा पारित भारत स्वतंत्रता अधिनियम के कारण भारत में सभी देसी रियासतों की संप्रभुता के एक मिथक का निर्माण किया गया था। यह मिथक तब चूर-चूर हो गया, जब शासकों ने विलय-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए। क़ानूनी तौर पर इन शासकों को सर्वोच्च शक्तियाँ उपलब्ध थीं, और वे अकेले ही विलय स्वीकार करने के लिए अधिकृत और सक्षम थे। इस परिदृश्य में कोई और शामिल नहीं था। यदि (जम्मू-कश्मीर की) संविधान सभा ने परिग्रहण की पुष्टि की है, तो उसने मात्र दीवार पर लिखी इबारत पढ़ी है। अगर उसने उसकी पुष्टि करने से इनकार भी कर दिया होता, जो महाराजा ने अपने स्वतंत्र अधिकार से किया था, तो भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ने जा रहा था। अब एक ऐसे कार्य का स्मरणोत्सव मनाना, जो अनावश्यक था और पूरी तरह महत्त्वहीन था, असंगत और हास्यास्पद है। जम्मू-कश्मीर को छोड़कर कोई अन्य राज्य परिग्रहण दिन का उत्सव नहीं मनाता है। यह केवल अलगाववाद की भावना को जीवित रख सकता है और लोगों को याद दिलाता रह सकता है कि राज्य का एक प्रकार का अलग अस्तित्व था। अन्य लोगों के लिए 1947 में उनके अस्तित्व की पृथकता केवल एक क़ानूनी मिथक थी।

1. वेंगालिल कृष्णन कृष्ण मेनन (1896–1974), संयुक्त राष्ट्र में 1952 से 1962 तक भारतीय राजदूत थे।

लेकिन जम्मू-कश्मीर राज्य की सरकार इसमें किसी तरह की वास्तविकता और यहाँ तक कि गंभीरता भी शामिल करना चाहती है।

रियासतों ने अपने शासकों द्वारा की गई पहल पर भारत में विलय को स्वीकार कर लिया था, लेकिन यह केवल तीन विषयों के संदर्भ में ही था; यथा रक्षा, विदेश और संचार। लेकिन जैसे ही लोकप्रिय सरकारों का गठन किया गया और सत्ता उनके हाथों में पहुँची, उन्होंने राज्यों को शेष देश के साथ एकीकृत करने के लिए क़दम उठाए। आज परिणाम यह है कि जम्मू-कश्मीर के अलावा जहाँ तक अन्य सभी राज्यों का संबंध है, हमारा एक एकीकृत और समान संविधान है। जम्मू एवं कश्मीर के नेता अन्य राज्यों में अपने समकक्षों की तुलना में जहाँ पथभ्रष्ट हुए हैं, वह भारत के लोगों को एकीकृत करने से इनकार करने का उनका अड़ियल हठ है। यदि अधिक एकीकरण की दिशा में कुछ उपाय किए गए हैं, तो ऐसा सरकार के कारण नहीं, वरन् सरकार के बावजूद है। राज्य के लोगों को उसके लिए लड़ना पड़ा है।

राज्य की संवैधानिक स्थिति के ये सभी विशिष्ट गुण किसी भी ढंग से लोगों को लाभान्वित नहीं करते हैं। वास्तव में यह (विशिष्ट गुण) उन्हें अपने ही कुछ मौलिक अधिकारों से वंचित कर देते हैं। लंबे समय से उन्हें देश के सर्वोच्च न्यायालय में अपील का मौलिक अधिकार प्राप्त नहीं था। यहाँ तक कि उन्हें भारत में और भारत से यात्रा करने के लिए परमिट लेने के अपमानजनक और भेदभावपूर्ण व्यवहार का भी सामना करना होता था। इन भेदभावपूर्ण प्रावधानों में से कुछ को समाप्त कर दिया गया है, लेकिन कुछ अन्य अभी भी जारी हैं।

राज्य के नागरिकों को लोकसभा के लिए अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करने के लिए कोई अधिकार नहीं है। जहाँ तक संघ के मामलों का संबंध है, यह वस्तुतः उन्हें मताधिकार से वंचित करने के तुल्य है। जम्मू और कश्मीर राज्य से लोकसभा के लिए सदस्यों को, राज्य की विधानसभा द्वारा इस संबंध में की गई सिफ़ारिशों के आधार पर राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जाता है। इस प्रकार राज्य विधानसभा न केवल राज्यसभा के लिए, बल्कि लोकसभा के लिए भी सदस्यों का चुनाव करती है। इससे राज्य में सत्तारूढ़ दल को संसद् में एक विशिष्ट भार मिलता है और लोगों को उनके प्रभाव से और प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व से वंचित कर दिया जाता है। लोकसभा और राज्यसभा के गठन के पीछे की भावना इससे अलग है। जहाँ राज्यसभा से विभिन्न राज्यों का प्रतिनिधित्व करने की अपेक्षा की जाती है और उसे उनके हितों की गारंटी माना जाता है, वहीं लोकसभा किसी राज्य या किसी अन्य आधार पर विभेद किए बिना संपूर्ण भारत के लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। वास्तव में यह उनकी संप्रभुता का प्रतीक है। भारत के लोग लोकसभा के माध्यम से देश पर राज करते हैं।

लेकिन कश्मीर के लोग भारत के शासन में शामिल नहीं होते। राज्य का कोई नागरिक लोकसभा का चुनाव नहीं लड़ सकता है। इस प्रकार वह भारत का प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति बनने की आकांक्षा नहीं कर सकता है। उसका राजनीतिक अस्तित्व अपने राज्य की सीमाओं तक ही सीमित है।

जहाँ तक भारत का प्रश्न है तो हमारा संविधान किसी विक्षिप्त और अनुन्मोचित दिवालिए को छोड़कर हर नागरिक को यह अधिकार देता है। निश्चित रूप से जम्मू-कश्मीर के लोग इन श्रेणियों में से किसी से संबंधित नहीं हैं। यहाँ तक कि कोई फिजो[2] (अनगामी जापू फिजो, नगा विद्रोही नेता) या कोई रामास्वामी नायकर[3] (पेरियार ई.वी. रामासामी, पृथक् द्रविड़िस्तान की माँग करनेवाले) भी लोकसभा का चुनाव लड़ सकते हैं, लेकिन कोई पंडित प्रेमनाथ डोगरा या बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद नहीं लड़ सकते। इन भेदभावपूर्ण प्रावधानों की व्यवस्था हमने क्यों की? क्या हमें जम्मू-कश्मीर राज्य के लोगों पर भरोसा नहीं है? उन पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। भारत की जनता उन पर पूरा विश्वास करने के लिए तैयार है; लेकिन यह बख़्शी ग़ुलाम मोहम्मद की सरकार है, जो उन पर अविश्वास करती प्रतीत होती है। वे नहीं चाहते हैं कि राज्य के लोगों और भारत की संसद् के बीच सीधा संबंध हो। सरकार बीच में अपना पैर अड़ाना चाहती है। लेकिन इस प्रत्यक्ष संबंध के बिना राज्य के लोग सिर्फ़ कश्मीरी बने रहेंगे और कभी भी भारतीय नहीं बन पाएँगे।

सभी चुनाव न केवल लोगों के मन को प्रतिबिंबित करते हैं, बल्कि उन्हें आकार भी देते हैं। (इससे) लोगों को राष्ट्रीय मुद्दों में दिलचस्पी होती है और एक अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य मिलता है। वर्तमान में आर्थिक और अन्य कारणों से संसद् अधिक-से-अधिक शक्तिशाली होती जा रही है। वित्तीय और राजकोषीय मामलों में संसद् द्वारा लिये गए निर्णय हर एक नागरिक को प्रभावित करते हैं। लोकसभा के सदस्य अपने निर्वाचकों के प्रति जवाबदेह होते हैं और आम चुनाव में उनसे जवाब माँगा जा सकता है। लेकिन जम्मू-कश्मीर राज्य के नागरिकों के संदर्भ में ऐसी कोई बात संभव नहीं है।

---

2. अनगामी जापू फिजो (1903-1990) एक नागा नेता और आतंकी था। उसके प्रभाव में नागा राष्ट्रीय परिषद् ने आतंकवाद और सशस्त्र क्रांति के ज़रिए भारत से पृथक् होने का अभियान चलाया। नागा पृथकतावादी समूहों ने उसे नागाओं का पिता कहकर सम्मानित किया। वह अनेक सरकारी अधिकारियों की हत्या और नागालैंड में अशांति फैलाने के लिए उत्तरदायी था।
3. पेरियार ई.वी. रामास्वामी नायकर (1879-1973) तमिलनाडु के राजनीतिज्ञ थे, जो मुख्य रूप से हिंदी विरोधी आंदोलन और पृथकतावादी छवि के लिए जाने जाते हैं। उन्होंने द्रविड़ कझगम और स्वाभिमान आंदोलन की नींव रखी। वह 1948, 1952 और 1965 में हिंदी विरोधी आंदोलनों के नेता थे। विद्यालयों में हिंदी पढ़ाए जाने के विरोध में उन्होंने तमिलों के लिए ही तमिलनाडु का नारा उठाया और 1955 में राष्ट्रीय ध्वज जलाने की धमकी दी।

वास्तव में उनके संबंध में 'प्रतिनिधित्व के बिना कोई कराधान नहीं' के सिद्धांत का उल्लंघन किया गया है।

जहाँ तक संविधान का संबंध है, उन्हें इस अधिकार से वंचित करने का अर्थ है, उन्हें उनकी राष्ट्रीयता और नागरिकता से वंचित करना। यह हमारे संविधान पर एक कलंक है। यह आवश्यक है कि इन घृणित और भेदभावपूर्ण प्रावधानों को तुरंत समाप्त किया जाए और राज्य के नागरिक हमारे देश के गणतांत्रिक और लोकतांत्रिक शासन में योग्य और विश्वस्त भागीदारों के रूप में शामिल हों।

—ऑर्गनाइज़र, फरवरी 20, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

14

जनतंत्र और राजनीतिक दल

यह आलेख 'पोलिटिकल डायरी' (पुस्तक) 1971 में पुनः प्रकाशित हुआ।

अधिकांश भारतीय जनता जनतांत्रिक जीवन की आकांक्षी है; किंतु इधर अनेक एशियाई देशों में जनतांत्रिक सरकारों की विफलता या उनके दबा दिए जाने के कारण भारत में बहुत से लोग देश में जनतंत्र के भविष्य के बारे में आशंकित हो उठे हैं। आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों के बिगड़ते जाने के कारण कठिन स्थिति का सफलतापूर्वक सामना कर सकने की जनतंत्र की क्षमता के बारे में भी लोगों के मन में संदेह पैदा हो गया है। ऐसे अनेक लोग हैं, जो 'जो कुछ अपने पास नहीं है उसके लिए तरसते हैं' और अविवेकपूर्ण ढंग से वैकल्पिक स्वरूपों की सरकार की स्थापना की आकांक्षा करते हैं। ऐसे लोग भी हैं जो जनतंत्र में दृढ विश्वास के साथ भारत के वर्तमान जनतांत्रिक ढाँचे को ब्रिटिश संसदीय जनतंत्र के बाहरी रूपों का एक घटिया अनुकरण मानते हैं। वे चाहते हैं कि यदि सच्चे जनतंत्र के लक्ष्य की प्राप्ति करनी है, तो संवैधानिक और राजनीतिक व्यवस्था अलग ढंग से गठित की जानी चाहिए।

जनतांत्रिक पद्धति के रूपों और औपचारिकताओं का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो सकता है, परंतु इस पद्धति के सफल होने की आशा करने के पूर्व कतिपय ऐसी अनिवार्यताएँ भी हैं, जिनके बारे में गारंटी दी जानी चाहिए। उपराष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन[1] ने उड़ीसा विधानमंडल के नए भवन का उद्घाटन करते हुए अपने भाषण में इन अनिवार्य

---

1. डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1888–1975) भारतीय संस्कृति के संवाहक, प्रख्यात शिक्षाविद् व दार्शनिक और एक आस्थावान हिंदू विचारक थे, 1952 में भारत के प्रथम उपराष्ट्रपति और 1962 में देश के दूसरे राष्ट्रपति बने।

पूर्वावश्यकताओं की ओर ठीक ही ध्यान आकृष्ट किया है। उन्होंने कहा है कि किसी भी देश में अनुशासित राजनीतिक दल और निष्ठावान तथा देशभक्त नेतृत्व संसदीय जनतंत्र की सफलता के अपरिहार्य अंग हैं। उन्होंने जनतंत्र को सफल बनाने के लिए स्वतंत्र समाचार-माध्यम (प्रेस), स्वतंत्र न्यायपालिका और स्वच्छ एवं सक्षम प्रशासन को भी आवश्यक बताया।

फिर भी, चूँकि जनतांत्रिक सरकार में अंतिम अधिकार निर्वाचित प्रतिनिधियों के पास रहता है, अन्य किसी भी बात से उनका अधिक महत्त्व है, क्योंकि जब तक जनता प्रकट विद्रोह के लिए तैयार न हो, समाचार-पत्र (प्रेस), न्यायपालिका और प्रशासन को अनुचित उपायों से सत्तारूढ़ दल की इच्छाओं के सामने झुकने के लिए विवश किया जा सकता है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समाचार-पत्रों का मुँह बंद किया जा सकता है, न्यायपालिका के न्यायिक निर्णयों को निष्फल बनाने के लिए विधान में संशोधन कर उसे दुर्बल बनाया जा सकता है, और प्रशासन को शीर्षस्थ भ्रष्ट नेताओं द्वारा भ्रष्ट बनाया जा सकता है। इसलिए यदि हम देश के कार्यकलाप में सुधार चाहते हैं, तो हमें सर्वप्रथम राजनीतिक दलों की ओर ध्यान देना होगा।

जहाँ तक भारत के राजनीतिक दलों का संबंध है, उनमें बहुत सी त्रुटियाँ हैं। इसमें सबसे दोषी सत्तारूढ़ दल है, परंतु अन्य अनेक दलों का आचरण भी कुछ अच्छा नहीं है। आज राजनीतिक दल सैद्धांतिक आधार पर नहीं, वरन् व्यक्तिगत या गुट के आधार पर गठित होते हैं। इस संबंध में डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं, 'राजनीति' अंततः साध्य तक पहुँचने का एक साधन है। यह ऐसी व्यवस्था का निरूपण करती है, जिसके द्वारा सबको सामाजिक और आर्थिक न्याय मिले। यदि जनतंत्र केवल यहीं तक अपनी गतिविधियाँ सीमित रखता है कि निर्वाचित प्रतिनिधि केवल सत्ता की होड़ में लगे रहें और पद के पीछे दौड़ते रहे तथा राज्य के कार्यों को इस प्रकार छोड़ दें कि वह अस्त-व्यस्त हो जाए तो वह जनतंत्र नाम के लिए भी अच्छा नहीं।'' आज राजनीति साधन नहीं रह गई है। वह स्वयं साध्य बन गई है। आज हमारे बीच ऐसे लोग विद्यमान हैं, जो निश्चित सामाजिक और राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति करने की दृष्टि से राजनीतिक सत्ता पर ध्यान देने की अपेक्षा केवल सत्ता के लिए होड़ में अधिक व्यस्त हैं। यही कारण है कि विभिन्न राजनीतिक दल जनता को सुसंगठित बनाने और अव्यवस्था में से व्यवस्था का निर्माण करने के स्थान पर वर्तमान अव्यवस्था में केवल और वृद्धि करते हैं। अपने पास आनेवाले लोगों के दृष्टिकोणों की कोई चिंता न करते हुए वे केवल इस बात की ओर ही ध्यान देते हैं कि उनके अनुयायियों की संख्या बढ़े।

भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों को अपने लिए एक दर्शन (सिद्धांत या आदर्श) का क्रमिक विकास करने का प्रयत्न करना चाहिए। उन्हें कुछ स्वार्थों की पूर्ति के लिए

एकत्र आनेवाले लोगों का समुच्चय मात्र नहीं बनना चाहिए। उनका रूप किसी व्यापारिक प्रतिष्ठान या ज्वॉइंट स्टॉक कंपनी (Joint Stock Company) से अलग प्रकार का होना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि दल का दर्शन केवल उसके घोषणा-पत्र के पृष्ठों तक ही सीमित न रह जाए। सदस्यों को उसे समझना चाहिए और कार्यरूप में परिणत करने के लिए निष्ठापूर्वक जुट जाना चाहिए।

किंतु हर आदर्श, किसी दल को जनतंत्र का युग लाने में समर्थ नहीं बनाएगा। वह आदर्श स्वयं जनतंत्र के आदर्शों और भावनाओं के विपरीत नहीं होना चाहिए। वस्तुतः अनेक देशों में ऐसे लोगों के हाथ से जनतंत्र को बड़ी क्षति उठानी पड़ी है, जिन्होंने जनतंत्र का उपयोग केवल उसे विनष्ट कर देने के लिए किया। कम्युनिस्टों के पास एक विचारधारा है और वे जनतांत्रिक मार्ग के अनुसरण का दावा करते हैं—केवल अंततः जनतंत्र का अंत कर देने के लिए। डॉ. राधाकृष्णन के शब्दों में—"व्यक्ति के सम्मान और उसकी स्वतंत्रता का सिद्धांत जनतंत्र का मूलभूत सिद्धांत है। मानवता के इतिहास में मनुष्य की स्वतंत्र भावना सारी प्रगतियों का कारण रही है। व्यक्ति को नष्ट कर देने की प्रवृत्ति रखने वाली कोई भी पद्धति अजनतांत्रिक है। विचार-विमर्श, समझा-बुझाकर सहमत करना, परस्पर समाधानकारी समझौता और दो तथा लो, ये जनतांत्रिक मार्ग की युक्तियाँ हैं।" इसलिए ऐसा कोई भी सिद्धांत, जो लचीला नहीं है तथा जो मानव के सम्मान और स्वातंत्र्य में विश्वास नहीं रखता, वह जनतांत्रिक व्यवस्था के उपयुक्त नहीं होगा। ऐसे दलों को या तो अपने सिद्धांतों को जनतांत्रिक व्यवस्था के अनुरूप बनाना चाहिए या जनतंत्र की केवल मौखिक सेवा बंद कर देनी चाहिए।

दल के कार्यकर्ताओं में अनुशासन का प्रश्न न केवल दल को पूर्ण स्वस्थ रखने के लिए अपितु सामान्य रूप से जनता के आचरण पर भी उसके प्रभाव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। मुख्यतः सरकार सुरक्षा और संरक्षा का एक साधन है, न कि विनाश और परिवर्तन का। जनता में विधान के प्रति समादर की भावना उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि विधान का संरक्षक बनने की आकांक्षा रखने वाले दल इस दिशा में स्वयं उदाहरण प्रस्तुत करें। स्व-शासन की भावना और क्षमता जनतंत्र का सार है। यदि राजनीतिक दल स्वयं अपने को शासित नहीं कर सके तो वे समाज में स्व-शासन की इच्छा उत्पन्न करने की आशा कैसे कर सकते हैं? जहाँ एक ओर समाज के लिए व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की प्रतिभूति (गारंटी) और रक्षा आवश्यक है, वहीं व्यक्ति के लिए भी सर्वसामान्य की इच्छा का स्वेच्छया आदर करना वांछनीय है। यह सहिष्णु भावना जितनी अधिक होगी, राज्य के अदम्य अधिकार उतने ही कम हो जाएँगे। कोई भी दल, जिसके कार्यों का किसी सरकारी विधान द्वारा नियमन नहीं होता अपनी इकाइयों द्वारा स्वेच्छया स्वीकृत निर्णयों के अनुसार चलते हैं। इसके उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं कि सर्वोत्तम व्यक्तिगत स्वातंत्र्य

और सामाजिक उत्तरदायित्व का संतुलन किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है। इसलिए राजनीतिक दलों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने सदस्यों के लिए एक आचरण-संहिता निर्धारित करें और उसका कड़ाई से पालन करें।

जनतंत्र में एक से अधिक दलों का होना स्वाभाविक है। ये दल यदि स्वस्थ परंपराओं का विकास करना चाहते हैं, तो उन्हें किसी-न-किसी प्रकार के पंचशील का अनुसरण करना चाहिए। सैद्धांतिक आधार पर किसी दल से संबंध-विच्छेद को उचित माना जा सकता है, परंतु अन्य आधारों पर दलों द्वारा दल-बदल को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में, जब कोई दल बहुमत में न आए, या उसे अत्यल्प बहुमत प्राप्त हो, तब अन्य दलों से समर्थन पाने के लिए राजनीतिज्ञों द्वारा अनुचित साधन अपनाए जाने की संभावना है। यह आवश्यक है कि हम ग्रेट ब्रिटेन की द्विदलीय संसदीय पद्धति से कुछ अलग परंपराएँ विकसित करें और अपनाएँ। केवल उससे ही देश में स्थिर सरकार रहेगी और भ्रष्ट राजनीतिज्ञों का अखाड़ा बनने से दलों की रक्षा हो सकेगी।

ऐसी बहुत सी बातें हैं, जिन पर विचार आवश्यक है। क्या जनतंत्र में विश्वास रखने वाले दल अपने उत्तरदायित्व को अनुभव करेंगे? सत्ता प्राप्त करने की उत्सुकता और शीघ्रता में उन्हें उस आधार को ही नष्ट नहीं कर देना चाहिए, जिस पर वे खड़े हैं।

—ऑर्गनाइज़र, फरवरी 27, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

15

भारत के नीति-निर्माताओं ने तिब्बत और स्वयं अपने हितों के विरुद्ध ऐसा घृणित पाप किया है, जिसे इतिहास नहीं भुला सकेगा!

दीनदयालजी का प्रेस-वक्तव्य।

भारत और तिब्बत के बीच सीमा संबंधी तथ्यों की जाँच के लिए नियुक्त भारतीय और चीनी सरकारी अधिकारियों की रिपोर्ट ने भी यह स्पष्ट कर दिया है कि लद्दाख और नेफा आदि के भारतीय केंद्र पर चीन का दावा निराधार और झूठा है। समस्त एशिया पर साम्यवादी साम्राज्य स्थापित करने की योजना की पूर्ति के लिए भारत की दुर्बल और विक्षिप्त नीति का लाभ उठाकर चीन ऐसी चालें चल रहा है कि भारत अकेला पड़ जाए और उस पर नाजायज़ दबाव डाला जा सके। चीन के इन शत्रुतापूर्ण इरादों का एक और बड़ा सबूत है कि उसने कराकुरम दर्रे के पश्चिम में स्थित कश्मीर के उस भाग की सीमाओं के संबंध में, जिन पर पाकिस्तान ने बलात् अधिकार जमा रखा है, सीधे पाकिस्तान से वार्ता करने का प्रयास किया तथा सिक्किम और भूटान के संबंध में भी हमारे विशेष अधिकारों को मान्य नहीं किया है। जनसंघ तथा अन्य राष्ट्रवादियों की चेतावनी के बावजूद, चीन के ख़तरे को घटाकर बताने वाले और अभी तक भारत-चीन की पुरानी मैत्री के गीत गाने वालों की भी आँखें, इस रिपोर्ट से खुल जानी चाहिए।

रिपोर्ट ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि तिब्बत कभी भी चीन का भाग नहीं रहा तथा उस पर चीन के अधिकार को मान्य करके भारत के नीति-निर्माताओं ने तिब्बत और स्वयं अपने हितों के विरुद्ध जैसा घृणित पाप किया है, उसे इतिहास भुला नहीं

सकेगा। खेद है कि इस रिपोर्ट से भी भारत की विदेश नीति-निर्माताओं की आँखें खुली नहीं दीखतीं।

''अब भी चीन किसी उचित समझौते पर आ जाए'' तथा ''वार्ता द्वारा आक्रमणग्रस्त भूमि को ख़ाली कराया जा सकता है'' आदि बातों में व्यवहार-शून्यता और देशप्रेम का अभाव टपकता है। इस प्रकार की बातें करना एक प्रकार से देश को जानबूझकर धोखा देना है।

आक्रमणग्रस्त भूमि को ख़ाली कराने के लिए निश्चित रूप से कोई-न-कोई पग उठाना होगा। अब चीन के साथ वार्ता की कोई गुंजाइश शेष नहीं बची। अत: अन्य उपायों के प्रयोग के लिए गंभीरता से विचार करना होगा तथा उसके लिए देश को तैयार करना होगा। सर्वप्रथम साम्यवादी चीन की धोखेबाजी और उसके आक्रामक इरादों को दुनिया के सामने रखने के लिए समस्त कूटनीतिक स्रोतों का उपयोग किया जाना चाहिए, बजाय इसके कि हम अब भी, राष्ट्र संघ तथा अन्य अंतरराष्ट्रीय सभाओं में चीन के एजेंट बने फिरते रहें। साथ ही बड़े पैमाने पर भारत विरोधी कार्रवाई करनेवाले भारत स्थित चीनी नागरिकों और दूतावासों के साथ हमें उसी प्रकार कड़ी नीति अपनानी चाहिए, जिस प्रकार वहाँ अपनाई जाती है। तीसरे सिक्किम, भूटान और शेष सारी उत्तरी सीमा की सुरक्षा को और दृढ किया जाना चाहिए। देश की सामरिक बलवृद्धि को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। अंतत: देश के भीतर चीनी और पाकिस्तानी पंचमांगियों को दबाने के लिए प्रभावकारी कार्रवाई की जानी चाहिए।

चीन और पाकिस्तान की शत्रुता को ध्यान में रखकर यदि मुसलिम लीग के पुर्नजन्म और सीमा क्षेत्रों में कम्युनिस्टों की बढ़ती हुई सक्रियता को देखा जाए तो मानना होगा कि यह भारी भय की सूचक है।

—पाञ्चजन्य, फरवरी 27, 1961

□

16

भेदमूलक माँगों को हम देश के लिए घातक समझते हैं

दिल्ली प्रदेश भारतीय जनसंघ द्वारा आयोजित स्वाध्याय-गोष्ठी में दीनदयालजी का भाषण।

राष्ट्रीयता एक भावात्मक कल्पना है। हमारी संस्कृति में संपूर्ण विश्व में एक शक्ति के अधिष्ठान की कल्पना और उसमें एकात्मकता के विचार को रखा गया है। हमने माना गया है कि एक शक्ति अनेक रूपों में प्रकट हो सकती है, परंतु उसमें मूल तथ्य एक ही है। केवल एकता की कल्पना को हमने एकरूपता के नाते कभी स्वीकार नहीं किया।

एकता का विविधता के रूप में विकास होता है। यदि यह विकास जीवन की पुष्टि के लिए हो तो इसका विकास होने देना चाहिए, परंतु जब कभी यह विकास विकार के रूप में प्रकट होने लगता है तो यह हानिकारक होता है और तब इसे नष्ट कर देना चाहिए। इस प्रकार जब इस राष्ट्र-शरीर पर कभी-कभी विकार आने लगते हैं और इसकी एकता को खंडित करने की किसी ने चुनौती दी तो हम उसका डटकर विरोध करते हैं। दुर्योधन और रावण के साथ इसी भावना को लेकर युद्ध हुआ। उस समय हमने कभी सहिष्णुता नहीं दिखाई।

जैन और बौद्ध संप्रदाय दोनों भारत ही में जनमे, परंतु शंकराचार्य ने केवल बौद्ध संप्रदाय को ही समाप्त करने का प्रयत्न किया, क्योंकि बौद्ध संप्रदाय में विकार आ चुके थे। जब तक बौद्ध संप्रदाय भारत ही में रहा, इसका विकास होता रहा। परंतु यह जब दूसरे देशों में फैल गया और यहाँ से बाहर गए हुए बौद्ध भिक्षुओं में आजकल के

कम्युनिस्टों की तरह अपने इस देश की भूमि के प्रति आत्मीयता समाप्त होने लगी तो ऐसा समझा गया कि भारतीय बौद्धों से देश की एकता को ख़तरा हो सकता है।

हमारी यह त्यागमयी संस्कृति सहिष्णुता का पाठ पढ़ाती है, परंतु उसके प्रति अब कोई भोगवादी संस्कृति लाकर खड़ा कर दे तो उसे हम संकट मानकर चलेंगे। जो चीज़ें भेदमूलक हैं, वे देश की एकता के लिए घातक हैं।

किसी भी प्रकार की अनेकता को दबाकर एकता के दर्शन कराने की प्रकृति भी उतनी ही संकटदायक है। जब विविधता में विकार आए, तभी उसे समाप्त करना चाहिए।

—पाञ्चजन्य, मार्च 6, 1961

□

17

सीमा नीति

दक्षिण में गहरे समुद्र से और उत्तर में ऊँचे पहाड़ों से घिरे भारत को दैव कृपा से ऐसी प्राकृतिक सीमाएँ मिली हैं, जिन्हें पाने लायक भाग्यशाली कुछ ही अन्य देश रहे हैं। लेकिन इन प्राकृतिक सीमाओं के साथ छेड़छाड़ पहली बार 1947 में तब की गई थी, जब देश विभाजित किया गया था और उसके बाद दूसरी बार तब, जब चीनी सेना ने हिमालय की चोटियों को पार करके लद्दाख और लोंगजू में अपने अड्डे स्थापित किए थे। आज हम यह नहीं कह सकते कि हमारी सीमाएँ अभेद्य हैं। कई स्थानों पर उनका उल्लंघन किया गया है और कई अन्य स्थानों पर उन पर गंभीर ख़तरा है। सरकार ने सीमा समस्या को हल करने की कोशिश जिस प्रकार की है, उसमें बहुत कुछ किया जाना बाक़ी है।

हालाँकि भारत की पाकिस्तान, बर्मा, नेपाल, तिब्बत और सिन्कियांग (जो चीनी क़ब्ज़े में नहीं है) (अब झिंग्जियांग सुदूर उत्तर-पश्चिमी चीन में मंगोलिया और कज़ाख़स्तान सीमा पर एक स्वायत्त प्रांत) के साथ साझी सीमाएँ हैं और सीमाओं की प्रकृति भिन्न नहीं है, इसके बावजूद हमारे विवाद और तक़रार केवल पाकिस्तान और चीन के साथ हैं। ऐसा उनकी निर्दयता और हमारी ओर से आवश्यकता से अधिक विनम्रता के कारण है। अगर चीन और पाकिस्तान द्वारा सीमा उल्लंघन किया गया है, तो ऐसा सीमाओं की सटीकता के बारे में निश्ंचितता की किसी कमी की वजह से नहीं, बल्कि इसलिए हुआ है, क्योंकि वे हमारी संप्रभुता को धता बताकर और उसकी अनदेखी करके हमें अपमानित करना चाहते थे। हमारी सीमाओं के इन उल्लंघनों को किसी ग़लतफहमी या अनिश्चितता की वजह से हुआ मानकर भारत सरकार ने लगातार ग़लती की है। इस कारण उसने दृढ संकल्प और देश की सशस्त्र शक्ति से रक्षा के बजाय तर्क, बहस और चर्चा, वार्ता और

रियायतों द्वारा समस्या को हल करने की कोशिश की। कोई आश्चर्य नहीं कि इस अड़ियल, उद्देश्यविहीन और योजनाविहीन रवैये के कारण हम हर मामले में विफल होते गए। इस नीति में संशोधन की आवश्यकता है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि पाकिस्तान के साथ कुछ सीमा विवाद हैं, जिन्हें विभाजन का उत्तरजीवी कहा जा सकता है। रेडक्लिफ़ अवार्ड[1] और बग्गी ट्रिब्यूनल के निर्णयों की व्याख्या को लेकर वास्तविक मतभेद हो सकते हैं। इन मतभेदों को एक न्यायोचित तरीक़े से हल किया जा सकता है। लेकिन पाकिस्तान सीमा पार गोलीबारी करके और कुछ क्षेत्रों में वास्तव में भारतीय क्षेत्र पर ज़बरन क़ब्ज़ा करके हमें धमकाने की कोशिश करता आ रहा है। समस्या के शांतिपूर्ण समाधान की इच्छा से हम हमेशा बात करना पसंद करते रहे हैं। इन वार्ताओं का नतीजा यह रहा है कि पाकिस्तान के साथ हुए हर समझौते में, सरकार ने उन क्षेत्रों को हस्तांतरित करने के लिए राज़ी होकर भारत के उचित दावों को पस्त कर दिया है, जिन्हें किसी भी वैध परिस्थिति में पाकिस्तान को नहीं सौंपा जा सकता था। इन समझौतों का सबसे आश्चर्यजनक पहलू यह रहा है कि इनके अनुसार परिकल्पित नई सीमाएँ प्राकृतिक सीमा के साथ लगती पूरी सीमा को तर्कसंगत बनाने के बजाय उनके साथ भी छेड़छाड़ कर रही हैं, जहाँ वे (प्राकृतिक सीमाएँ पहले से) मौजूद थीं। फिरोज़पुर ज़िले में पाकिस्तान को सतलुज नदी के इस तरफ के क्षेत्रों पर क़ब्ज़ा करने की अनुमति देकर, हम न केवल रणनीतिक दृष्टि से पिछड़ गए हैं, बल्कि भविष्य में कलह का बीज भी बो दिया गया है। पाकिस्तान को इच्छामती नदी का उपयोग करने का अधिकार उन इलाकों में भी देकर, जहाँ यह भारतीय क्षेत्र से बहती है, हमने नदी के पूरे-पूरे पथ के संदर्भ में अनिश्चितता की भावना पैदा कर दी है। बेरूबारी संघ के आधे हिस्से का हस्तांतरण करने के लिए सहमत होकर, जो रेडक्लिफ़ आयोग या बैगे ट्रिब्यूनल[2] से पहले विवाद का मुद्दा कभी नहीं था, हमने

---

1. भारत के विभाजन पर भारत और पाकिस्तान के बीच सीमारेखा निर्धारण के रूप में रैडक्लिफ़ लाइन का प्रकाशन 17 अगस्त, 1947 को हुआ था। इसका नाम इसे तैयार करनेवालेसर सिरिल रैडक्लिफ के नाम पर रखा गया, जो सीमा आयोगों के अध्यक्ष भी थे। प्रत्येक सीमा आयोग में 5 सदस्य थे—1. अध्यक्ष (रैडक्लिफ़), 2. भारतीय कांग्रेस नामित 2 सदस्य और मुसलिम लीग नामित 2 सदस्य। बंगाल सीमा आयोग में न्यायमूर्ति सी.सी. बिश्वास, बी.के. मुखर्जी, अबु सलेह मोहम्मद अक़रम और एस.ए. रहमान थे। पंजाब आयोग के सदस्यों में न्यायमूर्ति मेहर चंद महाजन, तेजा सिंह, दीन मोहम्मद और मुहम्मद मुनीर शामिल थे।
2. रैडक्लिफ़ निर्णय के उपरांत उसकी व्याख्या में कई विवाद उत्पन्न हो गए। इनके हल के लिए दिल्ली में भारत और पाकिस्तान के बीच हुए सम्मेलन में निर्णय लिया गया कि 31 जनवरी, 1949 से पहले एक न्यायाधिकरण स्थापित किया जाए और उसके पश्चात् सीमा का निर्धारण हो। इस न्यायाधिकरण के अध्यक्ष स्वीडन सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व सदस्य अलगोट बैगे को नियुक्त किया गया और भारत व पाकिस्तान की ओर से क्रमिक रूप से हाई कोर्ट के दो न्यायाधीशों माननीय सी. अय्यर और माननीय एम. शाहबुद्दीन को नामित किया गया।

मात्र एक हानिकारक मिसाल स्थापित कर दी है कि पाकिस्तान ताज़ा दावे कर सकता है और नए विवाद पैदा कर सकता है और यह कि हम हमेशा उन पर विचार करने और उन्हें स्वीकार करने के लिए तैयार रहेंगे। सरकार जिस अभिमानपूर्ण अंदाज़ में सीमावर्ती क्षेत्रों का पाकिस्तान को हस्तांतरण करने का निर्णय ले रही है और जिस ज़िद्दीपन के साथ वह उस पर अमल करने पर ज़ोर देती है, उसने सीमावर्ती क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के मन में उनके भविष्य को लेकर अनिश्चितता की भावना पैदा की है। सीमाओं की रक्षा सिर्फ़ सशस्त्र सैनिकों और सीमा रक्षकों पर ही नहीं, बल्कि उन क्षेत्रों के लोगों के दृढ संकल्प और मनोबल पर भी निर्भर करती है। मातृदेश के प्रति निष्ठा का उनका बंधन और हर मौके पर सहायता पाने के लिए सरकार पर उनका विश्वास सशक्त और दृढ होना चाहिए। दुर्भागयवश, हमारे राज्य का धर्मनिरपेक्ष चरित्र हमें सीमावर्ती क्षेत्रों को संदिग्ध निष्ठा की छवि से मुक्त करने से हमें रोक देता है। पश्चिम बंगाल और आसाम के एक सर्वेक्षण से स्पष्ट होता है कि पाकिस्तान समर्थक तत्त्वों द्वारा इन क्षेत्रों में घनत्व बढ़ाने का सुनियोजित प्रयास चलाया जा रहा है। यह आवश्यक है कि हम इस संबंध में एक यथार्थवादी नीति का पालन करें और यह सुनिश्चित करें कि सीमा के इस तरफ कम-से-कम पंद्रह मील तक वे लोग हों, जिन पर विश्वास किया जा सकता हो। यदि हम एक मैगिनोट लाइन[3] का निर्माण नहीं कर सकते, तो भी हम निश्चित रूप से कट्टर राष्ट्रवादी झुकाव वाले लोगों की एक मानव शृंखला बना सकते हैं, जो हमारे क्षेत्र में किसी भी अचानक और छिटपुट घुसपैठ से रक्षा करने के लिए पूरी तरह प्रशिक्षित और सुसज्जित हों।

चीन के साथ सीमा समस्या पूरी तरह से हमारी अपनी देन है। चीन की ख़तरनाक संभाव्यताओं और चीन में एक अधिनायकवादी कम्युनिस्ट शासन एशिया की शांति के लिए जो गंभीर ख़तरे पैदा कर सकता है, उसका भारत सरकार को कभी अहसास नहीं रहा। वास्तव में किसी देश की प्रतिरक्षा सीमा उसकी अपनी राजनीतिक सीमाओं से कहीं आगे तक फैली होती है। जब चीन ने तिब्बत पर आक्रमण किया था, तो हम अपनी सुरक्षा और अखंडता के ख़तरों की कल्पना कर सकते थे। हिमालय की सीमाएँ पिछली कई सदियों से निष्क्रिय सीमाएँ मानी जाती थीं, सिर्फ़ इस कारण कि भारत और चीन के बीच एक स्वतंत्र और संप्रभु तिब्बत अस्तित्व में था। तिब्बत के विलुप्त होने के साथ ही वे जीवंत सीमाएँ बन गईं हैं। लेकिन भारत सरकार लगातार उनकी अनदेखी करती रही। वास्तव में जिस दिन चीन ने तिब्बत को क़ब्ज़े में लिया था, (उसी दिन) हमें अपनी सेना

---

3. मैगिनोट लाइन का नाम फ्रांस के युद्ध मंत्री आंद्रे मैगिनोट के नाम पर रखा गया। इस लाइन में 1930 के दशक में स्विट्ज़रलैंड, जर्मनी और लक्ज़मबर्ग के साथ लगी सीमाओं पर फ्रांस की तरफ हथियारों के जमावड़े के साथ ही विभिन्न बाधाएँ खड़ी करते हुए ठोस क़िलेबंदी की गई थी।

को सतर्क कर देना चाहिए था और सीमा पर चौकियाँ स्थापित करनी चाहिए थीं। लेकिन हमने ऐसा नहीं किया। इसके बजाय हमने तिब्बत से अपने सैनिक वापस बुला लिये और अपने डाक-तार प्रतिष्ठान चीन को सौंप दिए। हमने तिब्बत में कम्युनिस्ट चीन के शासन को मान्यता प्रदान की, और इस प्रकार अपने पड़ोसी को पूरी तरह धोखा दिया। चीन द्वारा आक्रमण और तिब्बत में अत्याचार किए जाने के बावजूद भारत सरकार बेख़बर बनी रही। उन्होंने (भारत सरकार ने) बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप अपनी नीतियों को कभी समायोजित नहीं किया। तिब्बत में चीन के पक्ष में अपने अधिकारों को त्याग देना एक बात है और एक आसन्न ख़तरे के प्रति बेपरवाह और आत्मतुष्ट बने रहना एक पूरी तरह भिन्न बात है। हम ऐसा व्यवहार करना ज़ारी रखे हुए हैं, जैसे कुछ हुआ ही न हो।

जब चीन ने बाराहोती में भारत की संप्रभुता का उल्लंघन किया, तो हमने अपनी भूमि की रक्षा करने के अपने दृढ संकल्प का कोई संकेत नहीं दिया। इसके विपरीत, हमने प्रस्ताव रखा कि अगर चीन इस क्षेत्र में सेना और असैन्य कर्मियों को न भेजने के लिए सहमत होता है, तो हम (भी) अपने सैनिकों को वापस ले लेंगे। इससे उसे यह संकेत मिल गया कि हमारी भावी कार्रवाई की दिशा क्या रहनी है, और इसने उसे नए सिरे से और आगे आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। वह (चीन) अक्साइ चिन के आर-पार सौ मील लंबी सड़क का निर्माण कर सका और हमारी ओर से किसी भी प्रतिरोध के बिना लद्दाख में भारतीय भूमि के हजारों वर्ग मील पर क़ब्ज़ा कर सका। अगर तिब्बत में विद्रोह न होता और दलाई लामा भारत न आते, तो इस देश के लोगों को अब तक न तो चीन के पापों के बारे में कुछ पता चला होता और न ही हमारी सरकार के भूलचूक के कृत्यों के बारे में पता चल पाता। यहाँ तक कि जब चीनी आक्रमण का तथ्य व्यापक रूप से पता चल चुका था, तब भी भारत सरकार उसे वापस धकेलने के लिए प्रभावी क़दम उठाने के बजाय व्याख्यान और बातचीत से इसे थामने की कोशिश करके संतुष्ट थी। यहाँ भी सरकार अपना रुख़ बदलकर भारत का नुक़सान करती रही।

प्रधानमंत्री ने सितंबर 1959 में घोषणा की थी कि भारत और चीन के बीच सीमा के वास्तविक सीमांकन में मामूली समायोजन को छोड़कर हम चीन द्वारा भारतीय क्षेत्र के बड़े हिस्से पर दावों से जुड़े किसी भी प्रश्न पर विचार नहीं करेंगे। उन्होंने यह भी दोहराया था कि भारत और तिब्बत के बीच सीमा 'संधि, परंपरा और उपयोग द्वारा' निर्धारित की गई है, और जहाँ चीन द्वारा उल्लंघन किया गया है, उसे छोड़कर कोई विवाद नहीं पैदा हुआ है। लेकिन अब हम कहाँ खड़े हैं? दोनों देशों के अधिकारियों ने लद्दाख से लेकर नेफा (नॉर्थ-ईस्ट फ्रंटियर एजेंसी) तक पूरी सीमा के संबंध में आँकड़ों की जाँच की है, हालाँकि वे किसी समझौते पर नहीं पहुँच सके। चीन के प्रधानमंत्री के साथ अपनी

पूर्वनिर्धारित बैठक के पहले प्रधानमंत्री के साथ जब भारतीय जनसंघ की मुलाकात हुई थी, तो हमने उनसे आग्रह किया था कि वे चीन द्वारा आक्रमण करके क़ब्ज़े में लिये गए क्षेत्र को ख़ाली करने को छोड़कर किसी भी अन्य सवाल पर चर्चा न करें। जनसंघ को आशंका थी कि यदि एक बार हमने सीमा के विषय पर बात की, तो यह पूरा मुद्दा विवाद का विषय बन जाएगा। दुर्भाग्य से हमारी आशंका सच हो गई है। गतिरोध दूर करने के बजाय बातचीत ने पूरी सीमा के बारे में अनिश्चितता पैदा कर दी है।

दोनों देशों के अधिकारियों की रिपोर्ट के प्रकाशन के बाद यह स्पष्ट हो गया है कि दोनों देशों के बीच किसी बिंदु पर मतैक्यता नहीं है और चीन आगे से आगे बढ़कर भारतीय क्षेत्र पर दावे करना जारी रखे हुए है। शांतिपूर्ण और बातचीत के ज़रिए समाधान के लिए दरवाज़े बंद हो चुके हैं। हमें अब दूसरे रास्ते तलाशने चाहिए। भारतीय जनसंघ मानता है कि अगर हम चाहते हैं कि चीन तर्क की भाषा समझे, तो प्रभावी कूटनीतिक दबाव और सक्रिय सैन्य उपाय ज़रूरी हैं। भारत सरकार को तिब्बत पर चीनी शासन को दी गई मान्यता वापस ले लेना चाहिए और दलाई लामा द्वारा आयोजित और उनके नेतृत्व वाले स्वतंत्रता आंदोलन को अपना पूरा समर्थन देना चाहिए। भारत को संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन की वकालत बंद कर देनी चाहिए। भारत में चीनी राजनयिकों के साथ पारस्परिकता के आधार पर व्यवहार किया जाना चाहिए। उन्हें उससे अधिक सुविधाएँ नहीं दी जानी चाहिए, जो चीन में हमारे प्रतिनिधियों को दी जाती हैं। गंगटोक और अन्य स्थानों पर उनके व्यापार वाणिज्य दूतावास बंद कर दिए जाना चाहिए।

सामान्य तौर पर एक प्रभावी सीमा नीति के लिए निम्न में से कुछ उपायों की आवश्यकता है—

सीमाओं की पवित्रता और भारतीय क्षेत्र की अविच्छेद्यता बनाए रखने के लिए सरकार और उसके प्रवक्ता को इसके बारे में हल्के अंदाज़ में बात करना बंद कर देना चाहिए। सरकार की नीतियों का बचाव करने के लिए इलाके या क्षेत्र की कठिनाइयों का या उसके ऊसर रहे होने का हवाला नहीं दिया जाना चाहिए। अगर एक-एक इंच भूमि की रक्षा की जानी है, तो इसके लिए लोगों को इसका प्रचंड अहसास कराया जाना चाहिए।

सीमा पर एस्टेब्लिशमेंट की भर्तियाँ, नियंत्रण और वित्त पोषण केंद्र द्वारा किया जाना चाहिए। अभी तक यह राज्यों की ज़िम्मेदारी है। अपर्याप्त वित्तीय संसाधन और ज़बरदस्त संकीर्ण राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता के साथ राज्य इस संबंध में अपने दायित्व का निर्वहन प्रभावी ढंग से नहीं कर सकते।

जिनकी निष्ठा सीमापार है, ऐसे व्यक्तियों और दलों को सीमावर्ती क्षेत्रों में कार्य करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। कम्युनिस्ट पार्टी, मुसलिम लीग और इस तरह के दलों को इन संवेदनशील क्षेत्रों में लोगों की राष्ट्र निष्ठा को क्षीण करने से रोका जाना चाहिए।

इन क्षेत्रों में सड़कें और संचार को विकसित करने के लिए तत्काल क़दम उठाए जाएँ और आसपास के क्षेत्र में पर्याप्त संख्या में छावनियाँ स्थापित की जाएँ।

इन क्षेत्रों के आर्थिक विकास के लिए विशेष योजना बनाई जाए। दुर्भाग्यवश, सीमावर्ती क्षेत्र लंबे समय से लगातार उपेक्षा और भीषण ग़रीबी से ग्रस्त हैं। यहाँ ऐसे विशाल क्षेत्र हैं, जिनमें युवा आबादी रोज़गार के लिए बाहर जाने के लिए मजबूर है। स्वाभाविक रूप से यह संचलन, क्षेत्र की रक्षा संभाव्यता को प्रभावित करता है।

स्थानीय आबादी को प्रशिक्षित और सुसज्जित किया जाना चाहिए।

सरकार अपनी तुष्टीकरण की नीति छोड़े और इसके बजाय सीमाओं की रक्षा करने के लिए अपने दृढ संकल्प का प्रत्यक्ष सबूत दे। अगर लोगों को पता होगा कि सरकार अपने दायित्व के प्रति गंभीर है, तो उनके अपने विश्वास में सौ गुने की वृद्धि हो जाएगी। सरकार गतिशील बने, न कि निर्जीव।

—कार्यालय सचिव जे.पी. माथुर के पत्र

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

18

जबलपुर से परे रहो!

जबलपुर में जो हुआ है,[1] वह कष्टकारी है, लेकिन जिस तरह से कथित रूप से ज़िम्मेदार प्रेस और भारत के राजनीतिज्ञ इन खेदजनक घटनाओं पर प्रतिक्रिया करते आ रहे हैं, वह शर्मनाक और हानिकारक है। इससे केवल यह पता चलता है कि हम घटनाओं को उचित परिप्रेक्ष्य में पहचानने और विश्लेषण करने की क्षमता खो चुके हैं। हम तर्क की तुलना में आवेगों से अधिक संचालित हो रहे हैं। अगर प्रधानमंत्री की घोषणाओं और जो लोग उनके विचारों के वृंदगान में अपना सुर मिलाना अपना कर्तव्य समझते हैं, उन लोगों के विचारों के पीछे कोई तर्क है, तो वह राष्ट्रीय और स्वाभाविक होने के बजाय पक्षपातपूर्ण और पूर्वग्रहग्रस्त है। तथ्यों का पता लगाए बिना और पूरी बात का मूल कारण जाने बिना वे लोग कथित दोषी की निंदा कर रहे हैं और उन कथित पीड़ितों के साथ सहानुभूति जता रहे हैं, जिन्होंने कल्पित बेगुनाही का लबादा ओढ़ लिया है। राष्ट्रपति अयूब ने तो जबलपुर के बारे में रोना-गाना मचाने के लिए केवल प्रधानमंत्री नेहरू से प्रेरणा ली है।

यह सत्य है कि जबलपुर में जान-माल का नुक़सान हुआ है। लेकिन ऐसा किसी भी एक समुदाय मात्र के साथ नहीं हुआ है। अस्पष्ट और सामान्य शब्दों में कहे गए सरकारी प्रेस नोटों ने पाकिस्तान और मुसलिम सांप्रदायिक प्रेस को यह प्रचार करने का

---

1. भारत के विभाजन के उपरांत हिंदुओं और मुसलिमों के बीच पहली बार बड़े दंगे जबलपुर, मध्य प्रदेश में 4-9 फरवरी, 1961 को हुए। हिंसा के सही कारणों का पता नहीं चल सका। इस बारे में दो मत हैं। न्यायमूर्ति शिव दयाल श्रीवास्तव जाँच आयोग की रिपोर्ट के अनुसार 3 फरवरी को दो मुसलिम युवकों द्वारा एक युवा हिंदू लड़की के बलात्कार और उसके बाद उसकी आत्महत्या से सांप्रदायिक दंगे भड़के। दूसरी रिपोर्ट के अनुसार बीड़ी के एक प्रमुख व्यवसायी की पुत्री के प्रतिद्वंद्वी मुसलिम के पुत्र के साथ भाग जाने से दंगे भड़के। बीड़ी उद्योग में हिंदू-मुसलिम प्रतिद्वंद्विता ने स्थिति को और भी गंभीर बना दिया था।

एक औजार दे दिया है कि केवल मुसलमानों को बुरी तरह प्रभावित होना पड़ा है। यह तथ्य से कोसों दूर है। हिंदुओं को कोई कम नुक़सान नहीं उठाना पड़ा है। और अग़र मुसलमानों का कुछ भी नुक़सान हुआ है, तो वह पुलिस और सेना के साथ उनकी मुठभेड़ों में हुआ है, जबकि हिंदू संगठित मुसलमानों की भीड़ के पूर्व नियोजित हमलों के शिकार हुए हैं। पुलिस और सेना द्वारा बल का प्रयोग उचित था या नहीं, यह जाँच का विषय है, जिसके लिए मध्य प्रदेश सरकार सहमत हो चुकी है। जबलपुर में हर व्यक्ति इस बात पर सहमत है कि 7 फरवरी की रात को, जब मुसलमानों ने हमला किया था, यदि पुलिस और सेना का आगमन और कार्रवाई समय पर न हुई होती, तो पूरा जबलपुर ढहा दिया गया होता। निहित हित वाले पक्षों द्वारा और यहाँ तक कि उच्च पदस्थ व्यक्तियों द्वारा किया गया कितना भी प्रचार स्थानीय लोगों के विचारों को नहीं बदल सकता है, जिन्हें अहसास है कि उन्हें मौत के चंगुल से बचाया गया है।

जबलपुर में मैंने देखा है कि कांग्रेस, पी.एस.पी. और कम्युनिस्टों में मुसलमानों का दिल जीतने की एक होड़ लगी हुई है, ताकि अगले आम चुनावों में उनका वोट पाया जा सके। श्रीमती इंदिरा गांधी से लेकर कॉमरेड शाकिर अली तक, वहाँ जाने वाले किसी नेता को हिंदू मुहल्लों में जाना आवश्यक नहीं लगा, जिन्हें भीड़ के हमलों का लक्ष्य बनाया गया था। जबकि उन मुसलमानों को, जिन्होंने अपने घर खो दिए हैं या घबराहट में छोड़ दिए हैं, उनको विशेष शिविरों में सरकारी ख़र्च पर खिलाया जा रहा है और उनकी देखभाल की जा रही है, जबकि असुरक्षित महसूस कर रहे क्षेत्रों के ग़रीब हिंदुओं को उनके अपने हाल पर छोड़ दिया गया है। मैं ऐसे कई लोगों से मिला हूँ, जो इन दंगों के कारण कई दिनों से बेरोज़गार हैं, और जो अपने रिश्तेदारों या परिचितों के घरों में पलायन करने के लिए बाध्य हुए हैं, और जो अब भी अपने घरों को लौटना सुरक्षित नहीं समझते हैं। राजनीतिक दल और अधिकारी मुसलमानों को हुए नुक़सान के आँकड़े जुटाने में व्यस्त हैं, लेकिन हिंदुओं को हुए नुक़सान के संबंध में कोई आँकड़ा या सूची नहीं जुटाई जा रही है। यह वास्तव में दुःखद है कि लोगों की आपदा तक को इस सांप्रदायिक और राजनीतिक कोण से देखा जा रहा है और दलगत हितों की पूर्ति करने में इस्तेमाल करने की कोशिश की जा रही है। वास्तव में जबलपुर दंगों पर कांग्रेस और अन्य पार्टियों द्वारा दिखाई जा रही भारी-भरकम चिंता आश्चर्य का विषय है। यही कारण है कि घटनाओं को हद से ज़्यादा विकृत कर दिया गया है और बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया गया है। जो सरकार और पार्टी आसाम में हुए सर्वनाश को लेकर ज़रा भी विचलित नहीं थी, वह जबलपुर दंगों पर किस हद तक और किस तीव्रता से उग्र लड़ाकू बन गई है, जबकि जबलपुर दंगे आसाम में हुए दंगों का सौवाँ हिस्सा भी नहीं हैं। कांग्रेस में मुसलिम भक्तों को विनाश करने के लिए खुली छूट दे दी गई है। कांग्रेस आलाकमान

की ओर से जबलपुर के मुसलमानों के बारे में इस असाधारण और असामान्य चिंता का परिणाम यह निकला है कि स्थानीय अधिकारियों ने, मात्र इन उच्चस्तर के लोगों को संतुष्ट करने के लिए हिंदुओं को धड़ल्ले से गिरफ़्तार करना और उनके घरों पर छापे मारना शुरू कर दिया है। निर्दोष लोगों को सलाखों के पीछे किया जा रहा है और यहाँ तक कि उनकी ज़मानत याचिकाएँ भी स्वीकार नहीं की जा रही हैं। वे (प्रशासनिक अधिकारी) इन दमनकारी उपायों को ज़मीनी स्थिति की असामान्यता के आधार पर उचित ठहराते हैं। लेकिन तथ्य यह है कि अगर ज़मीनी स्थिति में असामान्यता है, तो यह प्रधानमंत्री द्वारा लगाई गई अटकलों और भाषणों और अधिकारियों द्वारा उठाए गए क़दमों की वजह से है। अन्यथा स्थिति सामान्य है। और अगर विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं का जबलपुर के दौरे करना और जबलपुर के बारे में बात करना रोक दें, और अधिकारी सामान्य तरीक़े से अपराधियों से निपटें तथा निर्दोष लोगों को आतंकित करना बंद कर दें, तो स्थितियाँ कुछ ही समय में सामान्य हो जाएँगी। जाँच आयोग पूरे घटनाक्रम की जाँच करे और जो लोग सत्ता में हैं, उन्हें मुद्दों पर पहले ही फ़ैसला निकालकर फ़ैसले को प्रभावित करने की कोशिश करने की ज़रूरत नहीं है।

राजनीतिक दल अपने आपको जबलपुर से दूर रखें, यही समय की माँग है।

—ऑर्गनाइज़र, मार्च 6, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

☐

19

रक्षा सीमा पार शुरू होती है

सैनिकों को कांगो भेजने[1] का भारत सरकार का निर्णय हमारी विदेश नीति में एक प्रमुख विचलन है। यह एक ऐसी प्रकृति की भागीदारी है, जिससे सकुशल वापस निकल सकना मुश्किल ही है। इस फ़ैसले के पक्ष में सिर्फ़ यह कहा जा सकता है कि अगर संयुक्त राष्ट्र को प्रभावी बनाया जाना है, तो किसी-न-किसी को उन प्रमुख ऑपरेशनों के लिए मानवशक्ति की पूर्ति करने की ज़िम्मेदारी अपने कंधों पर लेनी होगी, जिन्हें पूरा करना (संयुक्त राष्ट्र के लिए) आवश्यक है। ज़ाहिर है कि यह ज़िम्मेदारी असंबद्ध राष्ट्रों के कंधों पर आती है, क्योंकि बड़ी शक्तियों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप, संयुक्त राष्ट्र के तत्त्वावधान में भी, केवल परिस्थितियों को और अधिक जटिल बनाता है और उन्हें पहले की तुलना में अधिक ज्वलनशील बना देता है। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या असंबद्ध राष्ट्र प्रभावी ढंग से संयुक्त राष्ट्र को कांगो में अथवा अन्य गंभीर रूप से ज्वलंत हो सकने वाले स्थानों पर प्रभावी बना सकते हैं। प्रधानमंत्री और अन्य लोग, जो उसी तरह से सोचते हैं, उपरोक्त प्रश्न का उत्तर हाँ में दिए बिना स्थिति को धीरे धीरे मोड़ लेने और इस प्रकार पलायनवाद के आरोप के दोषी होने के बजाय जोखिम उठाने की वांछनीयता में औचित्य सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। लेकिन जहाँ

---

1. 1960 में बेल्जियम ने कांगो में अपने 78 साल के शासन का अंत कर दिया और वहाँ पैट्रीस लुमुंबा ने पहली राष्ट्रीय सरकार बनाई। जल्द ही कांगो में जनजातीय हिंसा भड़क उठी और कटंगा व कसाई के प्रदेश अलग हो गए। कांगो को विनाशकारी गृहयुद्ध से बचाने के लिए यू.एन. सुरक्षा परिषद् ने 21 फरवरी, 1961 के अपने संकल्प के आधार पर उस देश में सैन्य हस्तक्षेप का निर्णय लिया। कांगो में यू. एन. सेना के पास भारत ने आरंभ में कुछ असैन्य सहयोग के लिए टुकड़ियाँ भेजीं, लेकिन बाद में संयुक्त राष्ट्र के निवेदन पर भारत ने अपना सहयोग बढ़ाया और सेना की टुकड़ी भेजी। ब्रिगेडियर के.ए.एस. राजा के नेतृत्व में 99 इन्फैंट्री ब्रिगेड मार्च से जून 1961 के दौरान हवाई व समुद्री मार्ग से कांगो की राजधानी लिवोपोल्डविले भेजी गई।

सेना के ठहरने और यातायात आदि के प्रबंध का प्रश्न आता है, यह तर्क ठोस नहीं हो सकता है। कांगो में सैन्य अर्थों में प्रभावी होने के लिए संयुक्त राष्ट्र महासभा में बहस करने से ज़्यादा कुछ वांछित है। कांगो की जटिल राजनीतिक परिस्थितियों में, जहाँ स्थानीय आबादी बँटी हुई है और विभिन्न समूह एक-दूसरे के धुर विरोधी हैं, और बड़ी महाशक्तियों के गुटों का ऊँचा दाँव लगा हुआ है, हमारे योद्धाओं के लिए स्थिति को नियंत्रित करना और एक सरकार द्वारा सही मायनों में आधिपत्य ग्रहण करने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ बनाना आसान नहीं है। अंततः हमारी सफलता काल्पनिक या अनिश्चित है, लेकिन हम सोवियत और पश्चिमी दोनों गुटों में अलोकप्रियता निश्चित रूप से अर्जित कर चुके हैं। संयुक्त राष्ट्र महासचिव[2] को उदार समर्थन देकर हमने सोवियत संघ को नाराज़ कर लिया है और सेना भेजकर हमने लोकतांत्रिक देशों को नाराज़ कर लिया है। यह अभी भी देखा जाना बाक़ी है कि क्या हमारे क़दम को अफ्रीकी लोगों से भी किसी तरह का समर्थन मिलता है। अब तक की घटनाएँ केवल सुदूर कांगो से घर लौटने का संकेत करती हैं। जब हमारी अपनी सीमाओं पर आक्रमण किया गया है और उन पर ख़तरा है, तब विदेशों में सैनिक भेजने में शायद ही कोई समझदारी खोजी जा सकती हो। जहाँ तक हमारे युद्धक बलों का प्रश्न है तो क्या हमारे पास ज़रूरत से ज़्यादा सैन्य बल है? या फिर क्या हम यह सोचते हैं कि हमें देश में सैन्य बल की आवश्यकता न है और न होगी? क्या आवश्यकता पड़ने पर हमारे लिए उन्हें तुरंत वापस बुला सकना संभव होगा, ताकि अगर ज़रूरत पड़े, तो इस सेना से देश में मौजूद शेष बलों को सुदृढ बनाया जा सके? उस स्थिति में संयुक्त राष्ट्र का और कांगो में उसकी जो ज़िम्मेदारी हमने स्वेच्छा से अपने कंधे पर उठा रखी है, उसका क्या होगा?

निश्चित रूप से प्रधानमंत्री ने ऐसी किसी भी आकस्मिकता के बारे में विचार नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह चीनी घुसपैठ या पाकिस्तानी ख़तरों की तुलना में कांगो के बारे में अधिक चिंतित हैं। यहाँ तक कि अगर वह महासचिव का अनुरोध मानकर उनको उपकृत करना चाहते थे, तो भी एक ब्रिगेड भेजने की क्या आवश्यकता थी, जब माँग एक बटालियन के लिए ही की गई थी? अनुमान लगाया गया है कि कांगो में लगभग 6000 भारतीय सैनिक तैनात किए जाएँगे।

एक-एक हज़ार सैनिकों वाली तीन बटालियनों से मिलकर बनी एक ब्रिगेड को भारत से निर्यात किया जाएगा, जो सभी आधुनिक हथियारों से लैस की जाएँगी। इसमें सिख, डोगरा और गोरखा बटालियनें शामिल हैं और इस तरह ये हमारे सुरक्षा बलों का

2. डैग हैमरशॉल्ड, स्वीडन के राजनयिक, अर्थविद् और लेखक थे। ये संयुक्त राष्ट्र के दूसरे महासचिव (अप्रैल 1953 से सितंबर 1961 तक) रहे। कांगो में शांति बहाली मिशन के दौरान हवाई जहाज़ दुर्घटना में इनकी मृत्यु हो गई थी।

सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व करती हैं।

हमारी ऊर्जस्वी तटस्थता संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय की सीमाओं को पार कर चुकी है और अब वह मात्र उपयोगी सलाह देने और निष्पक्ष फ़ैसला देने से संतुष्ट नहीं है। यह (तटस्थता)अब गंभीर जोखिम उठाकर भी ख़ुद को जताना चाहती है। यह अब अड़ियल और उग्र ढंग से सक्रिय होती जा रही है। जहाँ तक हमारे राष्ट्रीय हितों का प्रश्न है, हम एक तटस्थ पर्यवेक्षक की भूमिका अपनाकर पहले ही बहुत ज़्यादा नुक़सान उठा चुके हैं, जिसमें हम सभी की आलोचना करते हैं और सभी को सलाह देते हैं, और इस प्रकार सभी की सहानुभूति से अपने आपको दूर कर लेते हैं। अब अपनी सक्रिय भागीदारी से हम इसी प्रक्रिया को आगे बढ़ा सकते हैं।

यह नीति जो सबसे बड़ा नुक़सान कर चुकी है, वह यह है कि इसने हमें व्याकुल करनेवाली समस्याओं के संबंध में हमारी दृष्टि को विकृत कर दिया है। गुरुत्व का केंद्र भारत से दूर कांगो स्थानांतरित कर दिया गया है। हमारे दैनिक समाचार-पत्रों की सुर्खियाँ और उनके संपादकीय हमें अपने स्वयं के बारे में बताने से अधिक दुनिया की समस्याओं के बारे में बताते हैं। राजनीतिक दल हमारे राष्ट्रीय नेताओं में से किसी के निधन की तुलना में लुमुंबा (पैट्रीस एमरी लुमुंबा, जो कांगो के स्वतंत्रता आंदोलन के नेता और कांगो के पहले लोकतांत्रिक ढंग से निर्वाचित प्रधानमंत्री थे) की मौत पर अधिक दुःखी हैं।

कासा-वुबु[3] और मोबुतु[4], केसकर[5] या मोरारजी से अधिक जाने जाते हैं। यहाँ तक कि दिल्ली के रिक्शा चलाने वालों से भी एक दिन की सड़कों से छुट्टी करवा कर लुमुंबा की हत्या पर शोक व्यक्त करवाया जाता है। यह सभी सरकार की घरेलू विफलताओं से लोगों का ध्यान हटाने के लिए विषयांतर करनेवाले हथकंडे हो सकते हैं। कम्युनिस्ट और कांग्रेस दोनों केवल चीनी ख़तरे से लोगों का ध्यान हटाने के लिए एकजुट और सहमत हुए हैं।

विश्व परिस्थिति के बारे में कल्पित रोगों और कल्पित लक्षणों पर विश्वास करके हम धीरे-धीरे हमारे अपने मामलों को सँभालने की क्षमता खोते जा रहे हैं। हमें अपने आप को इस अंतरराष्ट्रीय विक्षिप्तता से मुक्त करना होगा और अपनी स्वयं की देखभाल

---

3. जोसेफ कासा-वुबू (1910-1969) कांगो-लिवोपोल्डविले, (आज डेमोक्रेटिक रिपब्लिक ऑफ कांगो) के पहले राष्ट्रपति थे।
4. मोबुतु सेसे सेको (1930-1997), जब कांगो 30 जून, 1960 को स्वतंत्र हो गया, राष्ट्रपति जोसेफ कासा-वुबू और प्रधानमंत्री लुमुंबा की गठबंधन सरकार ने मोबुतु को राष्ट्रीय रक्षा मंत्री नियुक्त किया। बाद में वह जायरे (अब डेमोक्रेटिक रिपब्लिक ऑफ कांगो) का राष्ट्रपति बना, जिसने 1965 में सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया और लगभग 32 साल तक शासन किया। 1997 में सत्ता के ख़िलाफ़ हुए विद्रोह में उसे बाहर कर दिया गया।
5. बालाकृष्ण विश्वनाथ केसकर (1903-1984) भारतीय राजनीतिज्ञ थे और 1952 से 1962 तक केंद्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्री रहे।

करनी होगी। विश्व हमारे बिना समाप्त नहीं हो जाएगा; लेकिन उसकी रक्षा करने के हमारे पथभ्रष्ट प्रयासों से एक दिन विश्व हमारे बिना हो सकता है। प्रधानमंत्री को प्रधानमंत्री के रूप में अधिक और विदेश मंत्री के रूप में कम कार्य करना होगा।

घटनाक्रमों को गति देनेवाले भारत में होने चाहिए, न कि विदेशों में।

—ऑर्गनाइज़र, मार्च 13, 1961

□

20

भारत चीनी आक्रमण के विरुद्ध तिब्बत की स्वतंत्रता का समर्थन करे

दीनदयालजी का यही वक्तव्य ऑर्गनाइज़र में 20 मार्च, 1960 को 'China should be admitted to U.N. only if it quits Tibet and Sinkiang' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।

श्री दलाई लामा ने भारत सरकार से अपील की कि वह राष्ट्रसंघ में तिब्बत की स्वतंत्रता का समर्थन करे। भारत-चीन अधिकारियों की रिपोर्ट से यह बात स्पष्ट हो जाने के बाद 10 वर्ष पहले चीनी आक्रमण से पूर्व तक तिब्बत एक स्वतंत्र प्रभुसत्ता-संपन्न राष्ट्र रहा है, अब तिब्बत पर चीनी अधिकार को मान्यता देने का कोई औचित्य नहीं हो सकता।

स्वातंत्र्यप्रिय वीर तिब्बती देशभक्त अपनी मातृ-भूमि के उद्धारार्थ चीनी आक्रमणकारियों से अविरल संघर्ष कर रहे हैं। विपरीत परिस्थितियों में भी उन्होंने अपने स्वातंत्र्य की दीपशिखा प्रज्वलित रखी है। तिब्बती स्वाधीनता के प्रयासों की द्वितीय जयंती के अवसर पर भारतीय जनता तिब्बत स्वाधीनता-संग्राम के सेनानियों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हुए उनके प्रयत्नों में पूर्ण सहयोग का आश्वासन देती है।

आज जब पुराने साम्राज्यवाद की जड़ें हिल चुकी हैं, ऐसी अवस्था में स्वतंत्र विश्व किसी के नए साम्राज्यवाद या विस्तारवाद को पनपने का अवसर नहीं दे सकता, जो छोटे स्वतंत्र राष्ट्रों को अपना शिकार बनाकर मानव की मूलभूत स्वाधीनता एवं सम्मान को ही चुनौती देता हो। तिब्बत को दिया गया हमारा समर्थन, छोटे राष्ट्रों को

शक्तिशाली लोभी राष्ट्रों से अपनी स्वाधीनता को आरक्षित रखने में आश्वस्त कर सकेगा। चीन को राष्ट्रसंघ में भी स्थान देना तभी उचित होगा, जब वह तिब्बत एवं सिक्यांग की भूमि से अपने सैनिक हटाकर राष्ट्रसंघ की आधारशिला एवं मानव अधिकारों के प्रति अपनी आस्था प्रकट करे।

केवल पड़ोसी के नाते ही नहीं अपितु इस कारण भी हमें तिब्बत का समर्थन करना आवश्यक है, क्योंकि हमारे प्रधानमंत्री की सलाह पर ही दलाई लामा ने चीन के उस आश्वासन पर विश्वास किया था, जिसमें तिब्बत की स्वायत्तता स्वीकार की गई थी। साथ ही भारत की सुरक्षा एवं सीमा-रक्षा की दृष्टि से भी स्वतंत्र तिब्बत का समर्थन आवश्यक है। हमारे हित, हमारी अस्मिता एवं परंपरा तथा समस्त विश्व में शांति एवं स्वतंत्रता की हमारी हार्दिक अभिलाषा का यह तक़ाज़ा है कि हम अपनी पूरी शक्ति के साथ तिब्बत की स्वाधीनता का समर्थन करें।

अब समय आ गया है कि जब भारत अपनी उस भूल का परिमार्जन कर सकता है, जिससे उसने तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली थी। जब दूरस्थ देश अपनी स्वाधीनता की लड़ाई में हमारा समर्थन प्राप्त कर रहे हैं, ऐसी अवस्था में अपने उत्तरी सीमांत के उस पड़ोसी राष्ट्र के साथ हमें विश्वासघात नहीं करना चाहिए, जिसके साथ हमारे सदियों पुराने परंपरागत संबंध रहे हैं।

यदि हम अपनी लड़ाकू टुकड़ियाँ कांगो भेज सकते हैं तो अपने राष्ट्रसंघ स्थित प्रतिनिधि[1] को यह आदेश क्यों नहीं दे सकते कि तिब्बत का प्रश्न अपने हाथ में ले।

—पाञ्चजन्य, मार्च 27, 1961

□

1. वेंगालिल कृष्णन कृष्ण मेनन (1896-1974), 1952 से 62 तक संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत के प्रतिनिधि थे ।

21

पाकिस्तान के साथ समझौते के बारे में जनता को अँधेरे में रखा जा रहा है

राष्ट्रपति अयूब ख़ान ने घोषणा की है कि भारत से पूर्वी बंगाल में बह रहे नदियों के पानी के उपयोग की समस्या का अध्ययन करने के लिए एक अधिकृत दल की नियुक्ति के लिए भारत के प्रधानमंत्री उनसे सहमत हो गए हैं। हमेशा की तरह इस समझौते के बारे में जानकारी पाकिस्तान से आई है, और प्रधानमंत्री और भारत सरकार ने जनता को विश्वास में लेना उचित नहीं माना है। पाकिस्तान के साथ हमारे व्यवहार के दौरान लगातार, भारत सरकार ने चोरी-छिपे काम करनेवाला रवैया अपनाया है और हर बार लोगों को अँधेरे में रखा गया है। मैं सरकार की इस नीति की कठोर निंदा करता हूँ।

भारतीय जनसंघ कुल मिलाकर भारत और पाकिस्तान के बीच लंबित मुद्दों के निपटारे के किसी भी प्रयास का स्वागत करेगा, वहीं यह अवांछनीय है कि हम केवल उन प्रश्नों पर बात करने के लिए सहमत हों, जो पाकिस्तान के लिए सुविधाजनक हों। पिछले कुछ वर्षों के दौरान हमारे सीमा मुद्दों पर और सिंधु जल[1] के बँटवारे के विषय पर पाकिस्तान के साथ कई समझौते हुए हैं। जैसा कि हम जानते हैं, प्रत्येक मामले में

---

1. सिंधु जल संधि भारत और पाकिस्तान के बीच एक जल वितरण संधि है, जो विश्व बैंक (तब उसका नाम इंटरनेशनल बैंक फॉर रिकान्स्ट्रक्शन एंड डेवेलपमेंट था) की मध्यस्थता में संपन्न हुई। इस संधि पर 19 सितंबर, 1960 को कराची में भारतीय प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू और पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब ख़ान ने हस्ताक्षर किए। इस समझौते के अनुसार तीन पूर्वी नदियों ब्यास, रावी और सतलज पर भारत को और तीन पश्चिमी नदियों सिंधु, चिनाब और झेलम पर पाकिस्तान को स्वामित्व प्रदान किया गया। संधि के प्रावधानों के अनुसार भारत सिंधु नदी के कुल जल का 20 प्रतिशत ही प्रयोग कर सकता था।

भारत के वैध अधिकारों और हितों को नुक़सान उठाना पड़ा है। लेकिन पाकिस्तान लगातार वित्तीय मुद्दों को सुलझाने से इनकार करता आ रहा है।

पाकिस्तान ने विभाजन के अनुमानित 300 करोड़ रुपए के ऋण में से एक भी पाई का भुगतान नहीं किया है। हिंदुओं द्वारा पाकिस्तान में छोड़ी गई लगभग 500 करोड़ रुपए मूल्य की निष्क्रांत संपत्ति के प्रश्न पर विचार करने के लिए पाकिस्तान सहमत नहीं हुआ है।

इसके अलावा भारत के प्रति पाकिस्तान के रवैये में कोई बदलाव नहीं आया है। भारत के ख़िलाफ़ घृणा का अभियान बेरोकटोक जारी है और पाकिस्तान सरकार ने भारत की छवि ख़राब करने और भारत का मिथ्यापवाद करने का कोई भी अवसर नहीं चूका है। भारत के विरोध की अनदेखी करके वह कश्मीर-तिब्बत और कश्मीर-सिन्कियांग सीमा के संबंध में चीन से बात करने की कोशिश कर रहा है। यह चीन के समक्ष भारत की स्थिति को कमज़ोर करने का प्रयास है। मुझे लगता है कि जब तक़ पाकिस्तान ठीक से व्यवहार करना नहीं सीख जाता है, हमें पाकिस्तान से बात करने से इनकार कर देना चाहिए।

दूसरी बात यह कि हमें पाकिस्तान की सद्भावना अर्जित करने की व्यर्थ आशा में एक के बाद एक बिंदुओं को मानते जाने के बजाय सभी मुद्दों को एक साथ रखना चाहिए।

पंचमांगी तत्त्व और महाराष्ट्र सरकार

मैं राज्य में राष्ट्र विरोधी तत्त्वों और गद्दारों के गिरोहों से दृढता से निपटने के बारे में महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री द्वारा दिए गए आश्वासन का स्वागत करता हूँ। लेकिन मैं उनको स्मरण कराना चाहता हूँ कि मिराज शैक्षणिक सम्मेलन के समय मुसलमानों को दी गई उनकी सलाह पूरी तरह से ख़ारिज कर दी गई थी और यह कि उनकी सरकार, ख़ुद को जताने के बजाय सम्मेलन की अलगाववादी माँगों के आगे समर्पण भर करती रह गई थी। मैं जानना चाहता हूँ कि औरंगाबाद की घटना के बाद सरकार ने क्या क़दम उठाए हैं। क़ानून व्यवस्था छिन्न-भिन्न करने में लगे तत्त्वों की चुनौती का सामना करने के लिए हमें कार्रवाई की ज़रूरत है, न कि भाषणों की।

दोषग्रस्त तीसरी योजना

केंद्रीय वित्त मंत्री[2] ने उदारतापूर्वक कुछ कर प्रस्तावों को वापस लेने की घोषणा

2. मोरारजी देसाई (1896-1995) 13 मार्च, 1958 से 29 अगस्त, 1963 तक केंद्रीय वित्त मंत्री थे।

की है, जिसके परिणामस्वरूप 4.5 करोड़ रुपए के कर बोझ की कमी होगी। यह लोगों को धोखा देने का केवल एक शरारतपूर्ण क़दम है।

इससे लोगों को नाममात्र की भी राहत नहीं मिल सकेगी, क्योंकि अतिरिक्त कराधान का बोझ 60 करोड़ रुपए तक का है। अगर नए स्तर के राज्यों के प्रस्तावों को भी जोड़ लिया जाए, तो कराधान का यह बोझ 80 करोड़ रुपए तक हो जाएगा।

कारण जो भी हो, इस तरह का भारी-भरकम कराधान मौजूदा आर्थिक स्थिति में उचित नहीं है।

इस (कराधान) का स्फीतिकारी प्रभाव पहले ही क़ीमतों में अचानक आई वृद्धि में दिख रहा है। इस मूल्य-वृद्धि के लिए व्यापार को दोष देने का कोई लाभ नहीं है। यह केवल अपना अपराध दूसरे व्यक्ति पर मढ़ने का प्रयास है। मुझे लगता है कि सरकार को अपनी राजकोषीय और मौद्रिक नीतियों का गंभीरता से पुनरावलोकन करना चाहिए। अगर इन नीतियों का संचालक कारक तीसरी योजना के लिए संसाधनों की आवश्यकता है, तो अच्छा यह होता कि टाले जा सकने योग्य तनाव और दबाव पैदा करने के स्थान पर इस योजना को उपलब्ध संसाधनों और सहने योग्य बोझ के साथ समायोजित किया जाता। यह तनाव और दबाव अर्थव्यवस्था को प्रतिकूल ढंग से प्रभावित कर सकते हैं।

तीसरी पंचवर्षीय योजना दूसरी योजना के सभी दोषों से ग्रस्त है। यह आश्चर्य की बात है कि इस दौर में भी इसके आकार और आबंटन को लेकर कोई निश्चितता नहीं है। 9,900 रुपए से धीरे-धीरे बढ़ते हुए यह 12,000 करोड़ रुपए की योजना बन गई है। नवीनतम समाचार यह है कि 100 करोड़ की एक अतिरिक्त राशि की ज़रूरत बिजली परियोजनाओं के लिए पड़ सकती है। रेलवे के असमन्वित विकास और परिवहन की बढ़ती ज़रूरतों के कारण बाधाएँ उभरी हैं। ऐसा ज़रूर संभव है कि इस समस्या के समाधान के लिए रेलवे की योजना के लिए कुछ अतिरिक्त आबंटन की आवश्यकता पड़ सकती थी। इस ढंग से (योजना के) आकार को लंबा खींचने का अर्थ है लोगों पर बहुत भारी बोझ डालना। यदि केंद्रीय मंत्री इतने साहसी हैं कि वह चुनावी वर्ष में 60 करोड़ रुपए के नए कर लागू कर सकते हैं, तो हम सिर्फ़ कल्पना कर सकते हैं कि यदि इस योजना को, जिस रूप में यह है, वैसे ही निष्पादित किया जाना है, तो हमें चुनाव के बाद कितना अधिक सहन करने की आवश्यकता हो सकती है।

आज हमें आवश्यकता इस बात की है कि हमारी आर्थिक, राजनीतिक और अंतरराष्ट्रीय नीतियों का क्रांतिकारी ढंग से पुनरावलोकन हो। कांग्रेस अपनी मौजूदा क्षीण शक्ति, आंतरिक गुटीय प्रतिद्वंद्विता, पद का लालच और उसके वयोवृद्ध नेतृत्व के साथ ऐसा दृढ क़दम उठाने का साहस नहीं जुटा सकती है। इसके बिना देश को वर्तमान

दलदल से उबारा नहीं जा सकता है। उन सभी लोगों को, जिनमें साहस और दृढ विश्वास हो, समर्पण और अनुशासन हो, आगे आना होगा और एक संगठन का निर्माण करना होगा जो इस चुनौती का उत्तर देने में सक्षम हो।

—ऑर्गनाइज़र, मार्च 27, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

22

जनता समय की चुनौती स्वीकार करे

महाराष्ट्र दौरे में दीनदयालजी द्वारा दिए गए भाषणों एवं वक्तव्यों का विवरण।

18 मार्च को पूना के शनिवारबाड़ा मैदान में आयोजित एक महती जनसभा में जनसंघ के महामंत्री पं. दीनदयाल उपाध्याय ने कांग्रेस की कर-नीति की कटु आलोचना की।

पं. दीनदयाल उपाध्याय इसके पूर्व भी अनेक बार महाराष्ट्र प्रदेश आ चुके हैं, पर यह प्रथम अवसर है, जब लगातार 15 दिनों तक प्रदेश के भिन्न-भिन्न भागों का दौरा कर जनता और कार्यकर्ताओं के समक्ष जनसंघ की तात्त्विक भूमि को प्रतिपादित कर वर्तमान समय में उसकी आवश्यकता पर ज़ोर दे रहे हैं।

बंबई में

सत्य सिद्धांतों एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण के आधार पर जनसंघ दिनोदिन प्रगति करता जा रहा है और उसने 'कांग्रेस के बाद कौन?' की चुनौती स्वीकार की है।

बंबई में प्रतिष्ठित नागरिकों से वार्ता करते हुए आपने कहा कि केवल मात्र कांग्रेस को हराने के उद्देश्य से संयुक्त मोरचे का निर्माण वांछनीय नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि वास्तविक समस्याओं के प्रति जनता में जागरूकता निर्माण की जाए और विधायक दृष्टिकोण से उन्हें संगठित किया जाए। इसी बात को ध्यान में रखकर जनसंघ दृढतापूर्वक अपने पैर आगे बढ़ाता जा रहा है।

पंचमांगियों की सक्रियता

दूसरे दिन अमर हिंद मंडल के प्रांगण में लगभग 2 सहस्र जनसंघ-कार्यकर्ताओं के

समक्ष जनसंघ की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए आपने कहा कि देश की सीमाओं पर आक्रमणकारी प्रहार करने की चेष्टा में हैं ओर देश के अंदर सरकारी नीतियों का लाभ उठाकर पंचमांगी तत्त्व सक्रिय हो रहे हैं। ऐसी अवस्था में जनता के अंदर आत्मविश्वास और साहस जगाने के लिए जनसंघ के कार्य का तीव्रगति से विस्तार आवश्यक है।

कोरे भाषण नहीं, कार्रवाई चाहिए

सायंकाल शनिवारवाड़े की विशाल जनसभा में लगभग 50 स्थानीय संस्थाओं की ओर से पंडितजी का अभिनंदन किया गया।

''मैं महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री[1] के उस वक्तव्य का स्वागत करता हूँ, जिसमें उन्होंने अराष्ट्रीय एवं पचमांगी तत्त्वों के साथ कड़ाई बरतने का आश्वासन दिया है। पर साथ ही मैं उनका ध्यान इस तथ्य की ओर भी आकर्षित करना चाहता हूँ कि मीरज मुसलिम कॉन्फ्रेंस के अवसर पर उनके द्वारा दी गई सलाह को मुसलमानों ने मानने से साफ़ इनकार कर दिया है। दुर्भाग्य की बात यह है कि अपनी सही बात का आग्रह करने के स्थान पर सरकार उनकी विघटनवादी माँगों के सम्मुख नतमस्तक होती दिखाई दे रही है। मैं यह जानना चाहता हूँ कि औरंगाबाद की दुर्घटना पर सरकार ने कौन सी कार्रवाई की है। शांति और क़ानून को चुनौती देनेवाली शक्तियों के विरुद्ध हम कठोर कार्रवाई चाहते हैं, केवल लंबे-चौड़े भाषण नहीं।''

उदारता या धोखा?

हमारे वित्त मंत्री महोदय ने प्रस्तावित करों में साढ़े चार करोड़ रुपए के टैक्स कम करने की उदारता दिखाई है। यह तो जनता को धोखे में डालने का एक तरीक़ा मात्र है। इससे जनता को कौन सी राहत मिल सकेगी, जबकि 60 करोड़ के अतिरिक्त प्रस्तावित कर अपने स्थान पर बने हुए हैं। यदि राज्य सरकारों के प्रस्तावित करों को उसमें सम्मिलित कर लिया जाए तो यह राशि 80 करोड़ से भी ऊपर चली जाती है। वित्त मंत्री कारण चाहे जो भी दें, पर जनता की वर्तमान आर्थिक दुरावस्था को देखते हुए ये कर उचित नहीं माने जा सकते। इनका दुष्परिणाम अभी भी वस्तुओं का मूल्य-वृद्धि के रूप में दिखाई दे रहा है। जब सरकार ने वस्तुओं पर टैक्स बढ़ाया है तो क़ीमतों का बढ़ना भी अवश्यंभावी है। उसकी ज़िम्मेदारी व्यापारियों पर नहीं डाली जा सकती। मैं समझता हूँ कि सरकार को अपनी आर्थिक एवं औद्योगिक नीति का पुनर्निर्धारण करना चाहिए।

1. यशवंतराव बलवंतराव चव्हाण (1913-1984) बंबई महाप्रांत के विभाजन के बाद बने महाराष्ट्र के पहले मुख्यमंत्री (01 मई, 1960 से 19 नवंबर, 1962 तक) थे।

यदि इस नीति निर्धारण का आधार तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं के लिए अपने नए स्रोत उत्पन्न करना हो तो मैं आग्रह करूँगा कि अपने कंबल के अनुसार ही हम पैर फैलाने का प्रयत्न करें। अपनी सीमाओं एवं जनता की करभार वहन करने की शक्तियों को ध्यान में रखकर ही हमें अपनी योजनाएँ निर्धारित करनी चाहिए।

तृतीय योजना में द्वितीय योजना की सभी कमियाँ उसी रूप में परिलक्षित होती हैं। अभी तक पूर्णरूप से उनका स्वरूप और आकार भी निश्चित नहीं हो पाया है। 9,900 करोड़ से बढ़कर 12,000 करोड़ तक पहुँच चुका है। रेलवे विकास के नाम पर उसमें 100 करोड़ की और वृद्धि होने की संभावना है। यदि इसी प्रकार इसका आकार बढ़ता गया तो जनता इस बोझ को कदापि सहन न कर सकेगी।

क्रांतिकारी परिवर्तन चाहिए

जनता के सहयोग का आह्वान करते हुए आपने कहा कि आज इन ग़लत नीतियों में क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। आपस की गुटबंदी से जर्जर एवं सत्ता के मोह से चिपकी हुई बूढ़ी कांग्रेस इस प्रकार का कोई भी साहसपूर्ण क़दम उठाने में असमर्थ है। यह उत्तरदायित्व निभाने के लिए अब उन लोगों को आगे आना पड़ेगा, जिनके अंदर साहस हो, विश्वास हो, अनुशासन हो और हो जनता की सुख-सुविधा के लिए समर्पण का भाव। ऐसे लोग आगे बढ़ें और अपनी संगठित शक्ति से परिस्थितियों की चुनौती का समुचित उत्तर दें।

सहयोग का आह्वान

भारतीय जनसंघ इसी चुनौती का उत्तर देने के लिए आगे बढ़ा है और इस पवित्र राष्ट्रीय कार्य में मैं आप सबके हार्दिक समर्थन और सहयोग का आह्वान करता हूँ।

—पाञ्चजन्य, अप्रैल 3, 1961

□

23

विदेशी पूँजी, विदेशी प्रौद्योगिकी और भारतीय जीवन पद्धति

देश में विदेशी पूँजी की माँग बढ़ती जा रही है। दूसरी योजना में 982 करोड़ रुपए के अनुमानित विदेशी निवेश के मुक़ाबले, तीसरी योजना के मसौदे में इन स्रोतों से आनेवाले संसाधनों का 2,200 करोड़ रुपए होने की अपेक्षा की गई है। दूसरी योजना में कुल निवेश में विदेशी पूँजी का प्रतिशत 21 बैठता है। लेकिन तीसरी योजना में यह 30 प्रतिशत तक हो जाएगा। योजना की आवश्यकताओं के अतिरिक्त सरकार को तीसरी योजना की अवधि के दौरान मूल और देय ब्याज की अदायगी के लिए 500 करोड़ रुपए की आवश्यकता होगी। फिर इसमें वे 600 करोड़ रुपए जोड़ने होंगे, जो पी.एल. 480 सहायता के माध्यम से उपलब्ध होंगे। अगली योजना के दौरान विदेशी निवेश का यह कुल योग 3,200 करोड़ रुपए बैठेगा। भारतीय रिज़र्व बैंक के अनुमान के अनुसार 1958 के अंत में देश पर कुल विदेशी ऋण 1,300 करोड़ होगा। विदेशी पूँजी के आयात के प्रति हमारे दृष्टिकोण पर पुनर्विचार की आवश्यकता है।

पिछले 6 वर्ष में कुल निवेश आय अनिवासियों को देय इस प्रकार रही है—

रुपए (करोड़ों में)

	1953	1954	1955	1956	1957	1958
आधिकारिक	5.6	5.5	5.2	5.4	8.0	13.3
ग़ैर-सरकारी	36.5	48.2	41.1	51.8	41.2	42.0
कुल	42.1	53.7	46.3	57.2	49.2	55.3

इस प्रकार हम औसतन प्रति वर्ष 50 करोड़ रुपए की देनदारी अपने ऊपर लेते जा रहे हैं।

ग़ैर-सरकारी क्षेत्र में विदेशी पूँजी मुख्य रूप से इक्विटी पूँजी है। यह परियोजनाओं में पुनर्निवेश के कारण बढ़ रही है। कई विदेशी संस्थाओं के नियंत्रण वाली कंपनियाँ और शाखाएँ बढ़ रही हैं। पेट्रोलियम और चाय उनके एकाधिकार वाले उद्योग हो गए हैं।

बुनियादी उद्योगों के लिए कुछ हद तक विदेशी पूँजी आवश्यक हो सकती है। लेकिन वे उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों में भी प्रवेश कर रहे हैं।

विदेशी पूँजी विदेशी प्रौद्योगिकी के साथ नज़दीकी ढंग से जुड़ी हुई है। यह हमारे लिए उपयुक्त नहीं है। राजकोषीय आयोग (1949-50) ने लिखा था—"हमने जिस औद्योगिक पैटर्न की परिकल्पना की है, वह पश्चिम के अत्यधिक पूँजी केंद्रित उत्पादन और भारतीय गाँवों में अपनाए जा रहे कुटीर उद्योगों के बीच में कहीं होगा। यहाँ तक कि ऋण में मिली पूँजी भी प्रौद्योगिकी की हमारी ज़रूरतों को पूरा नहीं कर सकती।"

टॉयनबी की चेतावनी

हम आंशिक प्रौद्योगिकी आयात नहीं कर सकते। यह एक एकीकृत पूर्ण प्रौद्योगिकी होती है, जिसका एक देश की संस्कृति पर भी असर पड़ता है। इस संबंध में टॉयनबी लिखते हैं—"प्रौद्योगिकी जीवन की सतह पर काम करती है और इसलिए यह व्यावहारिक लगता है कि किसी विदेशी प्रौद्योगिकी को अपना लिया जाए और यह जोखिम भी न हो कि आप अपनी ही आत्मा को अपनी आत्मा कहने में सक्षम न रह जाएँ। यह धारणा कि एक विदेशी तकनीक अपनाने में आप मात्र एक सीमित देनदारी अपने सिर पर लेते हैं, हो सकता है एक मिथ्या आकलन हो। सच यह प्रतीत होता है कि एक संस्कृति पैटर्न में सभी विभिन्न तत्त्वों का एक-दूसरे के साथ एक आंतरिक संबंध होता है, और इसके कारण जब कोई अपनी ही पारंपरिक प्रौद्योगिकी को छोड़ देता है और किसी विदेशी प्रौद्योगिकी को अपना लेता है, तो जीवन की तकनीकी सतह पर आए इस परिवर्तन का प्रभाव सतह तक ही सीमित नहीं रहेगा, बल्कि धीरे-धीरे गहराई में नीचे तक अपना रास्ता तब तक बनाता जाएगा, जब तक आपके सांस्कृतिक गढ़ के बाहरी कवच में विदेशी प्रौद्योगिकी के प्रवेशकारी छिद्र से, धीरे-धीरे करके, आपकी पारंपरिक संस्कृति पूरी तरह बाहर न हो जाए।

"सत्य यह है कि प्रत्येक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पैटर्न एक जीवंत संपूर्ण होता है, जिसमें सभी भाग पारस्परिक निर्भर होते हैं, जिस कारण, अगर किसी भी हिस्से को उसकी स्थापना से बाहर धकेल दिया जाता है, तो अलग हुआ हिस्सा और क्षत-विक्षत हो चुका पूर्ण दोनों उस व्यवहार से अलग ढंग से व्यवहार करने लगते हैं, जो व्यवहार वे पैटर्न के बरक़रार रहने पर करते हैं। यही कारण है कि 'एक व्यक्ति का खाद्य' 'दूसरे व्यक्ति का विष' हो सकता है; और एक अन्य परिणाम यह है कि 'एक बात दूसरी बात

की ओर ले जाती है'। यदि एक संस्कृति से एक तिनके को खरोंच कर निकाल दिया जाता है, और एक विदेशी सामाजिक काया में शामिल करा दिया जाता है, तो इस अलग-थलग तिनके की प्रवृत्ति यह होगी कि वह अपने बाद, उसी विदेशी सामाजिक काया में, जिसमें उसे जोड़ा गया है, उसी सामाजिक प्रणाली के अन्य घटक तत्त्वों को खींच लाए, जिस सामाजिक प्रणाली में वह तिनका सहज महसूस करता है, और जिसमें से उसे जबरन और अस्वाभाविक ढंग से अलग कर दिया गया है। टूटे हुए पैटर्न की प्रवृत्ति स्वयं को उस विदेशी परिवेश में पुनर्गठित करने की होती है, जिसमें उसका एक घटक कभी प्रवेश करने में सफल रहा हो।''

योजनाकारों ने जब उनकी तकनीक की नक़ल करने का विकल्प चुना, तब या तो उन्होंने इस बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर कोई विचार नहीं किया है अथवा उन्होंने संस्कृति के विदेशी पैटर्न के पक्ष में निर्णय किया है। लेकिन अब तक, आम लोगों ने इसे स्वीकार नहीं किया है। यहाँ तक कि ब्रिटिश राज के दिनों में भी, जो भी उद्योग विदेशी मॉडल के आधार पर आगे बढ़ा, वह देश की सामान्य अर्थव्यवस्था के साथ पूरी तरह असंबद्ध बना रहा। लेकिन अब जब एक व्यापक चरित्र के परिवर्तन को गाँवों में भी लाए जाने की कोशिश की जा रही है, तब हम प्रौद्योगिकी के इस प्रश्न पर उदासीन नहीं रह सकते हैं। हमारी अपनी प्रौद्योगिकी होनी ही चाहिए।

मैं आपका ध्यान निम्न की ओर भी आकर्षित करना चाहूँगा :

'भारतीय आर्थिक योजना, जैसी कि दूसरी योजना में और तीसरी योजना की रूपरेखा में सन्निहित है, उसकी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक आधार पर बहुत गंभीर आलोचना की जा सकती है; वर्तमान आर्थिक नीति निश्चित रूप से सामान्य जीवन स्तर में सुधार को बाधित करती है और अर्थव्यवस्था को महँगे और अनावश्यक ख़तरों के समक्ष प्रस्तुत कर देती है; यह एक ऐसी राजनीतिक प्रणाली को भी बढ़ावा देती है, जो भारतीय समाज के पारंपरिक मूल्यों के प्रतिकूल है। इसके बावजूद विशिष्ट योजनाओं और नीतियों की यह आलोचनाएँ सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में सरकारी निष्क्रियता का तर्क नहीं हैं, बल्कि आर्थिक अपव्यय और तमाशेबाज़ी और आर्थिक जीवन पर प्रतिबंधात्मक नियंत्रण के कृत्यों से परे, सरकारी प्रयास के एक ऐसे पुनरभिविन्यास का तर्क हैं, जो आम तौर पर और व्यापक रूप से उत्पादकता, शक्ति और अर्थव्यवस्था के लचीलेपन और लोगों की अव्यक्त ऊर्जा के प्रस्फुटन में वृद्धि करने के नपे-तुले उपायों की दिशा में हों।''

—ऑर्गनाइज़र, अप्रैल 3, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

24

सांप्रदायिकता के विरुद्ध उपाय है वयस्क मताधिकार

जबलपुर दंगों को थमे हुए लंबा समय हो गया है। वास्तव में ये दंगे कुछ घंटे से अधिक नहीं चले थे। अधिकारियों ने स्थिति को सफलतापूर्वक नियंत्रण में ले लिया था और उपद्रवी तत्त्वों का दमन कर दिया था। यदि प्रेस और राजनीतिक दल इसके बारे में बात करना बंद कर दें, तो लोग इसे कुछ ही समय में भूल जाएँगे और स्थिति वापस सामान्य हो जाएगी। लेकिन लगता है कि कांग्रेस और कम्युनिस्ट इन दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं से राजनीतिक पूँजी खड़ी करने के लिए दृढप्रतिज्ञ हैं। सांप्रदायिकता का अस्तित्व और उसके बढ़ते ख़तरे के बारे में जागरूकता उन पर हावी हो गई है, और स्पेनिश कहानी में योद्धा की तरह, वे अपनी तलवारें हवाई चक्की पर लहरा रहे हैं।

उन्होंने निराधार झूठ और खुले प्रवाद के निंदनीय प्रचार की उछल-कूद शुरू कर दी है। प्रधानमंत्री अपना समाजवाद भूल गए हैं और सांप्रदायिकता को कुचलने के अपने पुराने विषय पर वापस लौट आए हैं। स्वतंत्र (पार्टी) अब कांग्रेस आदर्शों के लिए एक चुनौती नहीं रह गई है और प्रतीत होता है कि इसलिए वह कांग्रेस प्रवक्ताओं की निंदा योजनाओं में दूसरे स्थान पर चली गई है। जबलपुर ने प्रधानमंत्री की खोई हुई स्मृति को पुनर्जीवित कर दिया है। उन्होंने अपना पुराना राग फिर शुरू कर दिया है। एक दुःस्वप्न की तरह, वे जहाँ भी जाते हैं, वहाँ सांप्रदायिकता उन्हें बार-बार याद आती है। अवसर जो भी हो, प्रधानमंत्री जबलपुर का उल्लेख करना नहीं भूलते हैं और कांग्रेस अध्यक्ष[1]

---

1. नीलम संजीव रेड्डी (1913–1996) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 1960 से 1962 तक अध्यक्ष रहे।

तथा अन्य नेता उनके शब्दों को दुगुने उत्साह से और आमतौर पर ऊटपटाँग अशुद्धता से दोहराकर अपना काम ईमानदारी से कर देते हैं। बेसुरा कोलाहल शुरू हो गया है।

कांग्रेस के ज़खीरे के सारे हथियारों को सांप्रदायिकता के इस दैत्य से लड़ने के लिए निकाला जा रहा है। केंद्रीय गृह मंत्री[2] ने सांप्रदायिक तत्त्वों के ख़िलाफ़ निवारक नज़रबंदी अधिनियम के इस्तेमाल का सुझाव दिया है।

कांग्रेस संसदीय दल सांप्रदायिक दलों पर चुनाव लड़ने से प्रतिबंध लगाने पर विचार कर रहा है और विधि मंत्रालय की राय प्राप्त की जा रही है। कांग्रेस अध्यक्ष ने घोषणा की है कि कांग्रेस भविष्य में सांप्रदायिक दलों के साथ तालमेल नहीं करेगी। इससे मुझे एक उर्दू कवि की कविता की याद आती है :

शाम को मय पी ली सुबह को तौबा कर ली।
रिन्द के रिन्द रहे, हाथ से जन्नत न गई।

पी.एस.पी. (प्रजा सोशलिस्ट पार्टी) भी पीछे नहीं है। बताया जाता है कि श्री अशोक मेहता ने बंगलौर में संवाददाताओं से कहा है कि उनकी पार्टी सांप्रदायिक दलों पर प्रतिबंध लगाने की माँग बहुत पहले खुले आम कर चुकी है और यह कि आचार्य कृपलानी के साथ वह इस संबंध में प्रधानमंत्री से मिलते रहे हैं। कम्युनिस्टों को उनकी नापाक गतिविधियों और हमारे क्षेत्र में और आगे चीनी आक्रमण के ख़तरे से देश का ध्यान हटाने के लिए एक उपयुक्त नारा अवश्य मिल गया है।

वर्तमान भारतीय राजनीतिक चिंतन की विपत्ति यह है कि यह नारों और पूर्वग्रहों से इतना घिरा हुआ है कि यहाँ तक कि उच्चतम स्तर पर भी ज़रा भी चिंतन नहीं है। यह कि सांप्रदायिक दलों पर प्रतिबंध लगाने संबंधी हल्के-फुल्के सुझाव पर इतनी गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए, केवल यह जताता है कि हम गंभीर चिंतन के योग्य ही नहीं हैं। यहाँ तक कि अगर एक क्षण के लिए हम लोगों को उनके संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों से वंचित करने के मुद्दे की अवहेलना कर दें, तो भी प्रश्न यह है कि क्या हम सांप्रदायिक दलों के चुनाव लड़ने पर प्रतिबंध लगाकर सांप्रदायिकता से लड़ सकते हैं? आप लोगों को विधायी कार्रवाई के बूते ग़ैर-सांप्रदायिक नहीं बना सकते।

अगर इसका क़ानून बनाया जा सकता होता, तो राष्ट्रवाद एक बहुत ही सरल मामला होता। जो उपाय सुझाया ज़ा रहा है, वह रोग के लिए अनुपयुक्त है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि जो लोग ऐसा प्रस्ताव रख रहे हैं, वे किसी अन्य रोग से पीड़ित हैं, जिसका वे ही शमन करना चाहते हैं। वास्तव में वे सांप्रदायिकता ख़त्म करना नहीं

---

2. लाल बहादुर शास्त्री (1904-1966) 4 अप्रैल, 1961 से 29 अगस्त, 1963 तक गृह मंत्री थे।

चाहते। वे जो चाहते हैं, वह मात्र कुछ दलों को चुनाव लड़ने के अधिकार से वंचित करना है।

जबलपुर में कुछ अवांछनीय हुआ था। प्रधानमंत्री उस पर लज्जित हैं। वास्तव में पूरा देश लज्जित है। यह कि एक युवा महिला को इस कारण आत्महत्या कर लेनी चाहिए, क्योंकि उसके सम्मान की रक्षा नहीं की जा सकती है, एक ऐसी बात है, जिस पर हर किसी का सिर झुका हुआ होना चाहिए। लेकिन क्या सांप्रदायिक दलों द्वारा चलाई जाने वाली राजनीतिक गतिविधियों पर प्रतिबंध नृशंस लोगों द्वारा आपराधिक हमलों की पुनरावृत्ति को रोक सकता है? यहाँ तक कि भारतीय दंड संहिता में संशोधन भी प्रभावी नहीं रहेगा, यद्यपि जो भी जबलपुर त्रासदी से व्यथित है, उसकी पहली प्रतिक्रिया यही है। इन परिस्थितियों में महिला की आत्महत्या का परिणाम विरोध प्रदर्शनों में निकला और पूरी बात किसी प्रकार के सांप्रदायिक दंगे के रूप में परिवर्तित हो गई। विभिन्न समुदायों द्वारा निभाई गई भूमिका जाँच का विषय है। पुलिस विवरण निश्चित रूप से मुसलमानों द्वारा एक आक्रामक भूमिका निभाए जाने की बात कहता है। लेकिन हिंदू और मुसलमान दोनों बुरी तरह प्रभावित हुए हैं। कितने भी प्रतिबंध ऐसी स्थितियों में विरोध प्रदर्शनों को रोकने में सक्षम नहीं होंगे।

यह सही है कि इस तरह की कुछ छिटपुट घटनाएँ सांप्रदायिक रंग ले लेती हैं और इस प्रकार अन्य क्षेत्रों में भी फैल जाती हैं। लेकिन ऐसा तब तक जारी रहेगा, जब तक समुदायों का अस्तित्व रहेगा या मानव स्वभाव जैसा है, वैसा रहेगा। लोग केवल धार्मिक आधार पर समुदायों में विभाजित नहीं हैं, बल्कि जाति, भाषा और व्यावसायिक आधारों पर भी विभाजित हैं। आसाम में क्या हुआ था? वहाँ भाषा ने अपनी भूमिका अदा की थी और पुलिस के हाथों एक असमिया छात्र की मौत का प्रयोग बदला लेने के लिए भीड़ को हिंदू बंगालियों के ख़िलाफ़ भड़काने के लिए किया गया था। आसाम में कोई भी राजनीतिक दल ऐसा नहीं है, जो केवल बंगालियों या केवल असमियों तक ही सीमित हो। लेकिन सभी राजनीतिक दलों में अत्याचारियों का पक्ष लेने के लिए एक-दूसरे से होड़ मच गई थी!

संयुक्त महाराष्ट्र आंदोलन के समय बंबई में क्या मामला था? नागपुर में क्या हो रहा है? क्या केरल में और कई अन्य स्थानों पर हुई ये झड़पें श्रमिकों और प्रबंधन के बीच नहीं हुई थीं? क्या इसलिए हमें सभी ऐसे दलों पर प्रतिबंध लगा देना चाहिए, जिनकी नीतियों और कार्यक्रमों के प्रमुख बिंदु से किसी ऐसी बात की गंध आती है जिसका परिणाम गड़बड़ियों और दंगों में निकला था? प्रतिबंध कोई समाधान नहीं है।

यदि हम अपने लोकतांत्रिक चरित्र पर एकाग्र रहते हैं तो भारत में सांप्रदायिकता सफल नहीं हो सकती। वयस्क मताधिकार सांप्रदायिकता के विरुद्ध सबसे बड़ा उपाय

है। जो दल बहुमत हासिल करके सत्ता में आना चाहता है, वह संकीर्ण, सांप्रदायिक या संकुचित रहना बर्दाश्त नहीं कर सकता। अपने सीमित आकर्षण से (ऐसा दल) कुछ सीटें यहाँ-वहाँ सुरक्षित कर सकता है। वह कुछ सुदृढ गढ़ बनाने में सक्षम हो सकता है। लेकिन बड़ी पार्टियों को उनसे ईर्ष्या रखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इससे देश की नीतियाँ प्रभावित नहीं हो सकेंगी। समय के साथ वे भी अपने दृष्टिकोण को बदलने के लिए बाध्य होंगी, बशर्ते वे मात्र अपनी आवाज सुनाने भर से संतुष्ट हों और इससे अधिक की अपेक्षा न करें। लेकिन जब आप चुनाव से इन दलों को प्रतिबंधित करते हैं, तो रोग और गहरा हो जाता है। वे अलग-थलग बने रह सकते हैं और अपनी ठोस गुटीय शक्ति के आधार पर अन्य दलों के साथ सौदा करना जारी रख सकते हैं।

मुसलमान आज़ादी के बाद से ही ऐसा करते आ रहे हैं। अकालियों ने इसी आधार पर कांग्रेस के साथ सौदेबाज़ी की। वास्तव में कांग्रेस आज परेशान है, क्योंकि मुसलमानों ने पिछले चुनाव में झुंड बनाकर कांग्रेस का समर्थन करने से इनकार कर दिया था। उनमें से कुछ ने अपनी निष्ठा प्रजा सोशलिस्ट पार्टी और अन्य दलों की ओर स्थानांतरित कर दी थी और इस तरह उनका पलड़ा भारी हो गया था। इस कारण से कांग्रेस को सिर्फ़ कुछ सीटों का नुक़सान नहीं हुआ था। कांग्रेस को परेशानी महसूस हुई और मुसलिम मतदाताओं को वापस लुभाने के लिए एक नियमित प्रयास शुरू किया गया। इसने मुसलमानों को उनकी ताक़त और सौदेबाज़ी की उनकी शक्ति के प्रति जागरूक बना दिया। इस मुसलिम (वोटों की) नीलामी मंडी में पी.एस.पी. और कांग्रेस, कम्युनिस्ट और स्वतंत्र (पार्टी) सब एक-दूसरे से ऊँची बोली लगाने की कोशिश कर रहे हैं। इन दलों की यह नीति ही मुसलिम सांप्रदायिकता को पुनर्जीवित करने की इकलौती ज़िम्मेदार है। क्या बड़े राजनीतिक दल यह समझौता कर सकते हैं कि वे इस अनुचित और राष्ट्र विरोधी प्रतियोगिता की हद से नहीं गिरेंगे? (इससे) मुसलमान ख़ुद को अलग-अलग राजनीतिक दलों के साथ उनके कार्यक्रमों के आधार पर जोड़ सकेंगे और देश की नीतियाँ सांप्रदायिक विष से मुक्त हो जाएँगी।

सांप्रदायिकता और राज्य विरोधी तथा राजद्रोह की गतिविधियों के बीच भेद करने की भी ज़रूरत है। सांप्रदायिकता संकीर्ण और संप्रदाय उन्मुख है। लेकिन राजद्रोह एक विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा पर आधारित है। अगर मुसलमान उनकी अलग टोलियों में रहते हैं, तो यह संभव है, लेकिन आप उन तत्त्वों द्वारा पाकिस्तान समर्थक गतिविधियों को बर्दाश्त नहीं कर सकते, जिन्होंने पाकिस्तान के निर्माण के लिए कार्य किया था और जो आज भी उसके सिद्धांत के अनुपालन की भावना बनाए हुए हैं। यह भारत के मुसलमानों के बीच के प्रगतिशील तत्त्वों का कर्तव्य है कि वे अपने सहधर्मियों को इन विदेशी एजेंटों के चंगुल से मुक्त कराएँ। सरकार को भी इन मामलों में सावधान और

सख़्त रहने की ज़रूरत है।

जहाँ एक ओर हर किसी को यह सुनिश्चित करना है कि मुसलमान भारत में पाकिस्तानी गद्दारों के गिरोहों के लिए भर्तियों का आधार न बन जाएँ, वहीं दूसरी ओर पिछली आधी सदी के इतिहास पर विचार करने के बाद आपको मुसलमानों के ख़ास अलगाववादी व्यवहार पर अशांत होने की ज़रूरत नहीं है। फिर भी, उनका राष्ट्रीयकरण करने और उनके अलगाववाद को दूर करने के लिए सभी संभव प्रयास किए जाने होंगे। ऐसा यांत्रिक साधनों के माध्यम से या उनके द्वारा संभव नहीं है, जिनके पास राष्ट्र की कोई स्पष्ट अवधारणा नहीं है।

कांग्रेस विफल हो चुकी है। आज राजनीतिक कारणों से या किसी अन्य कारण से, वह अपना संतुलन खो चुकी है और मूर्च्छा की शिकार होती जा रही है। यह या तो उत्तेजना में आकर कार्य करती है या ग़लत कार्यों के लिए लोगों को भड़काने की योजना बनाती है। इसने जनसंघ की चुनौती का सामना करने का फ़ैसला कर लिया है। यह सांप्रदायिकता से वहाँ लड़ने की कोशिश कर रही है, जहाँ यह मौजूद नहीं है। यह वही नीतियाँ अपना रही है, जो ब्रिटिश वायसरायों ने राष्ट्रवादी शक्तियों से लड़ने के लिए मुसलिम लीग को पुनर्जीवित करने में अपनाई थीं। कांग्रेस ब्रिटिश पैंतरेबाज़ी की शिकार हो गई है और अपना राष्ट्रीय चरित्र खो चुकी है। जनसंघ के पास राष्ट्रवाद की एक स्पष्ट अवधारणा है। यह मुसलमानों के ख़िलाफ़ नहीं है, लेकिन उन लोगों द्वारा मुसलमानों का प्रतिनिधित्व किए जाने की अनुमति नहीं दे सकती है, जिन्हें राष्ट्रवाद में ज़रा भी विश्वास नहीं है। उनका बहिष्कार नहीं किया जाना है, बल्कि उनको शिक्षित, सुधरा हुआ और राष्ट्रीयकृत किया जाना है। उन्हें सच्चे मुसलमान के तौर पर रहने दिया जाए, जो अपने विश्वास के प्रति सच्चे हों, जो अपने रसूल के प्रति सच्चे हों, लेकिन अपनी मातृभूमि के प्रति भी सच्चे हों, अपने साथी नागरिकों के प्रति, अपनी राष्ट्रीय विरासत और संस्कृति प्रति सच्चे हों। उसके बिना मुसलमान का ईमान मुसल्लम नहीं होगा। जो लोग उन्हें इसके विपरीत बताते हैं, वे केवल अपने राजनीतिक हितों के लिए इसलाम का शोषण करते हैं—जैसा कि पाकिस्तान के शासकों ने किया है।

—ऑर्गनाइज़र, अप्रैल 17, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

25

कांग्रेस पार्टी सांप्रदायिक तत्त्वों से निपटने में असहाय है

सांप्रदायिकता के मुद्दे पर अपने विचार-विमर्श के कारण कांग्रेस संसदीय दल समाचारों में काफ़ी रहा है। जो पार्टी एक समय सांप्रदायिक संगठनों के चुनाव लड़ने पर एक सिरे से प्रतिबंध लगाने की माँग कर रही थी, ऐसा प्रतीत होता है कि उस पार्टी ने सांप्रदायिकता के वायरस से देश को मुक्त कराने की वांछनीयता पर एक थोथा प्रस्ताव पारित करके स्वयं को संतुष्ट कर लिया है। जो लोग इस प्रश्न के घटनाक्रमों पर बारीक़ी से नज़र रखे हुए हैं, वे निःस्संदेह इस खेदजनक निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि पार्टी के अधिकतर सदस्य भावनात्मक ढंग से सोचते हैं, और अपने दिमाग पर ज़ोर डालने के बजाय अपने नेता या किसी अन्य शक्तिशाली वक्ता की भावनाओं को दोहराना पसंद करते हैं। अन्यथा उन्होंने कैसे अपना पूरा समय और अपनी पूरी वाग्मिता एक ऐसे प्रश्न पर बरबाद की हो सकती है, जो इतने स्पष्ट रूप से उनके दायरे से परे था और यदि उसे उसकी तार्किक परिणति तक पहुँचाया जाए तो जिसका अर्थ भारत में लोकतंत्र की समाप्ति होगा?

पहली बैठक में व्यक्त विचारों में मतैक्यता का स्थान अब भारतीय राजनीति में बढ़ती सांप्रदायिकता को रोकने के उपाय को लेकर मतभिन्नता ने ले लिया है। या तो कुछ लोगों ने पहले जो महसूस किया था, अब उस पर पुनर्विचार किया है, या जो लोग शुरू में अपना मुँह खोलने की हिम्मत नहीं जुटा सके थे, उन्होंने यह आभास देने के लिए कुछ हिम्मत जुटाई है कि उनके मस्तिष्क का सटीक सोच पर आधारित हिस्सा कैसे काम करता है। हो सकता है कि वे प्रेस में कई नेताओं को पढ़ने के बाद बुद्धिमान बन गए हों,

जिनमें सभी ने बिना किसी अपवाद के, प्रस्तावित क़दम की संवैधानिक वैधता और व्यावहारिक प्रभाव्यता के बारे में गंभीर संदेह व्यक्त किया है। केंद्रीय क़ानून मंत्री की टिप्पणी—वैसे कांग्रेस संसदीय दल के लिए क़ानून मंत्रालय से एक टिप्पणी माँगना किस प्रकार उचित था और कैसे विधि मंत्रालय के लिए टिप्पणी उपलब्ध कराने की कृपा करना उचित था?—ने भी, प्रतीत होता है कि उन्हें उनके प्रस्ताव के पूरी तरह हास्यास्पद पहलू का अहसास करा दिया है। लेकिन श्री अजित प्रसाद जैन[1] को अभी भी उस तरफ भागने की इच्छा हो रही है, जिस तरफ जाने से क़ानून मंत्री श्री ए.के. सेन सकुचाते हैं। एक राजनीतिज्ञ और एक क़ानूनविद के बीच अंतर होना स्वाभाविक है, इसी प्रकार उस व्यक्ति में, जिसे एक मुख्य रूप से मुसलिम बहुल निर्वाचन क्षेत्र से एक सीट के लिए चुनाव लड़ना है और दूसरे उस व्यक्ति में, जिसके साथ इस तरह का कोई बेजान बोझ ढोने की कोई बाध्यता नहीं है, अंतर होना स्वाभाविक है। प्रधानमंत्री ने अपनी प्रकृति और प्रतिष्ठा या ज़्यादा उचित शब्दों में अपनी बदनामी के विपरीत, एक रहस्यमय व्यक्ति की तरह चुप्पी साध रखी है। क्या उन्हें अपनी पिछली ग़लती का अहसास हो गया है या वे क़ानून मंत्री द्वारा अपमानित किया गया महसूस कर रहे हैं? हालाँकि अब वहाँ 'सांप्रदायिक' अधिकारों को सीमित करने के बजाय दंड क़ानूनों का उपयोग करने और उनमें संशोधन करने की बात की जा रही है।

अपने पक्षपातपूर्ण रवैए के साथ सरकार चाहे जो कुछ भी करे, यह साफ़ तौर पर स्पष्ट हो गया है कि कांग्रेस लोगों में राष्ट्रवाद की भावना पैदा करने में विफल रही है, जो कि उसकी वैचारिक और राजनीतिक आवश्यकताओं का उत्तर हो सकता है। यह कि कांग्रेस संसदीय दल ने अपने प्रस्ताव में अपने पदाधिकारियों में से सांप्रदायिक तत्त्वों को पार्टी छोड़ने की सलाह दी है, न केवल उनके अस्तित्व के तथ्य की एक स्वीकारोक्ति है, बल्कि इस बात की भी स्वीकारोक्ति है कि पार्टी उनके विरुद्ध कार्रवाई करने में पूरी तरह लाचार है। यह कैसे संभव है कि एक पार्टी, जो अपने पदाधिकारियों में से ऐसे तत्त्वों को साधारण अनुशासनात्मक कार्रवाई करके बाहर नहीं निकाल सकती है, जिन्हें वह अवांछनीय मानती है, वह पार्टी क़ानून का निर्माण करके 'सांप्रदायिकता' पर प्रतिबंध लगाने की बात करने की हिम्मत करती है? जो पार्टी अपने ही घर में व्यवस्था लागू नहीं कर सकती है, उसके द्वारा देश के मामलों में व्यवस्था बहाल करने का दावा करने का कोई औचित्य नहीं हो सकता है। 'चिकित्सक पहले अपना इलाज कर लो'—यह एक पुरानी सलाह है, जो एक बार फिर सांप्रदायिक कांग्रेसियों के लिए प्रस्तुत की जा सकती है; हालाँकि इसकी कोई संभावना नहीं है कि वे इस पर ध्यान देंगे।

---

1. अजित प्रसाद जैन (1902–1977) सहारनपुर लोकसभा निर्वाचन क्षेत्र से 1952 से 1957 तक सांसद रहे। वे मई 1961 में यू.पी. कांग्रेस समिति के अध्यक्ष बने।

जिस नीति पर पहले अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी और कांग्रेस कार्य समिति को विचार करना चाहिए था, उस पर कांग्रेस संसदीय दल द्वारा चर्चा करने के अधिकार पर प्रश्न करना हमारा कार्य नहीं है। किसी पार्टी के संसदीय दल द्वारा एक प्रस्ताव पारित करके संगठनात्मक पक्ष को एक विशेष कार्यक्रम अपनाने का निर्देश देना असामान्य बात है। इस तथ्य के बावजूद कि प्रधानमंत्री के हावी व्यक्तित्व ने कांग्रेस अध्यक्ष को महज़ एक दोयम और गौणकर्मी की स्थिति में ला दिया है, अभी तक दिखावे को जारी रखा गया है और वृंदगान के लिए संगठनात्मक वर्ग को वरीयता दी गई थी। अब इस क्रम को क्यों उलटा गया है? क्या यह महज़ संयोग है, जिसे कंधे उचकाकर ख़ारिज किया जाना चाहिए या सत्ता बल्कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के विशेषाधिकारों को हड़पने की इस पागलपन भरी कोशिश में कोई चाल निहित है? ऐसा हो सकता है कि संसदीय दल की कार्रवाई प्रेस के लिए खुली नहीं है और इसलिए सदस्यों को घरेलू झगड़ा सार्वजनिक रूप से करने से रोका जा सकता है, जैसा कि वे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में करते हैं।

पार्टी में सांप्रदायिक तत्त्वों के बयान पार्टी को पूरी तरह बेनक़ाब कर सकते हैं और इस प्रकार इसे उन लोगों के हमलों के समक्ष और अधिक कमज़ोर कर सकते हैं, जो कांग्रेस पर सांप्रदायिक नीतियों का अनुसरण करने का आरोप लगाते हैं। बाँटे गए प्रेस नोट वक्ताओं के सच्चे मन प्रकट करने में विफल रहे हैं। लेकिन इसमें नेतृत्व को अच्छी-ख़ासी शर्मिंदगी से बख़्श दिया गया है। इससे प्रचार के उद्देश्य की भी पूर्ति की गई हो सकती है, क्योंकि कांग्रेस संसदीय दल की बैठकें अब अधिक बार आयोजित की जा सकती हैं, और इस प्रकार इसमें हुआ विचार-विमर्श प्रेस को दैनिक प्रचार सामग्री उपलब्ध करा सकता है, ताकि आर्थिक और अंतरराष्ट्रीय मोर्चों पर सरकार की विफलता से लोगों का ध्यान बँटाया जा सके। इससे रहस्य भी बनाए रखा जा सकता है और डरपोक तथा राजनीतिक रूप से पिछड़े लोगों के सिर पर ख़तरे की तलवार लटकी रह सकती है, जिनकी इस देश में एक विशाल संख्या है। यदि इन संभावनाओं से परे यह क़दम सत्तारूढ़ गुट में बढ़ती तानाशाही प्रवृत्ति की एक अभिव्यक्ति है, जो अपने साथ पूरे कांग्रेस संगठन को, कम-से-कम शीर्ष पर कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण लोगों को नहीं जोड़ता तो ऐसे में आशंकित महसूस करने के कारण हैं। हम उम्मीद करते हैं कि प्रक्रिया संबंधी यह चूक अनिष्टसूचक साबित नहीं होगी।

—ऑर्गनाइज़र, अप्रैल 24, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

26

जनसंघ लोकसभा की 275 और विधानसभा की 1200 सीटों पर चुनाव लड़ेगा

14 अप्रैल, 1961 को नागपुर में जनसंघ कार्यालय में एक संवाददाता सम्मेलन में दीनदयालजी का बयान।

आनेवाले आम चुनाव में हमारी पार्टी पूरे भारत में लगभग 1200 विधानसभा सीटों और 275 लोकसभा सीटों पर चुनाव लड़ेगी।

कांग्रेस, कम्युनिस्टों, अकाली दल और मुसलिम लीग के साथ किसी भी चुनावी गठबंधन की ज़रा भी संभावना नहीं हो सकती है। हालाँकि, हम पी.एस.पी. और समान विचारधारा वाली पार्टियों के साथ इस तरह के गठबंधन के बारे में सोच सकते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि पार्टी इस बार और अधिक शक्तिशाली होकर उभरेगी।

मैंने महाराष्ट्र का बीस दिन का प्रवास अभी पूरा ही किया है। यह मुख्यत: आम चुनाव के मद्देनज़र संगठनात्मक काम से संबंधित था। हर स्थान पर लोकसभा निर्वाचन क्षेत्र सम्मेलन आयोजित किया गया था। 91 विधानसभा सीटों और पंद्रह लोकसभा सीटों के संबंध में अंतरिम निर्णय लिया गया है। यह संख्या विधानसभा के लिए 150 और लोकसभा के लिए 25 तक जाने की संभावना है।

द्विसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों का विभाजन करने में देरी के कारण अनेक निर्वाचन क्षेत्रों में निर्णय लेने में कठिनाई हो रही है, क्योंकि किसी निर्वाचन क्षेत्र को 'सुरक्षित' घोषित करने के लिए कोई उद्देश्यपरक मानदंड निर्धारित नहीं किया गया है। सीमांकन के मामले में विभिन्न राजनीतिक दलों के साथ परामर्श नहीं किया जा रहा था। (चुनाव) आयोग के प्रस्तावों को प्रकाशित किया जाना चाहिए और अंतिम निर्णय लेने से पहले सभी दलों के विचार लिये जाने चाहिए थे, और पूरे काम में तेज़ी लाई जानी चाहिए।

—ऑर्गनाइज़र, अप्रैल 24, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

27

सांप्रदायिकता के नाम पर कांग्रेसी अपनी कमज़ोरी न छिपाएँ

दीनदयालजी का नागपुर की सार्वजनिक सभा में भाषण।

विदेशी आक्रमण, देश में पाकिस्तान और कम्युनिस्टों की कार्रवाई बढ़ने पर भी कांग्रेसी नेता चुप्पी साधे हैं, इससे देश की जनता में भय का निर्माण हुआ है और उसके द्वारा इन सारे प्रश्नों को दूर करने की अपनी इच्छा प्रकट करने के बावजूद नेहरू जैसे प्रधानमंत्री सांप्रदायिकता को अधिक महत्त्व देकर देशद्रोही कार्रवाई को उत्तेजन दे रहे हैं और इन सारे प्रश्नों को हल करने तथा राष्ट्रीयता की भावना लेकर खड़े हुए जनसंघ के विकास पर जलने लगे हैं। फिर भी जनसंघ की नीति सभी ने एकमुख से मान्य की है और वह इन प्रश्नों का हल किए बिना चैन नहीं लेगा और न राज्यकर्ताओं को लेने देगा।

त्याग, तपस्या और प्रेम, भारतभूमि के प्रति अटल निष्ठा आदि गुणों को मानकर जनसंघ का जन्म हुआ है और इन गुणों को साकार करना है तो हर व्यक्ति को जनसंघ में आना आवश्यक है। केवल इच्छा और सहानुभूति से अब काम नहीं चलेगा। अब इन गुणों का विकास करने के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता है। भारतीय जनसंघ आज देश की चारों ओर से हुई संकटापन्न अवस्था को बदलना चाहता है। आज हमारे सामने घर के पानी से लेकर पाकिस्तान को दिए गए पानी तक की समस्याएँ खड़ी हुई हैं। देश की जनता महँगाई, बेकारी, भ्रष्टाचार, किसानों की असुविधाएँ आदि प्रश्नों से परेशान है। आज इन प्रश्नों से केवल जनता ही नहीं, बल्कि कांग्रेस और पं. नेहरू भी चिंतित हैं। परंतु वे खुलेआम इन प्रश्नों की वाच्यता नहीं करते, चुपके से कहते हैं कि अब जनता में

20 वर्ष पहले की लगन, जोश और उत्साह नहीं रहा है। किंतु अब यह कहने का समय नहीं रहा। इस पर सोचना आवश्यक हो गया है और इन प्रश्नों पर सोचने के लिए नेहरूजी तैयार नहीं। जहाँ आत्मा नहीं, वहाँ पुरुषार्थ कैसे आएगा? आज हमें अपनी भाषा समझनी चाहिए और उससे रस लेना चाहिए। उसके स्वर का आनंद लूटना चाहिए। परंतु इस राज्य में हम अपनी भाषा ही भूल गए हैं।

देशवासियों के साथ खिलवाड़

पं. नेहरू इस बात से चिंतित हैं कि भारत में सांप्रदायिकता बढ़ती जा रही है, परंतु उनकी चिंता देशद्रोहपूर्ण करतूतों या महिलाओं की इज़्ज़त लूटने वाली घटनाओं से नहीं है।

आज देशवासी समझने लगे हैं कि चीन का भारत पर आक्रमण हुआ है। परंतु नेहरूजी को नहीं लगता और न उन्होंने आक्रमण होने की आवाज़ उठाई। इससे स्पष्ट होता है कि भारत की स्वतंत्रता की अवहेलना की जा रही है तथा देशवासियों के साथ खिलवाड़ चल रहा है। आज भारत में द्रविड़ कझगम उत्तर का सार्वभामत्व मानने के इच्छुक नहीं हैं, उधर सिख अकाली भी झगड़ा खड़ा कर रहे हैं। परंतु चीन द्वारा आक्रमण हुआ तो सभी ने एक साथ आवाज़ लगाई कि चीन के आक्रमण का सेना भेजकर निषेध किया जाए तथा अपनी भूमि वापस ली जाए। इससे स्पष्ट है कि भारत की जनता में भारतभूमि के प्रति श्रद्धा है, परंतु नेताओं में विवाद है। गोवा के लिए सभी दौड़कर आए, उन्होंने वहाँ पर भाषा, प्रांत आदि विवाद खड़े नहीं किए। फिर भी नेहरू ने इस सवाल को मामूली समझा। पं. नेहरू की दृष्टि अल्जीरिया, लाओस, कांगो आदि पर है। वहाँ सेना भेजी जा सकती है, परंतु गोवा, कश्मीर, चीन आदि के लिए सेना नहीं भेजी जाती। आख़िर इसका मतलब क्या होता है? केवल विदेश में झूठी प्रतिष्ठा कि भारत शांति का दूत है।

नेहरू ने आसाम की घटनाओं से भी अधिक गंभीर प्रश्न जबलपुर का समझा। जबलपुर की घटना से पं. नेहरूजी की गरदन शर्म से झुक गई और वह भी केवल संप्रदाय के कारण, न कि बलात्कार या हिंदू जाति का संरक्षण करने में असफल होने पर। डॉ. काटजू[1] को अपने राष्ट्र में महिलाओं को संरक्षण न दे सकने के कारण त्याग-पत्र देना चाहिए। परंतु वे ऐसा कभी नहीं करेंगे। सतीत्व की परंपरा से आत्मबलिदान किए जाने के बाद लोगों ने अपना विरोध प्रकट किया, जो उपद्रवों का रूप धारण कर गया। उसकी जाँच हो रही है और जाँच की रिपोर्ट सामने आएगी, परंतु हमारे नेताओं ने उस पर अपना निर्णय पहले ही दे दिया और संप्रदायवाद बढ़ाने वालों पर प्रतिबंध डालने का नारा लगाया। यही घटना गांधी हत्या के समय हुई। नेताओं ने जाँच के पूर्व ही

1. डॉ. कैलाश नाथ काटजू (1887-1968) मध्य प्रदेश के 1957 से 62 तक मुख्यमंत्री रहे ।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को बदनाम किया। जबलपुर की घटनाओं से ज़्यादा उन्हें चुनाव की चिंता है और है मुसलमानों के वोटों की।

देशद्रोहियों को कड़ी सज़ा दी जाए

आज देश में रचनात्मक कार्यक्रम की आवश्यकता है। भारत में सबको रहने का अधिकार है, परंतु प्रत्येक भारतवासी वह चाहे मुसलमान क्यों न हो, उसे भारतभूमि को अपनी राष्ट्रीयता और भारतीय नेताओं का आदेश मानकर चलना होगा। भारत में रहकर पाकिस्तानी विचार या मॉस्को के विचार लाने वालों को कतई स्थान नहीं दिया जा सकता। जो ऐसी बातें करते हैं, उन्हें देशद्रोही कहकर कड़ी सज़ा दिलवानी चाहिए।

—*पाञ्चजन्य, अप्रैल 24, 1961*

□

28

मूल्य स्थिरीकरण के लिए आंदोलन होगा*

पिछली दो पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत 10,000 करोड़ रुपए से अधिक व्यय करने के उपरांत भी न तो जन-सामान्य की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही सुलभ हो पाई है और न विकासमान अर्थव्यवस्था की दिशा में कोई ठोस पग उठाया गया है। विभिन्न आर्थिक मोरचों पर समय-समय पर उत्पन्न होने वाले गंभीर संकटों के अतिरिक्त निरंतर वृद्धिंगत बेरोज़गारी और मूल्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शासन की आर्थिक नीतियाँ देश की परिस्थिति का सम्यक् आकलन कर के नहीं बनाई गई हैं, फलतः वे समस्याओं के समाधान में समर्थ नहीं हो पाईं।

भारतीय जनसंघ का मत है कि लोगों के आधिकारिक रोज़गार की व्यवस्था करने एवं मूल्यों के स्थिरीकरण के लिए अविलंब पग उठाने चाहिए। निश्चित है कि इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए देश में उपभोक्ता वस्तुओं का श्रम-प्रधान पद्धति से तेज़ी के साथ उत्पादन बढ़ाया जाए। इसके लिए योजना की वरीयता में परिवर्तन करना पड़ेगा।

उत्पादन की कमी, बढ़ती हुई जनसंख्या, बदलती हुई उपभोग-पद्धति के कारण माँग में वृद्धि, वितरण की अव्यवस्था, रुपए के मूल्य में गिरावट, स्थिर आय वाले व्यक्तियों की उजरत में आनुपातिक वृद्धि का जमाव, शासन की वित्तीय एवं मौद्रिक नीतियाँ, नियमन और नियंत्रण की नीतियों की अशुद्धता तथा कार्यान्वयन अकुशलता, आयात-निर्यात नीति, इन सबके कारण वस्तुओं के मूल्यों में निरंतर वृद्धि होती जा रही है। इनका संबंध पंचवर्षीय योजनाओं के निर्धारण एवं कार्यान्वयन दोनों के साथ है। यदि मूल्यों की वृद्धि को रोकना है तो इनमें क्रांतिकारी परिवर्तन करने होंगे।

देश की बढ़ती हुई जनसंख्या एवं उसकी आवश्यकताओं को देखते हुए बहुत बड़े

---

* देखें परिशिष्ट II, पृष्ठ संख्या 238

पैमाने पर प्रयत्नों तथा बड़ी योजनाओं की आवश्यकता है। किंतु प्रथम दो योजनाओं की भाँति तीसरी योजना को बड़ी योजना ही समझा गया है। पूँजी प्रधान खर्चीली तथा उत्पादन एवं आधारभूत उद्योगों पर बल देनेवाली सार्वजनिक योजनाओं के परिणामस्वरूप राष्ट्र के कुल उत्पादक प्रयत्नों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपलब्ध साधनों में कमी आ जाती हैं, अत: सार्वजनिक क्षेत्र को सीमित करने की आवश्यकता है।

कराधान, ऋण, अल्प बचत तथा घाटे की अर्थव्यवस्था के द्वारा शासन के अधिकाधिक साधन एकत्र करने के प्रयत्नों का परिणाम अब मूल्यों की वृद्धि तथा सामान्य जनों पर भार के रूप में होता जा रहा है। उत्पादन-शुल्क, बिक्रीकर, चुंगी आदि अप्रत्यक्ष करों का भार उपभोक्ता पर ही पड़ता है। अल्प बचत के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए शासनाधिकारियों द्वारा की गई ज़ोर-ज़बरदस्ती ने उसे भी एक कर का ही रूप प्रदान कर दिया है। घाटे की अर्थव्यवस्था से रुपए का मूल्य बराबर गिरता जा रहा है। वर्तमान स्थिति को अधिक दिनों तक नहीं चलने दिया जा सकता। उसका परिणाम देश के लिए भयावह हो सकता है। अत: आवश्यकता है कि शासन को अपनी अशुद्ध नीतियों का परित्याग कर योजनाओं को सही आधार पर ढालने के लिए उस पर जनमत का प्रबल दबाव लाया जाए। अतएव कार्य-समिति ने जनसंघ की सभी शाखाओं को आदेश दिया है कि वे मूल्य-स्थिरीकरण आंदोलन हाथ में लें। इसके अंतर्गत लोक शिक्षण के साथ-साथ लोकमत प्रश्नों के द्वारा अपनी माँगें शासन के सम्मुख रखी जाएँ।

—पाञ्चजन्य, मई 1, 1961

□

29

अर्थव्यवस्था का यह विदेशी पैटर्न क्यों?

इस तथ्य के बावजूद कि मूल्य स्थिरीकरण की वांछनीयता और आवश्यकता सभी के द्वारा स्वीकार की जाती है, सरकार ने इस मामले में कोई क़दम नहीं उठाया है। दूसरी योजना की प्रगति की समीक्षा करते हुए योजना आयोग ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि इस अवधि के दौरान सरकार की नीति का सबसे कमज़ोर पक्ष क़ीमतों को नियंत्रित करने में उसकी विफलता थी। इससे पहले श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता वाली खाद्यान्न जाँच समिति ने क़ीमतों में भारी उतार-चढ़ाव पर चिंता व्यक्त की थी और एक मूल्य स्थिरीकरण बोर्ड का सुझाव दिया था, जिसके पास सांविधिक शक्तियाँ हों। राष्ट्रीय विकास परिषद् ने भी क़ीमतों के प्रश्न पर विचार किया था, लेकिन वह कोई भी निश्चित निर्णय नहीं ले सका और इस कारण इस मुद्दे को स्थगित कर दिया गया। लेकिन क़ीमतें अनेक आर्थिक कारकों के द्वारा निर्धारित की जा रही हैं, उन्हें सिर्फ़ इसलिए अनिर्णीत नहीं छोड़ा जा सकता है कि हमारे शासक ढुलमुल हैं। क़ीमतों का ऊपर-नीचे होना जारी है—ज़्यादातर ऊपर ही हो रही हैं, जिससे उपभोक्ता और निर्माता दोनों को हानि हो रही है। अगर प्रभावी और तत्काल क़दम नहीं उठाए जाते हैं, तो स्थिति नियंत्रण से बाहर जा सकती है।

इस मामले में सरकार के अनिर्णय और अनिश्चय का प्राथमिक कारण भारत में योजना की प्रकृति और उसके दायरे के संबंध में व्याप्त भ्रम की स्थिति है। योजना आयोग ने सोवियत मॉडल के आधार पर एक योजना का प्रस्ताव किया है और इस कारण उसने उसी तरह की रणनीति और तकनीक का सुझाव दिया है। आयोग जब भौतिक नियंत्रण लागू करने की सलाह देता है, तब उसे कोई झिझक नहीं होती है। लेकिन लोग, राज्य और केंद्र की सरकारें भी नियंत्रणों की अनिच्छुक हैं। उन्हें पता है कि

मूल्य नियंत्रण की कोशिश की गई थी और वे विफल रहे थे। लोगों द्वारा उन्हें बरदाश्त करने की संभावना नहीं है और अगर उन्हें जबरन शुरू किया जाता है, तो आनेवाले आम चुनावों में वे अवांछनीय परिणाम दे सकते हैं। इसके अलावा, नियंत्रण (कंट्रोल) बढ़ती क़ीमतों की प्रवृत्ति पर अंकुश नहीं लगाते। वे सिर्फ़ एक काला बाज़ार उत्पन्न करते हैं और इस प्रकार दो क़ीमतें बाज़ार पर राज करती हैं, एक नाममात्र की और दूसरी वास्तविक। कंट्रोल द्वारा आप लोगों के एक वर्ग को, आम उपभोक्ता की क़ीमत पर, कम क़ीमतों पर कुछ वस्तुएँ दे सकते हैं। जैसे ही आप कंट्रोल लागू करते हैं, भंडार बाज़ार से समाप्त हो जाते हैं, और हर किसी में जमाखोरी करने की इच्छा पैदा हो जाती है। वितरण की प्रणाली लंबी हो जाती है और यह घुमावदार तथा जटिल हो जाती है। माँग बढ़ जाती है और आपूर्ति विफल हो जाती है। ज़रूरी वस्तुओं की उपलब्धता होते हुए भी ज़रूरतमंद इससे वंचित रह जाते हैं। कंट्रोल भ्रष्टाचार को जन्म देता है, जो बदले में बिचौलियों के शुल्कों में वृद्धि करता है, और इस प्रकार इसका परिणाम मूल्य-स्तर में वृद्धि में निकलता है।

इसके अलावा कंट्रोल अकेले नहीं आता है। आप कुछ वस्तुओं को नियंत्रित करने पर या उन्हें कुछ बिंदुओं पर नियंत्रित करने पर रुक नहीं सकते हैं। संक्रमण फैलता जाता है। कंट्रोल को प्रभावी बनाने के लिए कार्यपालिका तब तक पेंच कसती जाती है, जब तक पूरी अर्थव्यवस्था उनके कठोर नियंत्रण में न चली जाए। अपने ख़ुद के क़दमों की विफलता के लिए दूसरों पर आरोप लगाने की आदत नए सिरे से नियंत्रण लगाने के लिए ज़ोर डालती है, इस उम्मीद में कि इससे मौजूदा नियंत्रण सफल हो सकेंगे। यदि आप मूल्य नियंत्रण शुरू करते हैं, तो उन्हें प्रभावी बनाने के लिए आपको राशनिंग और (सरकारी) ख़रीद लागू करना ही होगा। वितरण और परिवहन, निर्यात और आयात, सभी को सख़्ती से नियंत्रित करना हो सकता है। (सरकारी) ख़रीद के लिए उत्पादन को नियंत्रित करने की ज़रूरत हो सकती है। इस प्रकार अगर आप एक बार नियंत्रणों की राह पर चल पड़ते हैं, तो आप पूरी तरह अधिनायकवादी अर्थव्यवस्था बनने से नहीं बच सकते हैं। आर्थिक नियंत्रणों को राजनीतिक नियंत्रणों की भी आवश्यकता हो सकती है। एक नियंत्रण दूसरे नियंत्रण की ओर ले जाता है।

तो इसलिए, यदि हम नियंत्रण स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं, तो हमें योजना के प्रति अपने दृष्टिकोण पर पुनर्विचार करना चाहिए। यदि हम मुक्त अर्थव्यवस्था की अनुमति देते हैं, तो हम आर्थिक कारकों को क्रिया और प्रतिक्रिया करने से और एक-दूसरे पर उनके अच्छे या बुरे प्रभाव उत्पन्न करने से नहीं रोक सकते। एक मुक्त अर्थव्यवस्था में क़ीमतें इतने सारे कारकों का परिणाम होती हैं कि उन्हें सिर्फ़ समयोचित और बेतरतीब उपाय अपनाकर नियंत्रित करना संभव नहीं है। यदि योजना का आकार

और उसका आबंटन, उसकी प्राथमिकताएँ और सार्वजनिक क्षेत्र की प्रधानता, संसाधन जुटाने के उसके तरीक़े आदि सभी चीजें बरक़रार रखते हैं, तो आप क़ीमतों को स्थिर नहीं कर सकते। एक महत्त्वाकांक्षी योजना इस दलील के साथ प्रस्तुत की गई है कि देश की ज़रूरतें विशाल हैं। लेकिन सरकार भूल जाती है कि इस योजना को लागू करने की प्रक्रिया में देश अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के साधनों से वंचित हो जाता है। एक विषैला दुष्चक्र शुरू हो गया है। इसे तोड़ा जाना होगा। यह तब किया जा सकता है, जब हम अपने आर्थिक जीवन की मूलभूत परिकल्पना पर विचार करें। हम आयात किए बिना और अर्थव्यवस्था के एक विदेशी पैटर्न को लागू किए बिना अपनी आवश्यकताओं को कैसे पूरा कर सकते हैं? यदि हम इस प्रश्न का उत्तर सफलतापूर्वक दे सके, तो हम न केवल मूल्यों को नियंत्रण में रख सकेंगे, बल्कि देश की अनेक अन्य आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का हल प्रदान कर सकेंगे।

—ऑर्गनाइज़र, मई 8, 1961

□

30

केवल नियंत्रण नहीं, योजनाओं में मूलभूत परिवर्तन चाहिए

दीनदयालजी द्वारा जयपुर में दिया गया वक्तव्य।

मूल्यों की अस्थिरता, बढ़ते हुए अप्रत्यक्ष कर एवं बेकारी के प्रश्नों पर भारतीय जनसंघ ने देशव्यापी आंदोलन करने का निश्चय किया है। जनसंघ का मत है कि यदि इन समस्याओं के संतोषजनक समाधान की शीघ्र ही व्यवस्था नहीं की गई तो देश की अर्थव्यवस्था पर उसके गंभीर परिणाम हो सकते हैं। खेद का विषय है कि शासन द्वारा मूल्यों के स्थिरीकरण की आवश्यकता का अनुभव होते हुए भी उसने इस दिशा में कोई प्रभावी पग नहीं उठाए हैं, प्रत्युत उसके द्वारा अपनाई गई नीतियाँ मूल्यों की बढ़ोतरी के लिए ही कारणीभूत हुई हैं।

भारतीय जनसंघ का मत है कि वर्तमान महँगाई, बेकारी तथा कर-भार पंचवर्षीय योजनाओं के प्रत्यक्ष एवं अनिवार्य परिणाम हैं। जब तक योजनाओं की प्राथमिकताओं तथा औद्योगीकरण की पद्धति में मौलिक रूप से क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं किए जाएँगे, उपयुक्त प्रश्नों का हल नहीं मिल सकेगा। आवश्यकता है कि हमारी योजनाओं में कृषि एवं लघु यंत्रीकृत उद्योगों को प्राथमिकता दी जाए। सार्वजनिक क्षेत्र को मर्यादित किया जाए तथा विदेशी प्रौद्योगिकी को भारत की बढ़ी हुई जनसंख्या के लिए रोज़गार की व्यवस्था की पृष्ठभूमि में, कुछ सोच-समझकर स्वीकार किया जाए। अधिकाधिक विदेशी पूँजी का आयात देश की अर्थव्यवस्था को एक ऐसे साँचे में ढाल रहा है, जो हमारे जीवन के प्रतिकूल तथा हमारे उपलब्ध साधनों व आवश्यकताओं से बेमेल है। मूलतः एक ओर

विदेशी क़र्ज़ा बढ़ रहा है तथा दूसरी ओर अभाव और बेकारी। विदेशी मुद्रा की भूख के कारण आज निर्यात की वृद्धि की अनिवार्यता पर बल दिया जा रहा है। इसका स्वाभाविक परिणाम देश में मूल्यों की वृद्धि पर हो रहा है। उचित तो यह होगा कि हम बाहर के बाज़ारों का विकास करने के स्थान पर देश के बाज़ार का ही विकास करें।

उत्पादन शुल्क, बिक्रीकर, चुँगी आदि अप्रत्यक्ष करों का परिणाम अब मूल्य-वृद्धि पर होने लगा है। कृषि माल और औद्योगिक उत्पादन के बीच ताल-मेल नहीं है। अमरीका से उधार लिये अन्न से जहाँ गल्ले के दाम गिर गए हैं, वहाँ अन्य उपभोक्ता वस्तुओं के मूल्यों में कोई अंतर नहीं आया। परिणामत: आज किसान मंदी से प्रभावित है। कृषि और उद्योगों का मेल बिठाकर ही इस समस्या का निराकरण किया जा सकता है।

कुछ क्षेत्रों में मूल्य वृद्धि को रोकने के लिए भौतिक नियंत्रणों का सुझाव दिया जाता है। जनसंघ उससे सहमत नहीं है। नियंत्रणों से मूल्य रुकते नहीं अपितु चोर बाज़ार पैदा हो जाता है, जिसका लाभ उपभोक्ता एवं उत्पादक दोनों में से किसी को न मिलकर केवल बिचौलियों को जाता है। नियंत्रणों को कुशलता और प्रामाणिकता के साथ चलाने योग्य प्रशासन भी आज उपलब्ध नहीं है। अत: इस उपाय का अवलंबन न करके शासन को अपनी मौद्रिक एवं वित्तीय नीति में तथा पंचवर्षीय योजना के आकार, प्रकार तथा प्राथमिकताओं में परिवर्तन करना चाहिए।

—पाञ्चजन्य, मई 15, 1961

□

31

चीनी आक्रमण से ध्यान हटाने के लिए शुरू हुआ सांप्रदायिक सियार रोदन

यह खेद की बात है कि सरकार ने लोहांडिगुंडा[1] (ज़िला बस्तर, तत्कालीन मध्य प्रदेश) में पुलिस फायरिंग की घटना की न्यायिक जाँच करवाने की उचित और तर्कसंगत माँग स्वीकार नहीं की है।

मध्य प्रदेश सरकार और केंद्रीय गृह मंत्रालय ने जिस ढंग से बस्तर मामले को सँभाला है, उससे यह धारणा उत्पन्न हुई है कि सरकार की नीति मुख्य रूप से पक्षपातपूर्ण उद्देश्यों से निर्देशित है।

यह बात समझ से परे है कि जो सरकार देश के विरुद्ध विद्रोही युद्ध छेड़ते आ रहे नागाओं का लगातार तुष्टीकरण करती आ रही है, उसने बस्तर के लोगों को आतंकित करने के लिए अत्यधिक दमनकारी उपाय क्यों अपनाए। मैं सरकार से आग्रह करता हूँ कि वह अपने दृष्टिकोण में सुधार करे और पूरी स्थिति से एक मानवीय और दोस्ताना तरीक़े से निपटे।

केंद्रीय गृह मंत्री ने लोकसभा में एक बयान देकर सांप्रदायिक दलों पर प्रतिबंध लगाने के सरकार के फ़ैसले की घोषणा भी की थी। भारतीय जनसंघ जहाँ किसी भी रूप या तरीक़े से सांप्रदायिकता के विरुद्ध है, वहीं हमारा मानना है कि बुराई को क़ानून बनाकर नहीं उखाड़ा जा सकता। इसके लिए देश के प्रमुख राजनीतिक दलों द्वारा एक

---

1. 31 मार्च, 1961 को लोहांडिगुंडा, छत्तीसगढ़ के बस्तर क्षेत्र में तत्कालीन मध्य प्रदेश सरकार द्वारा बस्तर शाही महल के सामने किए गए विरोध प्रदर्शन में 12 आदिवासी मारे गए थे। यह प्रदर्शन पदासीन वंशज के साथ राजनीतिक मतभेदों के चलते उसे सिंहासन से हटाने के लिए था।

सकारात्मक दृष्टिकोण और दृढ संकल्प अपनाए जाने की ज़रूरत है कि (वे) सांप्रदायिक तत्त्वों के साथ समझौता नहीं करेंगे। यह भी प्रतीत होता है कि सरकार के इरादे बहुत शुद्ध नहीं हैं, और यह कि वह केवल अपने राजनीतिक विरोधियों को उनके लोकतांत्रिक अधिकारों से वंचित करना चाहती है। वास्तव में संकीर्ण, सांप्रदायिक विचारधाराओं के विरुद्ध वयस्क मताधिकार सबसे निश्चित उपाय है और सरकार को छिटपुट संगठनों से निपटने के लिए स्वयं को अधिनायकवादी शक्तियों से लैस करने की आवश्यकता नहीं है, न ही कम्युनिस्ट देशों की तरह एक व्यापक प्रतिबंध के लिए क़ानून बनाने की आवश्यकता है।

भारतीय जनसंघ ने अगले आम चुनाव में मध्य प्रदेश में विधानसभा की 150 और लोकसभा की 22 सीटों पर चुनाव लड़ने का फ़ैसला किया है। जनसंघ अपने स्वयं के कार्यक्रमों और सिद्धांतों पर लोगों से जनादेश की माँग करेगा और किसी भी पार्टी के साथ गठबंधन नहीं करेगा। हालाँकि कांग्रेस और कम्युनिस्टों को छोड़कर अन्य दलों और समूहों के साथ समायोजन और तालमेल पर विचार किया जा सकता है। इस संबंध में अब तक हमें कोई प्रस्ताव किसी भी ओर से प्राप्त नहीं हुआ है।

—ऑर्गनाइज़र, मई 22, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

32

संघ शिक्षा वर्ग, बौद्धिक वर्ग : लखनऊ

माननीय सर्वाधिकारीजी, अन्य अधिकारी वर्ग तथा स्वयंसेवक बंधुओ, हम लोगों ने अपने कार्य के विषय में कुछ बातों पर और कुछ पहलुओं पर अभी तक विचार किया है। परसों माननीय रज्जू भैया[1] ने हमें यह बताया था कि एक ऐसी परंपरा हम देश में निर्माण करना चाहते हैं कि जो सत्ता से अलिप्त रहते हुए उसके ऊपर अंकुश रखते हुए सतत चलती जाए और इस प्रकार सत्ता को सही मार्ग पर चला सके। हमें परंपरा के उस स्वरूप का विचार करना पड़ेगा। साथ ही हम जिनका नियंत्रण करना चाहते हैं, जिनका मार्गदर्शन करना चाहते हैं, उसका भी थोड़े-बहुत अंशों में विचार करना पड़ेगा, क्योंकि यदि हमें इसके स्वरूप का ठीक प्रकार से ज्ञान न रहा तो आख़िर हम नियंत्रण क्या करेंगे? सत्ता को किस दिशा में ले जाएँगे?

नहीं तो ऐसा भी हो सकता है, जैसा कि कहा है—'अन्धेनेव नीयमाना यथान्धाः' कि अगर अंधे को अंधा ही मार्ग दिखाए, तो वह उसे कहाँ ले जाएगा? संभवतया गड्ढे में पटक देगा। तो उस नाते से हमें इस बात का कुछ-न-कुछ विचार अवश्य ही करना पड़ेगा कि हम संपूर्ण समाज का मार्गदर्शन करना चाहते हैं, तो हम संपूर्ण समाज को किधर ले जाएँगे? समाज के भिन्न-भिन्न अंग हैं। समाज के कल्याण की दृष्टि से जो उसके भिन्न-भिन्न साधन हैं, वे साधन किस प्रकार से काम करेंगे, उनका ध्येय कौन सा होगा? इन सब बातों का हमें कम-से-कम स्वयं विचार करना चाहिए। इनका हमें स्वयं ज्ञान होना चाहिए, जिनसे कि हम अलिप्त रह सकते हैं। वैद्य तो स्वयं औषधि नहीं लेता

1. प्रो. राजेंद्र सिंह 'रज्जू भैया' (1922-2003)प्रयाग विश्वविद्यालय में व्याख्याता थे, 1952 में संघ के प्रांत कार्यवाह बने और 1954 में भाऊराव देवरस के प्रांत छोड़ने के बाद उनकी जगह पूरे प्रांत का दायित्व सँभालने लगे। 1962 से 1965 तक उत्तर प्रदेश के प्रांत प्रचारक रहे, अंततः 1994 से 2000 तक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के चौथे सरसंघचालक बने ।

किंतु रोगी के संबंध में वैद्य को पूरे तरीक़े से पता रहता है, साथ ही औषधि के गुण-दोषों का भी उसको ज्ञान रहता है। फिर उसको यह आवश्यक नहीं कि वह स्वयं औषधि ले। संभवत: उसे औषधि लेनी ही नहीं चाहिए, जो वैद्य स्वयं औषधि लेने लग जाएगा और सोचेगा कि यह औषधि तो बहुत मीठी है, बहुत अच्छी है, इसे रोगी को न देकर मैं स्वयं ही खा लूँ तो अच्छा रहेगा। अब जब वह वैद्य रोगी के बदले उस मीठी औषधि को स्वयं ही खाने लगेगा, सोचो कि उस वैद्य का क्या होगा? रोगी तो मरेगा ही, लेकिन शायद वह वैद्य भी नहीं बचेगा। तो इसलिए यह औषधि स्वयं लेने की आवश्यकता नहीं, किंतु उन औषधियों के गुण-दोष से परिचित होना आवश्यक है। रोगी के संबंध में भी थोड़ा सा ज्ञान होना आवश्यक है। तभी जाकर वह उस रोगी को ठीक कर सकेगा।

इसी प्रकार हमें समाज के सभी पहलुओं पर विचार करना आवश्यक है कि इस समाज को हम कहाँ ले जाना चाहते हैं, किस दिशा में बढ़ाना चाहते हैं? जब हम इस बात का विचार करते हैं तो हमें पहले यह सोचना पड़ेगा कि ऐसा कौन सा ध्येय होना चाहिए, जिस ध्येय की ओर हम स्वयं चलेंगे, जिस ध्येय की ओर हम दूसरों को चलाएँगे, उन्हें चलने की प्रेरणा देंगे। इस बात का विचार करें कि आख़िर हम चाहते क्या हैं? नहीं तो अनेक बार लोग कह सकते हैं कि भाई, संघ के लोग क्या काम करते हैं? यह संघ के लोग अपनी शाखाएँ लगा लेते हैं, प्रार्थना करते हैं, समता वग़ैरह का कार्यक्रम कर लेते हैं, राइट-लेफ्ट कर लेते हैं, बाक़ी और इसमें क्या है? हम लोग इस बात के संबंध में अधिक आग्रह भी करते हैं और लोगों से कहते हैं कि शाखा पर आओ और शाखा के हमारे जो कार्यक्रम हैं, उन कार्यक्रमों को करो। यह आग्रह हमारा सही है, आवश्यक है, क्योंकि उसके द्वारा ही हम जिस चीज़ को चाहते हैं, जिस अवस्था को चाहते हैं, उस अवस्था का निर्माण करना संभव होगा।

इस आग्रह के परिणामस्वरूप बहुत बार लोग ऐसा सोचते हैं कि इतना ही इनका काम है। अगर इतना ही हमारा काम है तो अंत में हम क्या इस समाज की ऐसी अवस्था की कल्पना करते हैं कि लोगों को केवल शाम-सुबह शाखा पर आकर खेल-कूद और थोड़े-बहुत कार्यक्रम करने के बाद आराम से सारा दिन घर पर बैठना चाहिए? क्या इस अवस्था को आदर्श अवस्था कह सकते हैं? ऐसी अवस्था के बाद बाक़ी का कुछ करने को नहीं रहेगा। इसलिए इन बातों पर हमें विचार करना ही पड़ेगा कि हमारा ध्येय क्या है? जब हम विचार करते हैं तो हमारा ध्येय निश्चित हो जाता है। संघ के हर स्वयंसेवक को पता है, जब हम प्रतिज्ञा लेते हैं, तब अपने इस ध्येय का उच्चारण करते हैं कि हम अपने समाज की सर्वांगीण उन्नति चाहते हैं। समाज की सर्वांगीण उन्नति के लिए ही हम राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के घटक बने हैं। हमने समाज का कोई भी क्षेत्र ख़ाली नहीं छोड़ा। कोई क्षेत्र अधूरा या हमसे अछूता नहीं है। समाज में जितनी भी चीज़ें हैं, उन सब

चीज़ों पर हम लोग विचार करके चलते हैं, क्योंकि हमें सब प्रकार की उन्नति करनी है।

इस उन्नति के साथ-साथ हमने थोड़ा सा उसका स्वरूप भी सोचा है। उन्नति शब्द कहना सरल है और ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं होगा कि जो यह कहेगा कि उसे यह उन्नति नहीं चाहिए। जो काम करने के लिए आगे बढ़ा है, वह तो यही कहेगा कि ठीक है, मैं सबकुछ चाहूँगा और सब प्रकार की उन्नति करूँगा, सब प्रकार से समाज को आगे ले जाऊँगा। आज भी देश में जो-जो लोग काम कर रहे हैं और वे किसी भी मार्ग से चल रहे हैं, उनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जो कहता हो कि हम समाज को अधूरा छोड़कर चलेंगे। वह तो समाज की सब प्रकार की उन्नति करने का दावा करते हैं। इसलिए हमने इस बात की थोड़ी सी व्याख्या की है।

व्याख्या करते समय हमने यह कहा है कि हमारी जो समाज की उन्नति होगी, उसमें यहाँ का समाज, यहाँ की संस्कृति, यहाँ का धर्म, उसका संरक्षण करके हम समाज की उन्नति करेंगे। हमने दोनों को एक-दूसरे के साथ जोड़ दिया है। अपने धर्म और संस्कृति को हटाकर समाज की उन्नति की कोई कल्पना हमारे सामने नहीं आती। हमारे सामने तो समाज की उन्नति की वह कल्पना आती है, जिसमें हमारे धर्म और संस्कृति का आधार रहेगा। धर्म और संस्कृति का संरक्षण होगा, वही हमारी उन्नति है। जिसमें धर्म और संस्कृति का संरक्षण नहीं होगा, उसको हम उन्नति मानकर ही नहीं चलें।

यही बात रोज़ अपनी प्रार्थना में भी कहते हैं, वहाँ भगवान् से जब माँगते हैं तो अपनी प्रार्थना के अंत में यह भाव हम व्यक्त करते हैं कि हमारी यह जो विजय-शालिनी संघ शक्ति है, वह इस राष्ट्र के धर्म का संरक्षण कर हमें परम वैभव के पद पर ले जाने में आपके आशीर्वाद से सफल हो। हम माँगते हैं कि परम वैभव और सर्वांगीण उन्नति में कोई अंतर नहीं, क्योंकि जब सर्वांगीण उन्नति होगी तो हमें परम वैभव प्राप्त हो जाएगा। हमें बाक़ी के वैभव नहीं चाहिए। राष्ट्र के धर्म का संरक्षण करके हमें यह वैभव मिलना चाहिए। राष्ट्र के धर्म को छोड़कर, उसका विनाश कर, उसे भुलाकर हमें परम वैभव मिले तो हम कहेंगे कि ऐसा परम वैभव ठीक नहीं है।

तो वास्तविकता यह है कि हमारा जो ध्येय रहता है, उसे लेकर ही हम बाक़ी की बातों पर विचार करें। बहुत से लोग सोचते हैं कि हमारी उन्नति हो जानी चाहिए। वे यह नहीं सोचते कि उन्नति के लिए कुछ-न-कुछ आधार चाहिए। यानी राष्ट्र का धर्म जो कि इस उन्नति का आधार है। इस बात का वे लोग विचार नहीं करते, केवल उन्नति ही चाहते हैं कि जैसे पेट भर जाए, परंतु भोजन न करना पड़े। अगर ऐसी कोई कल्पना हो कि पेट भर जाए और भोजन न करना पड़े या फिर शक्ति आ जाए और उसके लिए कोई व्यायाम न करना पड़े। बाक़ी हाथ-पैरों के अंदर जो कुछ थोड़ा-बहुत रक्त है, वह भी किसी प्रकार न प्रकट हो और बल आ जाए। यह संभव नहीं है। हालाँकि दोनों की

उन्नति का राष्ट्र के धर्म के साथ घनिष्ठता का संबंध है। इन दोनों को हटाकर विचार नहीं कर सकते। किंतु बाक़ी के लोग जो धर्म का विचार नहीं करते और विचार केवल इस बात का करते हैं कि हमारे राष्ट्र का वैभव हो जाए।

इस धर्म का विचार न करते हुए चलने वाले भी दो प्रकार के लोग हैं। कुछ तो ऐसे हैं जो कहते हैं कि यह ज़रूरी नहीं है। वे धर्म को वैभव के लिए आवश्यक नहीं समझते, अनावश्यक भी नहीं मानते और कहते हैं कि रहा तो ठीक, न रहा तो ठीक। इसका वैभव के साथ कोई संबंध नहीं। दूसरे प्रकार के लोग ऐसे हैं, जो राष्ट्र के वैभव के लिए धर्म को अनावश्यक ही नहीं, हानिकर मानते हैं और ऐसा समझकर चलते हैं कि राष्ट्र को यदि वैभव प्राप्त करना है तो इसका जो धर्म चला आ रहा है, इस धर्म को समाप्त करना पड़ेगा। इसे नष्ट करना पड़ेगा, इसे नष्ट करके ही राष्ट्र को वैभव प्राप्त होगा। जब तक राष्ट्र का यह धर्म चलता रहेगा, तब तक किसी भी प्रकार से वैभव प्राप्त नहीं होगा, ऐसा विचार करनेवाले लोग हैं।

ये जो दो प्रकार के विचार वाले लोग हैं, कहना पड़ेगा कि वास्तव में उन्होंने शायद धर्म के स्वरूप को भी नहीं समझा। उनके सामने वैभव की कल्पना भी किसी प्रकार से स्पष्ट नहीं है। इसलिए वे बेचारे अज्ञान के कारण ऐसा सोचकर चलते हैं कि यह धर्म जो है, हानिकारक है। धर्म को समाप्त कर देना चाहिए, इसे समाप्त कर देंगे तभी शायद इसका वैभव प्राप्त होगा। यह एक उलटा ही विचार करनेवाली चीज़ है। जैसे कि कोई अग्नि के बारे में विचार करे कि अग्नि बड़ी प्रज्वलित हो जाए, परंतु उसमें दाहकता न रहे। तो यह कैसे हो सकता है? बिना दाहकता के अग्नि कभी प्रज्वलित नहीं हो सकती। अग्नि यदि प्रज्वलित होगी तो उसके अंदर दाहकता रहेगी ही, क्योंकि दाहकता अग्नि का धर्म है। यदि दाहकता को निकाल दिया और दाहकता निकालने के बाद हमने यदि अग्नि का विचार किया तो फिर वह अग्नि अग्नि नहीं रहेगी।

उसी प्रकार से राष्ट्र को जो कुछ भी धर्म है, उस धर्म को निकालकर यदि हम सोचेंगे तो फिर हमारे सामने बड़ी समस्या हो जाएगी। यहाँ तक कि हमारा वैभव कहाँ है? वैभव क्या है? इसका भी हम ठीक प्रकार से निर्धारण नहीं कर सकेंगे, क्योंकि आख़िर को यह भी तो बड़ा महत्त्व का प्रश्न है कि वैभव क्या है, किसको हम वैभव कहेंगे? किस अवस्था को वैभव माना जाए। यह एक बड़ा गंभीर प्रश्न है। इसका उत्तर साधारणतया नहीं दिया जा सकता। इसका उत्तर देने के लिए वास्तव में जिसे धर्म की कल्पना है, जिसको राष्ट्र की प्रकृति की कल्पना है, जिसे राष्ट्र क्या है, इसका पता है, जो इस राष्ट्र को पहचानता है, जो इस राष्ट्र की आत्मा को पहचानता है, वास्तव में वही उसके वैभव का विचार कर सकेगा। जिसको राष्ट्र का पता नहीं है, वह उसके वैभव का विचार भी क्या कर सकेगा?

एक छोटा सा उदाहरण लें कि कोई बच्चा है। हम उसका शृंगार करना चाहते हैं, शृंगार भी हम उसके अनुरूप करेंगे कि वह स्त्री है या पुरुष। यदि वह लड़का है और हमने उसका लड़की जैसा शृंगार कर दिया तो गड़बड़ हो जाएगी। जिसको उसके स्वरूप का ज्ञान होगा, वही उसमें सौंदर्य को खोज सकता है और जिसको उसके स्वरूप का ही ज्ञान नहीं है, वह उसके सौंदर्य का विचार भी कैसे कर सकता है? इसलिए राष्ट्र के धर्म का विचार छोड़कर कोई विचार करने लगेगा तो भगवान् जाने उसकी क्या स्थिति होगी? ऐसा व्यक्ति जब चलता है, तो व्यक्ति जैसे दूसरों से उधार ले-लेकर ही काम चलाता है, उसके पास अपना कुछ नहीं होता, उसकी स्थिति ऐसी हो जाती है। उसको यह मालूम नहीं होता कि कहाँ चलना है, क्या बोलना है? बाज़ार में जाता है तो पैसे होने के बाद भी वह सोच नहीं पाता कि उसका क्या किया जाए? इसलिए वह कहीं भी जाएगा, अपने आप कुछ नहीं कर सकता। वह स्वयं अपना ध्येय निश्चित नहीं कर पाता। चाहता ज़रूर होगा कि मुझे ध्येय निश्चित करना है। परंतु वह जैसा अवसर मिलेगा, परिस्थितियाँ जैसी मिलेंगी, उन्हीं के अनुसार वह चलता चला जाता है।

जैसे मकानों के ऊपर एक वेदरकॉक लगा होता है। एक मुर्गा और उसके साथ चार कटोरे लगे रहते हैं। वे कटोरे हवा के साथ घूमते हैं। उनकी कोई निश्चित दिशा नहीं रहती। हवा जिधर से आती है, उधर ही घूम जाते हैं। वे ज़्यादा-से-ज़्यादा यही बता सकते हैं कि हवा किधर से चल रही है। पूरब से चल रही है या पश्चिम से चल रही है, उत्तर से चल रही है या दक्षिण से चल रही है। उनकी अपनी स्वतः कोई शक्ति नहीं होती। वे कुछ निर्माण करना भी चाहें तो कुछ नहीं कर पाते। वेदरकॉक के समान इधर-उधर के चक्कर लगाने वाले कुछ लोग भी हैं। वे दुनिया को बस यही बता सकते हैं कि अब कैसी हवा चल रही है। यानी वो स्वयं उस हवा में बहते चले जाते हैं। अपनी कोई दिशा निश्चित नहीं कर सकते।

इस प्रकार के लोग वैभव की बात करते हैं, परंतु उन्हें यह पता नहीं है कि वैभव है कहाँ? इसीलिए आज एक प्रकार का आदर्श सामने रखते हैं, कल दूसरे प्रकार का और परसों तीसरे प्रकार का। अपने राष्ट्र के संबंध में आपको मालूम होगा न कि कितने प्रकार के आदर्श रखे गए हैं। कोई कहता है कि हम तो बिल्कुल असांप्रदायिक राज्य बनाना चाहते हैं। कोई कहता है कि हम कल्याणकारी राज्य बनाना चाहते हैं, क्योंकि समाज व राज्य का वे अलग-अलग विचार नहीं कर सकते। इसलिए राज्य का ही विचार करते हैं। कोई कहता है कि हम यहाँ पर सब प्रकार से समाजवाद लाना चाहते हैं। इस प्रकार की जो चीज़ें हैं, उसमें से निश्चित विचार करके न चलकर एक के बाद एक चीज़ आती चली जाती हैं।

मुझे एक छोटी सी कहानी याद आती है कि एक शेखचिल्ली अपने घर से चला।

उसे ससुराल जाना था एक विवाह के न्योते पर। वह घर से चलकर ससुराल जाने के लिए निकला। उन दिनों गाड़ियाँ नहीं हुआ करती थीं और लोग पैदल ही जाया करते थे। उसे काफ़ी दूर पैदल जाना था। इसलिए उसकी माँ ने उसे खिचड़ी बनाकर खिलाई। वह खिचड़ी उसे बहुत अच्छी लगी। उसने माँ से पूछा कि यह क्या है। उसने बताया कि यह खिचड़ी है। शेखचिल्ली ने सोचा कि ससुराल जाकर वहाँ भी यही खिचड़ी बनवाकर खाऊँगा। वह रास्ते भर याद करता रहा खिचड़ी-खिचड़ी। रास्ते में आँधी आई। उसकी टोपी हवा में उड़ गई। उसके पीछे भागते-भागते थककर एक जगह बैठ गया। लेकिन इस बीच वह खिचड़ी शब्द ध्यान से निकल गया। वह खाचिड़ी-खाचिड़ी चिल्लाने लगा। थोड़ी दूर चला तो वहाँ एक किसान अपने खेत पर बैठा चिड़िया उड़ा रहा था। उसने खाचिड़ी-खाचिड़ी सुना तो उसे बहुत ग़ुस्सा आया। उसने कहा कि तू यह क्यों कह रहा है, तब उसने कहा कि मैं और क्या बोलूँ। किसान ने उसे बताया कि उड़ चिड़ि-उड़ चिड़ि कहना चाहिए। अब वह उड़ चिड़ि कहता चला जा रहा था कि एक बहेलिया चिड़िया पकड़ने के लिए जाल बिछाए बैठा था। उसकी बात सुनकर उसे ग़ुस्सा आया। बहेलिये ने उसे समझाया कि उसे कहना चाहिए 'आते जाओ-फँसते जाओ'। अब शेखचिल्ली कहने लगा, 'आते जाओ-फँसते जाओ।' लेकिन रास्ते में उसे कुछ चोर मिले। उन्होंने समझा कि वह उन्हें ही कह रहा है। उन्होंने गुस्से से उसे पीटा और कहा कि कहो, 'लाते जाओ, रखते जाओ'। वह आगे चलता जा रहा था और कहता जा रहा था कि लाते जाओ और रखते जाओ। कुछ लोग गाँव से एक मुरदा लेकर जा रहे थे। उन्होंने शेखचिल्ली की बात सुनी तो उन्हें बहुत बुरा लगा। वे सब उसे पीटने को तैयार हो गए। तब शेखचिल्ली ने कहा कि मैं ऐसा न कहूँ, तो क्या कहूँ। उन्होंनें उसे समझाया कि तुम्हें कहना चाहिए कि 'बहुत बुरा हुआ, ऐसा किसी के यहाँ न हो'। तब वह यही कहते-कहते ससुराल पहुँच गया। ससुराल में शादी थी साले की। वहाँ के लोगों ने उसकी बात सुनी तो उन्हें ग़ुस्सा आया कि यह क्या कह रहा है। उसकी पत्नी भी रोने लगी। जब वह अपनी पत्नी के पास गया तो उसने बताया कि उसे कहना चाहिए कि बहुत अच्छा हुआ, ऐसा सभी के यहाँ हो। तो कई बार ऐसा हो जाता है कि लोग अपना ध्येय भूल जाते हैं।

जिनको इस बात का पता नहीं कि हम कौन हैं, हमें किधर जाना है? आख़िर जब वैभव का पता ही नहीं होगा, तब हम उसे कैसे पा सकेंगे? गधे का वैभव घोड़े को देने और घोड़े का वैभव गधे को देने से गड़बड़ हो जाती है। घोड़े की जीन गधे पर कस कर और उसे युद्धभूमि में खड़ा कर दिया जाए तथा घोड़े के ऊपर बरतन लादकर उसे कुम्हार का काम दे दिया जाए तो क्या हाल होगा। दोनों का वैभव अलग-अलग है। दोनों की प्रकृति अलग-अलग है। इसलिए दोनों के गुण भी अलग-अलग हैं। आख़िर

करेला कड़वा ही होगा। यही उसकी विशेषता है और ईख मीठी ही होनी चाहिए। अब यदि ईख में कड़वापन आ जाए और करेले में मीठापन। कल्पना कीजिए, मीठी चीज़ अच्छी है, लेकिन नीम में मिठास आ जाए, ईख कड़वी हो जाए तो समस्या हो जाएगी। ईख का गुण इसी में है कि वह मीठी हो, नीम कड़वा ही होगा और नीबू खट्टा ही होगा। गरमी के दिनों में जाड़ा पड़ने लगे तो एकाएक बीमारियाँ फैल जाती हैं। कभी-कभी ऐसा हो जाता है। वर्षा में पानी न पड़े तो क्या हाल होगा? अनावृष्टि के कारण सब लोग चिल्लाएँगे कि पानी पड़ना चाहिए। लेकिन ज़्यादा वर्षा से भी तक़लीफ़ होती है। बाहर निकलना भी मुश्किल हो जाता है, छाता लगाकर निकलना पड़ता है। कितनी कठिनाइयाँ होती हैं। फिर भी यदि उन दिनों में बरसात न हो तो परेशानी हो जाएगी। शीतकाल आ जाए और फिर भी गरमी लगे, तो कल्पना कीजिए कि क्या हाल हो जाएँगे?

वास्तव में जैसे हर ऋतु है, उसका वैभव उसी ऋतु में प्रकट होगा। हर प्राणी का अपना वैभव है। उसी प्रकार हर राष्ट्र का अपना वैभव होता है और राष्ट्र का यह वैभव उसके धर्म के साथ अवस्थित है। इसलिए हमने कहा 'विधायास्य धर्मस्य संरक्षणम्'— इस धर्म का संरक्षण करके हमें वैभव प्राप्त कराओ। इन दोनों को अलग नहीं किया। हम ऐसा कभी न सोचें कि हमने यह एक एक्स्ट्रा चीज़ माँगी है। ऐसी बात भी नहीं कि भाई, चलो माँगने निकले ही हो तो एक चीज़ के साथ एक चीज़ और माँग लें। वैभव के साथ-साथ धर्म भी माँग लें तो अच्छा रहेगा। लेकिन धर्म के संरक्षण में ही हमारा वैभव है। यदि धर्म का संरक्षण नहीं, तो वास्तव में हमें किसी भी प्रकार का वैभव प्राप्त नहीं हो सकता। यही बात हम मानकर चले हैं। वास्तव में ये दोनों चीज़ें एक-दूसरे के साथ जुड़ी हुई हैं कि एक के बिना दूसरा चल नहीं सकता। धर्म का संरक्षण हुआ तो वैभव मिलेगा और वैभव प्राप्त होगा तो धर्म के संरक्षण से ही होगा।

एक प्रश्न इस बारे में प्रकट होता है कि आख़िर यह धर्म क्या है? यह एक बड़ी समस्या सामने आ जाती है कि धर्म क्या है? धर्म को लेकर कई बार झगड़े भी हो जाते हैं। धर्म को लेकर लोगों के मन में अनेक धारणाएँ हैं। कभी इसका अर्थ यह रखा जाता है कि यदि वेद का कोई मंत्र किसी हरिजन के कान में पड़ गया तो यह अधर्म हुआ। धर्म के लिए कितने ही भाव लगाए गए हैं, जिससे इसका भाव इतना विकृत हो गया है कि इसके कई अर्थ हो गए। कुछ लोग छुआछूत को ही धर्म मानने लगते हैं, जिसके कारण बहुत से लोग कहते हैं कि बाबा, हमें इस धर्म से बचाओ। इस बारे में एक बात है कि एक बार सूरदासजी से एक सज्जन ने पूछा कि सूरदासजी, खीर खाओगे। सूरदासजी ने कभी खीर नहीं खाई थी। उन्होंने पूछा कि भाई, खीर कैसी होती है? तो उन सज्जन ने बताया कि यह सफ़ेद होती है। अब सूरदासजी तो जन्म से ही अंधे थे। उन्होंने सफ़ेद भी

नहीं देखा था। उन्होंने पूछा कि सफ़ेद क्या होता है? तब उन्हें बताया कि बगुले जैसा होता है। सूरदासजी ने बगुला भी नहीं देखा था। बोले, बगुला कैसा होता है? तब उन्होंने अपना हाथ थोड़ा टेढ़ा करके बताया कि ऐसा होता है। सूरदासजी ने उनका हाथ टटोलकर देखा तो वह टेढ़ा लगा और सोचा कि बगुला ऐसा होता है। फिर उन्होंने कहा कि नहीं भाई, ऐसी टेढ़ी खीर मुझे नहीं खानी।

तो इसी तरह धर्म के भी लोगों ने कई अर्थ लगा लिये हैं। लोगों ने समझा कि यह धर्म भेदभाव करनेवाला है। यह धर्म कोई ऐसी चीज़ होगी, जो लोगों को आपस में अलग-अलग कर देती है। कई बार लोगों ने धर्म के नाम पर ग़लत काम किए, जैसे सही सिक्के के साथ खोटा सिक्का मिलाकर दे दिया। ऐसे स्वार्थी लोग तो दुनिया की हर अच्छी चीज़ का लाभ उठाते हैं। एक बार ऐसा हुआ कि कुछ दुअन्नियाँ ख़राब आ गईं। एक रिक्शे वाले को मैंने दुअन्नी दी। उसने देखा और कहा कि बाबूजी, यह नहीं चाहिए। मैंने कहा कि यह तो ठीक है। वह बोला कि मुझे नहीं मालूम, पर यह दुअन्नी चलती नहीं है। मैंने कहा कि यह तो सरकार की बनाई हुई है। मैंने इसे नहीं बनाया है, तुम इसे नहीं लोगे तो यह क़ानूनी जुर्म है। रिक्शेवाला हाथ जोड़कर बोला कि बाबूजी, क़ानून-वानून तो मैं नहीं जानता, पर यह बाज़ार में चलती ही नहीं। आप हमें चवन्नी दे दीजिए हम आपको कुछ और दे देंगे, आठ पैसे वापस कर देंगे। यानी यह जो चीज़ है तो अब इसके कारण वह जो अच्छी दुअन्नी है वह भी चलनी मुश्किल हो जाती है। क्योंकि खोटा पैसा जब इतना ज़्यादा चल जाता है तो वह अच्छे पैसे को चलन से बाहर कर देता है। यह नियम है अर्थशास्त्र में। जिन लोगों ने पढ़ा होगा, उन्हें याद होगा।

मान लीजिए, आपकी जेब में चार दुअन्नियाँ पड़ी हैं। उसमें तीन तो अच्छी हैं और एक खोटी है। तो आप सबसे पहले किसे निकालकर देंगे। आप सोचेंगे कि यह खोटी दुअन्नी है, पहले इसे ही चला दो और जब कोई उसे नहीं लेगा तो दूसरी दुअन्नी दे देंगे। ऐसे बहुत कम लोग हैं, जो यह सोचते हैं कि मैं तो बेवकूफ़ बन ही गया, अब दूसरे को क्यों बनने दूँ। लेकिन अधिकतर आदमी ऐसे होते हैं, जो सोचते हैं कि मैं तो बेवकूफ़ बन ही गया, उसे तसल्ली तभी होती है, जब वह दूसरे को बेवकूफ़ बना देता है। इसका नतीजा यह होता है कि जब हर कोई पहले खोटे सिक्के को चलाने लगता है तो असली पैसा पीछे चला जाता है। इस प्रकार ही धर्म के बारे में भी ऐसा ही हो गया होगा। इसकी जो असली चीज़ है, वह पीछे रह गई, बाक़ी चीज़ें ही आगे आती रहीं। कुछ लोग बुराइयों को देखते हुए कहते हैं कि हमें धर्म नहीं चाहिए। परंतु यह कहने से तो काम नहीं चलेगा। चलेगा भी तो कितने दिन? मान लो आपने एक बार कुछ सड़ी-गली चीज़ खा ली और उसके कारण हैजा हो गया। अब डर के मारे वह कहे कि मैं अब कभी कुछ नहीं खाऊँगा, तो वह जिंदा कैसे रहेगा? उसने फल खाया, लेकिन सड़ा हुआ।

उसके भय के कारण अब वह अच्छा फल खाने से भी इनकार करता है तो यह बात ग़लत है। बिना फल खाए, बिना रोटी खाए वह ज़िंदा कैसे रह सकता है?

इसी तरह धर्म के बारे में है। लोगों ने धर्म का दुरुपयोग किया है। धर्म के संबंध में लोगों ने ऐसी बहुत सी चीज़ें चलाई होंगी, जिसके कारण लोगों के मन में आया होगा कि धर्म बड़ी ख़तरनाक चीज़ है। धर्म के नाम पर बड़े युद्ध हुए हैं, बड़े अन्याय हुए हैं। लेकिन इतना होने पर भी धर्म का जो सत्य स्वरूप है, वह सामने नहीं आया है। उसे पहचानना, सामने लाना बहुत आवश्यक है। चार लोग अगर चीज़ों में मिलावट करके बेचते हैं, हम उन चीज़ों का बेचना ही बंद करवा दें, तब तो काम नहीं चलेगा। आवश्यकता तो इसी बात की है कि लोग एडल्टरेशन न करें। मिलावट न करते हुए वे अपनी चीज़ शुद्ध रूप में कैसे बेचें, इसकी चिंता करने की आवश्यकता है। हम यह नहीं कर सकते कि लोगों का बेचना बंद करवा दें। सड़क पर यदि एक्सीडेंट हो गया है तो लोग सड़कों पर चलना ही बंद कर दें। यह तर्क ग़लत हैं।

यह ऐसा ही तर्क है, जैसे एक बार एक सज्जन जहाज़ से जाना चाहते थे। उनकी माँ ने जहाज़ से जाने के लिए उन्हें मना कर दिया। उन्होंने इसका कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि तुम्हारे पिता एक जहाज़ से गए थे, और उनकी मृत्यु हो गई थी। तो उस व्यक्ति ने पूछा कि उसके दादा कहाँ मरे थे? तो बताया गया कि घर ही में मरे थे। फिर वह बोले कि मेरे चाचा को क्या हो गया था? माँ ने कहा कि वे घर में ही मरे थे, बीमार थे, खाट के ऊपर ही मरे। रात को जब खाट के ऊपर सोने का वक़्त आया तो उन्होंने खाट पर सोने से इनकार कर दिया। माँ ने पूछा कि खाट पर क्यों नहीं सोते तो उसने जवाब दिया कि मेरे बाबा और चाचा खाट पर मर गए थे, इसलिए मैं खाट पर नहीं सोऊँगा। माँ ने कहा कि बड़ा बेवकूफ़ है। ऐसा भी कोई सोचता है। तब उसने कहा कि मेरे पिता जहाज़ पर गए और मर गए तो मुझे क्यों मना करती हो? तो इस तरह यह तर्क बिल्कुल ग़लत है कि एक्सीडेंट हो गया तो सड़क पर चलना बंद कर देना चाहिए। एक्सीडेंट कैसे रोकें, इस पर विचार करना होगा।

धर्म का सत्य रूप कैसे सामने आएगा, इसका विचार करने की आवश्यकता है। जब हम धर्म का विचार करते हैं तो पहला प्रश्न सामने आता है कि धर्म का अर्थ क्या? यहाँ से सोचें तो धर्म का अर्थ वास्तव में एक संक्षिप्त सी व्याख्या है। यह व्याख्या यह है कि 'धारणात धर्ममित्याहु, धर्मो धारयते प्रजा'—मनुष्य को जिससे धारणा हो, वह उसका धर्म है, और किसी भी चीज़ को लें। पेड़ है, पशु-पक्षी हैं, लोहा, ताँबा, मिट्टी जो कुछ भी है, वही उसकी धारणा है, उसका धर्म है। सूर्य से जिसकी धारणा हो, वह उसका धर्म है, यानी किसी भी चीज़ की धारणा जैसे मैंने पहले बताया कि अग्नि है तो अग्नि की धारणा उसकी दाहकता से है। अग्नि के ऊपर पानी डाल दीजिए तो क्या होगा?

पानी डालने के बाद उसकी दाहकता तो समाप्त हो जाएगी। बाक़ी की अग्नि बनी रहेगी। जैसे जलते हुए कोयले पर पानी डालते हैं तो उसका स्वरूप तो वही रहता है, लेकिन दाहकता समाप्त हो जाती है। और जब उसके अंदर की दाहकता निकल गई तो उसे कोई अग्नि नहीं कह सकेगा। फिर उसे बुझा हुआ कोयला कहते हैं।

इसी तरह आप देखें कि यह जो धर्म है। इसके ऊपर धारणा होनी चाहिए। यह पहली चीज़ है और जब हम पहली चीज़ को विचार करें तो हमें व्यक्ति का विचार करना होगा। धारणा होती है कि हम व्यक्ति का विचार करें, क्योंकि अपना धर्म क्या है? तो कहना होगा कि जिससे अपनी धारणा हो। जिससे हम ज़िंदा रह सकें। तो सामान्य चीज़ आएगी कि सब ठीक है, भोजन करना चाहिए। इससे धारणा होती है। भोजन करना धर्म है, उससे आदमी टिकता है, शरीर जिससे टिका रहे। यदि शरीर जिससे नहीं टिकता, हमने ऐसा कुछ किया तो वह अधर्म होगा। इसलिए हमारे यहाँ आत्महत्या करना पाप माना जाता है। यह कभी भी पुण्य नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें से शरीर की धारणा समाप्त होती है। तो यह धारणा रहनी चाहिए कि शरीर टिका रहे।

फिर भोजन के बारे में विचार आता है कि वही भोजन करना चाहिए जो स्वास्थ्यवर्द्धक हो। यदि स्वास्थ्य ख़राब करनेवाला भोजन किया जाए तो कहना होगा कि वह धर्म के अनुकूल नहीं है। यदि शराब पी। शराब पीने के कारण शरीर की शक्ति क्षीण होती चली जाती है तो कहना पड़ेगा कि वह धर्म नहीं है। धर्म फिर क्या है? क्या खाना चाहिए, क्या नहीं खाना चाहिए? तो सीधा सा आधार यह है कि जिसके कारण शरीर टिका हुआ है, वह धर्म है और जिससे शरीर नहीं टिकता, वह अधर्म है। हम गेहूँ पचा सकते हैं, अन्न पचा सकते हैं और यदि हमने पत्थर खाना शुरू कर दिया तो सही नहीं होगा। कोई कहे कि पत्थर तो गेहूँ से ज़्यादा मज़बूत होता है। लेकिन हमारा शरीर केवल गेहूँ से टिकता है, पत्थर से नहीं। मोर पत्थर खाता है, कंकड़ चुगता है, उसका शरीर पत्थर से ही टिक जाता है। उसके पास पत्थर को हज़म करने की ताक़त है। शरीर के लिए भोजन परिस्थिति के अनुसार ही देना चाहिए। जैसे कोई मरीज है, उसे दाल का पानी, फटा हुआ दूध आदि ही देना है। वही उसके लिए उपयोगी होगा। लेकिन यदि कोई पेचिश का मरीज है, उसे हलवा खिला दिया तो गड़बड़ हो जाएगी। कोई हट्टा-कट्टा आदमी है, उसे सिर्फ़ चार गिलास मट्ठा दिया और कहा कि पूरे दिन ऐसे ही रहो। तो भी गड़बड़ हो जाएगी। उसके शरीर को टिकाने के लिए कुछ रोटी आदि का आधार तो चाहिए। भोजन प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक आवश्यकता के अनुसार ही चलता है। यदि छोटा-सा बच्चा है, उस बच्चे के अभी दाँत भी नहीं निकले हैं, उसे माँ का दूध नहीं मिला तो उसे गाय का दूध (जो माँ के दूध के सबसे निकट है) पिलाना पड़ेगा। उस समय हम कहें कि नहीं, नहीं इसमें क्या है, बाक़ी लोगों की तरह इसे भी ज़रा अच्छी-

अच्छी रोटी चुपड़कर खिला दी जाए। उस बच्चे का क्या हाल होगा, आप सोच लीजिए
और किसी हट्टे-कट्टे नौजवान को कहा जाए कि वह निपिल से थोड़ा सा दूध पी ले।
तब तो मुश्किल हो जाएगी। इसलिए शारीरिक अवस्था और आयु के साथ भोजन का
चयन करते हैं।

अब यह नहीं कि यूनीफार्म की तरह भोजन के नियम बना दिए जाएँ कि हर
व्यक्ति को, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, वही भोजन दिया जाए। तब तो गड़बड़ हो जाती
है। जिस तरह खेत में काम करनेवाले का भोजन दफ़्तर में काम करनेवाले बाबू को
खिला दिया जाए और बाबू का भोजन खेत के किसान को खिला दिया तो मुश्किल हो
जाएगी। सभी का भोजन अलग-अलग होता है। जो सैनिक युद्धभूमि में जाकर लड़ाई
करता है, उसे घास-पात का भोजन और जो पंडित घर में बैठकर तप, जाप, वेद-पाठ
आदि करता है, उसे मांस खिला दिया जाए तो परेशानी हो जाएगी। भोजन भी प्रत्येक
व्यक्ति की धारणा के अनुकूल होना चाहिए। शरीर की धारणा के लिए वैसा ही भोजन
करना चाहिए।

लेकिन इतना ही नहीं, इसके आगे भी कुछ है। शरीर का जैसे सुख आवश्यक है,
शरीर की धारणा जैसे आवश्यक है, वैसे ही मन का भी विचार करना पड़ता है। उसकी
भी आवश्यकता है और जब मन का विचार करेंगे तो हमारा भोजन ऐसा होना चाहिए
जिससे कि वह शरीर को स्वस्थ रख सके, वैसे ही मन को भी सुखी रखना चाहिए। मन
का सुख नहीं और शरीर का सुख मिल गया तब फिर बड़ी समस्या पैदा हो जाएगी। मन
के सुख के लिए ही हमारे यहाँ कहा गया है कि जहाँ मन का सुख नहीं, वहाँ पर कुछ
नहीं और जिसे मन का सुख प्राप्त है, उसे सबकुछ प्राप्त है। मन सुखी होगा तो तन भी
सुखी होगा। जैसे किसी को फाँसी की सज़ा सुनाई गई हो, उसे अच्छा-अच्छा भोजन
दिया जा रहा हो तो भी उसे कुछ भी नहीं भाता, उसका शरीर भी गिरता जाता है।

आप तो जानते हैं कि अपने यहाँ गधे के लिए संस्कृत में वैशाखनंदन शब्द का
प्रयोग होता है। इसके पीछे किंवदंती है। जब वर्षा के दिन आते हैं। चारों ओर ख़ूब घास
होती है तो उस घास को देखकर बेचारा गधा सोचता है कि इतनी ज़्यादा घास है, इसको
मैं कैसे खाऊँगा और इसलिए उस चिंता के कारण दुबला होता चला जाता है। जैसे
अपने कार्यकर्ता स्वयंसेवक भी दुबले होते चले जाते हैं कि इतना बड़ा अपना समाज है,
कैसे करेंगे इसका संगठन? यही कारण है कि गधा कितना भी खाता जाता है, लेकिन
चिंता के कारण उसके शरीर को नहीं लगता। लेकिन जब वर्षा ख़त्म हो जाती है। गरमी
के दिनों में जेठ और वैशाख की गरमी के कारण घास का एक तिनका भी नहीं दिखाई
देता, तब गधा सोचता है कि मैंने कितना पराक्रम कर लिया है, सारी घास खा गया।
ऐसा सोच-सोचकर फूलकर कुप्पा हो जाता है। आदमी भी शायद खाने से मोटा नहीं

होता। इसका संबंध मन से है। यदि अच्छा हो तो स्वास्थ्य भी अच्छा होगा। हम कहीं गए और वहाँ जाकर खिन्न मन से बैठ गए तो हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा। इसलिए तो एक सज्जन ने कहा कि सुगंधि फूल में नहीं, नाक में होती है। मैं कहूँगा कि नाक में भी नहीं, वह मन में होती है। मन अगर ठीक न रहा तो फिर सुगंधि नहीं आएगी।

मन को ही नहीं, इसके साथ-साथ बुद्धि को भी ठीक रखना पड़ेगा। यदि मन भी ठीक है और शरीर भी हट्टा-कट्टा है और केवल बुद्धि ही ठीक नहीं है तो व्यक्ति पागल के समान इधर-उधर भागा फिरेगा। इसलिए सुख यदि चाहिए तो बुद्धि को भी ठीक रखना होगा। जिस तरह मृग रेगिस्तान में दूर मरीचिका देखता है। सूर्य की किरणों के कारण वहाँ जल का आभास होता है तो वह वहाँ पानी पीने के लिए पहुँच जाता है। यह ठीक है कि गरमी के दिनों में प्यास तो लगेगी ही। लेकिन उसमें बुद्धि नहीं होती कि वह सोचे कि यह रेत है और सूर्य की किरणों के कारण पानी की तरह दिखाई दे रही है। इसी तरह मनुष्य की ग़लत बुद्धि भी उसे सही रास्ते से हटाकर ग़लत रास्ते पर लाकर पटक देती है।

'त्रयानात् धूर्तानाम्' वाली कथा हम सबको मालूम है कि किस प्रकार एक ब्राह्मण एक बकरी का बच्चा लेकर आ रहा था तो रास्ते में उसे तीन धूर्त मिले। उन्होंने सोचा कि बकरी का बच्चा इससे लेना चाहिए। एक ने ब्राह्मण को कहा कि अरे महाराज! कहाँ से आ रहे हो? बोले मेले से आ रहे हैं। वे बोले, 'कुत्ते का बच्चा क्यों उठा लाए?' पंडित ने कहा कि यह तो बकरी का बच्चा है। तीनों बोले कि साफ़ दिख रहा यह तो कुत्ते का ही बच्चा है। जब उन तीनों ने ही अपनी बात को परस्पर रखा तो पंडितजी को भी लगने लगा कि शायद उसकी ही बुद्धि धोखा खा रही है। इसलिए उसने उस बच्चे को वहीं छोड़ दिया। कई बार हमारे अपने ही कारण बुद्धि में भ्रम पैदा हो जाता है। इसलिए हमारी यह बुद्धि भी ठिकाने पर होनी चाहिए।

मन, बुद्धि, शरीर के साथ-साथ हमारा एक अहं भी है। उसका भी विचार करना आवश्यक हो जाता है। जब उसकी पुष्टि नहीं होती तब भी तक़लीफ़ हो जाती है। अनेक प्रकार से मनुष्य को जो कठिनाइयाँ होती हैं, वे सब उसके अपने अहं के कारण होती हैं। जब अहं का वह ठीक प्रकार से विचार नहीं कर पाता, उसको ठीक प्रकार से तुष्ट नहीं कर पाता, तो उससे तक़लीफ़ हो जाती है। अनेक प्रकार से मनुष्य को सब कठिनाइयाँ अहं के कारण ही होती हैं। एक बार एक स्त्री नई अँगूठी लाई। किसी का ध्यान उसकी अँगूठी की तरफ़ नहीं गया। वह सोच-सोचकर परेशान थी कि किसी ने पूछा तक नहीं कि वह अँगूठी कहाँ से लाई। उसने अपने घर में आग लगा ली। जब सभी लोग उस आग को बुझाने आए तो वह अपने अँगूठी वाले हाथ से बताने लगी कि इधर पानी डालो, उधर पानी डालो। एकदम किसी का ध्यान गया तो उसने पूछा कि यह

हीरे की अँगूठी कहाँ से लाई? तो वह बोली कि यदि तुम पहले ही पूछ लेते तो यह आग क्यों लगती। यह जो चीज़ है अहं, उसके अंदर का यह अहं था, वह तृप्त नहीं होता था, इसलिए बेचारी ने आग लगाई। आदमी इसके लिए भी कई बार बड़े-बड़े पाप कर बैठता है। आजकल मनोवैज्ञानिक तो इसका बहुत विचार करके चलते हैं। यह जो अहं है, इसका भी ठीक प्रकार से मेल होना चाहिए।

इस अहं के आगे भी एक तत्त्व है। वह आत्मतत्त्व है, जिसका कि कल भिड़ेजी ने वर्णन किया था। उसका भी आख़िर कुछ-न-कुछ संबंध है। उसका संबंध हमारे जीवन के साथ क्या है? इसका हम थोड़ा-बहुत और विचार आगे करेंगे। इसके साथ-साथ मनुष्य की जब धारणाएँ होंगी तो वास्तव में मनुष्य की धारणा होती है। व्यक्ति की धारणा को केवल एक ही चीज़ में ले लिया। किसी ने कहा कि चलो रोटी मिल जाए तो व्यक्ति की धारणा नहीं होगी। यदि इतने से ही व्यक्ति की धारणा हो जाती तो फिर रोटी को छोड़ने वाले लोग नहीं मिलते। मानसिंह ने आख़िर महाराणा प्रताप के यहाँ भोजन क्यों नहीं किया? यदि भोजन के कारण ही यह धारणा होती तो लोग कहते कि वाह! वाह! भोजन मिल रहा है। पहले भोजन फिर बाद में देखेंगे। ऐसे ही आजकल ब्राह्मणों को कहा जाता है न कि रूखी-सूखी मिले तो कोसों दूर, पूरी-पत्ता मिल जाए तो कोस बारह और नित पाए मालपुआ तो धाए कोस अठारह।

ऐसा ही अगर होता तो ये बाक़ी के व्रत-उपवास करनेवाले और भोजन छोड़ने वाले लोग नहीं मिलते। परंतु उसका बाक़ी के साथ संबंध आता है। इस कारण ही वास्वत में शरीर का विचार करके भी जौहर करनेवाली महारानियाँ कैसे आ गईं? हम इतना ही मानकर चलते कि शरीर की धारणा होती है। परंतु भोजन के साथ मन का संबंध जोड़ा, इसलिए कभी-कभी भोजन को छोड़कर हम मन की चिंता करते हैं। कभी मन हमें कुमार्ग पर ले जाता है तो उसके ऊपर हम बुद्धि का अंकुश लगा देते हैं। इसलिए धर्म का सद्विचार करके आदमी चलता है। जहाँ पर ये सारे विकार आते हैं। कभी-कभी ऐसी भी चीज़ हो जाती है कि जिस शरीर की धारणा को हमने सार सर्वस्व माना, उस शरीर को छोड़ने पर भी मनुष्य मानता है। ऐसा जैसे कि जौहर करनेवाली रानियाँ या रणक्षेत्र में अपने प्राणों की बाज़ियाँ लगा देनेवाला सैनिक। नहीं तो वह यह सोचेगा कि शरीर की धारणा ही सबकुछ है और इसलिए जैसा कि कई लोगों ने कहा कि 'शरीरमाद्यम खलु साधनम्' कि शरीर ही सबकुछ है। इसका अर्थ लोगों ने उलटा कर लिया। वास्तव में तो इसका अर्थ यही है कि 'आद्यम साधनम् शरीरम्'। सबसे पहला साधन शरीर है। इसलिए शरीर को ही प्रमुख मानकर चलना चहिए। वैसा यदि मानकर चलते हैं तो सैनिक सोचेगा कि शरीर बचाओ। शरीर बचा, सबकुछ बच जाएगा। ऐसा विचार करके वह चले तो जैसे ही युद्ध में लड़ने का मौक़ा आएगा, वह तो भाग

जाएगा। पहले ही पलायन-वृत्ति उसके मन में आ गई। यह ठीक नहीं है। कभी-कभी तो ठीक है, भागना भी पड़ता है। भगवान् कृष्ण भी रणछोड़दास कहलाए। किंतु हर सैनिक यदि रण छोड़कर भागने लगे तो यह ठीक नहीं होगा। सेना का क्या हाल होगा? ज़रा कल्पना करके हम चल सकते हैं।

इस प्रकार इस शरीर से भी कभी-कभी ऊपर आकर विचार करना पड़ता है। जहाँ पर कि शरीर की धारणा से भी ऊपर उठकर कोई चीज़ है, जिसके आधार पर विचार करके मनुष्य चलता है। इस संपूर्ण शरीर की धारणा के लिए भी हमारे लिए क्या आवश्यक है? इन सब चीज़ों का हम कल फिर विचार करेंगे।

—पाञ्चजन्य, मई 26, 1961

□

33

संघ शिक्षा वर्ग, बौद्धिक वर्ग : लखनऊ

परम पूजनीय गुरुजी, माननीय सर्वाधिकारीजी, अन्य अधिकारीगण और स्वयंसेवक बंधुओ, कल हमने व्यक्ति जीवन के सुख की दृष्टि से कुछ पहलुओं पर विचार किया और यह देखा कि व्यक्ति को केवल शारीरिक सुख ही नहीं, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक सुख की भी लालसा रहती है और इस प्रकार सभी सुखों के साथ-साथ समन्वयात्मक ढंग से वह यदि प्राप्त कर सका, तभी वह अपने जीवन में वास्तविक सुख का अनुभव कर सकता है, अन्यथा एक प्रकार का सुख उसे यदि मिला और बाक़ी के सुखों से वह वंचित रहा तो पहले प्रकार का सुख भी उसको दुःखकारक प्रतीत होता है। उस सुख का भी मूल्य समाप्त हो जाता है। अतएव हमारे सुख, हमारे जीवन के विविध पहलुओं को समान रूप से बढ़ाने वाले, समान रूप से आनंद देनेवाले होने चाहिए।

कुछ व्यक्तियों की अपनी भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ हैं, उनके भिन्न-भिन्न अंग हैं, वैसे यदि देखें तो वह किसी भी प्रकार का सुख प्राप्त नहीं कर सकता। सुख को प्राप्त करने के लिए दूसरों पर भी निर्भर रहना पड़ता है। हम बिल्कुल भौतिक दृष्टि से ही देखें—भोजन का प्रश्न आता है। अन्य भौतिक आवश्यकताएँ हैं। तो पता चलता है कि अकेला व्यक्ति सभी भौतिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर सकता। स्वयं अन्न पैदा कर ले। स्वयं उसका आटा बनाए, स्वयं उसमें से खाना तैयार कर ले, ईंधन भी स्वयं ही इकट्ठा कर ले, उसके लिए जो बरतन आदि चाहिए, वह भी जुटा ले, तो यह वास्तविक स्थिति नहीं है। रॉबिन्सन क्रूसो[1] का जो कुछ भी स्थान हम सबने पढ़ा होगा, उसने अपने

---

1. 'रॉबिन्सन क्रूसो' डैनियल डेफो द्वारा 1719 में रचित एक उपन्यास है। यह पुस्तक रॉबिन्सन क्रूसो नामक एक अंग्रेज़ चरित्र की काल्पनिक आत्मकथा है, जो वेनेजुएला के निकट उष्ण कटिबंधीय द्वीप पर 28 साल तक फँसा रहा। इन 28 सालों के दौरान उसने वहाँ के मूल निवासियों से संघर्ष किया और अंततोगत्वा वह बच निकला।

ही प्रयत्न करके सब चीज़ें तैयार कीं। वह एक काल्पनिक जगत् की बात है और वास्तव में उस व्यक्ति के प्रयत्न हैं कि जिस व्यक्ति ने समाज में अनेक वर्षों तक जीवन व्यतीत करके बहुत सी चीज़ें सीख ली थीं। अन्न कैसे उगाया जाता है, यह उसे मालूम था। मैदान कैसे बनाया जाता है, यह भी उसने देखा था। नाव कैसे बनाई जाती है, नाव कैसे तैरती है, यह वह अच्छी तरह से जानता था। सबका सब स्वयं उसने अपनी बुद्धि लगाकर आविष्कार किया। ऐसी तो कोई बात नहीं कि वह समाज से दूर हट गया होगा। उसने सबकुछ विचार स्वयं ही कर लिया होगा, ऐसा नहीं है।

वास्तविक जीवन में तो हम यही देखते हैं कि व्यक्ति दूसरों के ऊपर बराबर निर्भर रहता है। हम दूसरों पर निर्भर रहते हैं और जो कुछ दिखाई देता है वह इतना ही है कि एक व्यक्ति दूसरे के ऊपर निर्भर है। किसान जुलाहे के ऊपर निर्भर रहता है। वह उसे खाने के लिए अन्न देता है। डॉक्टर और शिक्षक एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। डॉक्टर के बच्चे को शिक्षक पढ़ाता है। शिक्षक के बच्चे को डॉक्टर बीमार पड़ने पर दवाई देता है। हम चारों ओर देखेंगे तो पता चलेगा कि हम सभी एक-दूसरे के ऊपर निर्भर हैं। एक-दूसरे के द्वारा हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। बिना एक-दूसरे के कोई एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ा सकता। कोई ऐसा सोचे कि मैं समाज से बिल्कुल अलग हटकर अपना ही विचार करके चलूँगा तो संभवत: वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकेगा। उसे संपूर्ण का विचार करना ही पड़ेगा। जब विचार करेगा तो प्रत्येक चीज़ में ढंग से अच्छी तरह से विचार करना ही पड़ेगा और यह विचार करना आना चाहिए।

जब हम आगे देखते हैं, मानसिक सुख का विचार करते हैं तो पता चलता है कि मानसिक सुख भी केवल हमें दूसरों से ही प्राप्त होता है। दूसरों को सुखी देखकर हमें कुछ सुख का अनुभव होता है। यदि हम दूसरों को दु:खी देखते हैं तो हमें दु:ख का अनुभव होता है। हँसते हुए देखकर हमें भी हँसी आ जाती है। ऐसा कोई व्यक्ति होगा, जो बहुत बेरहम होगा। उसे किसी को रोते देखकर रोना नहीं आता और दूसरे को हँसता हुआ देखकर उसे हँसी नहीं आती। जबकि बहुत बार तो लोग दूसरे को देखकर रोना शुरू कर देते हैं। दूसरे के अंदर भय का भाव देखकर अपने अंदर भी भय भाव पैदा हो जाता है। दूसरों को पराक्रम करते हुए देखा तो लगता है, अपने को भी पराक्रम करना चाहिए। अर्थात् ये भावनाएँ सभी के अंदर रहती हैं।

कई बार ऐसा होता है कि हम किसी का विचार नहीं कर सकते। यहाँ तक कि हमारे पास सब प्रकार के सुख रहें। हमारे पास बहुत अच्छा भोजन है। हम भोजन करने के लिए बैठे हैं। बड़ी शांति और आनंद के साथ भोजन कर रहे हैं। कोई माँगने के लिए खड़ा हो जाए तो आपको इस भोजन में फिर आनंद ही नहीं आएगा। गाड़ी में आप

भोजन करने के लिए बैठे, कोई भिखारी सामने से आ जाता है। ऐसा चेहरा बनाता है। एक तो गंदे कपड़े, आप उससे दूर हटने को भी कहोगे तो वह नहीं हटता। उस समय आप बिना दिए उससे छुटकारा नहीं पा सकते और जब तक आप दया करके उसे नहीं देंगे तो आपका आनंद ही चला जाएगा। इस प्रकार दूसरे के ऊपर हमारा यह मन का सुख सब प्रकार से अवलंबित रहता है।

कोई कहे कि नहीं हम तो मनमौजी हैं, अपने मन के अंदर हम सुखी रहेंगे। लेकिन इतने से काम नहीं चलेगा। किसी-न-किसी प्रकार सुख प्राप्त करने को दूसरे का सहारा हमें लेना ही पड़ेगा। बहुधा लोग उसी प्रकार का व्यवहार अपने आप करने लगते हैं। जैसे कि एक क़िस्सा है। एक जुलाहा था। उस जुलाहे की एक लड़की थी। एक बार लड़की झाड़ू लगाते-लगाते कुछ सोचने लगी। जैसे कुछ लोगों को कल्पना-लोक में विचरने की आदत होती है। वह भी कल्पना में खो गई। उसकी शादी पक्की हो चुकी थी, इसलिए वह इसी के बारे में सोचने लगी कि कुंछ दिन बाद मेरी शादी हो जाएगी। मैं ससुराल चली जाऊँगी। कुछ दिन बाद मेरा बच्चा होगा। उसे खिलाएँगे, पिलाएँगे, घर में आनंद छा जाएगा। उसे कहीं लेकर जाएँगे तो वहाँ से रुपया मिलेगा, प्रेम मिलेगा। लेकिन फिर उसके मन में विचार आया कि अचानक कोई बीमारी गाँव में फैलेगी। उस बीमारी में उसका बच्चा भी बीमार हो जाएगा। उसका इलाज कराया जाएगा। उसके बाद भी वह बच्चा नहीं बचेगा। बच्चा मर जाएगा। यही सोचकर उसके मन के अंदर से रोना छूटने लगा। वह रोने लगी। जब वह रोने लगी तो उसकी माँ जो बाहर पानी भरने के लिए गई थी। उस समय वह लौटकर आई। उसे रोता हुआ देखकर वह भी रोने लगी। उस लड़की का भाई आया। उसे रोता देखकर वह भी रोने लगा। पिता आया सबको रोते देखकर उसे भी रोना आ गया। पड़ोसियों ने जब रोने की आवाज़ सुनी तो वे भी वहाँ आ पहुँचे। उन सबको रोते देखकर पड़ोसिन औरतें भी रोने लगीं। वहाँ भीड़ इकट्ठी हो गई। एक व्यक्ति ऐसा आया, जिसे जिज्ञासा हुई रोने का कारण जानने की। उसने पूछा कि ये सब क्यों रो रहे हैं? क्या कोई मर गया है? लेकिन किसी को भी कारण पता नहीं था। अंत में जुलाहे से पूछा कि क्या बात हो गई है? जुलाहे ने कहा कि मेरी पत्नी और बच्चे रो रहे थे तो मैं भी रोने लगा। उसकी पत्नी ने कहा कि यह लड़की रो रही थी। मैंने सोचा कि कहीं से मृत्यु का समाचार आया होगा, इसलिए मैं भी रोने लगी। उसके लड़के ने भी यही बताया। बाद में लड़की से पूछा गया कि तू क्यों रो रही थी? तब उसने कहा कि मेरा लड़का मर गया, मैं इसलिए रो रही थी। सभी ने उससे यही पूछा कि तेरा लड़का कहाँ है? उसने बताया कि मैं इस तरह सब सोच रही थी। तो यह तो एक क़िस्सा है। लेकिन वास्तव में भी मनुष्य दूसरे को देखकर स्वयं भी रो पड़ता है। इसीलिए किसी साहित्यकार ने कहा है कि समाज दर्पण के समान है। इस दर्पण के

सामने जैसा चेहरा लेकर खड़े हो जाएँगे, वैसा ही उसमें दिखाई देगा। हँसता हुआ चेहरा लेकर खड़े हो जाएँगे तो हँसता हुआ चेहरा दिखेगा। समाज भी उसी प्रकार से उसकी प्रतिक्रिया करता है। आप हँसते हुए खड़े होंगे तो समाज भी आपको हँसता हुआ दिखेगा। रोते हुए खड़े होंगे तो समाज भी आपको रोता हुआ दिखाई देगा। इस प्रकार से मन का सारा सुख समाज के ऊपर निर्भर करता है।

अकेला कोई सोचे कि मैं अकेले ही सुख प्राप्त कर लूँगा तो अकेला मनुष्य कभी सुख प्राप्त नहीं कर सकता। चार लोगों के साथ मिलकर ही सुख प्राप्त करेगा। कल्पना करें कि किसी के घर में विवाह है। उस विवाह में जितने ज़्यादा लोग सम्मिलित होंगे, जितने ज़्यादा मित्र आएँगे, उतना ही सुख बढ़ता चला जाएगा। लेकिन किसी का ऐसा विवाह हो कि विवाह में अकेले ही ब्याह करने चले गए, कोई दूसरा आया ही नहीं। न चार स्त्रियाँ वहाँ पर गीत गाने के लिए इकट्ठा हुईं और इस तरह यदि किसी का विवाह हुआ तो कोई क्या कहेगा कि यह विवाह काहे का रहा। आनंद तो है वहाँ, जहाँ चार लोग इकट्ठा होते हैं। इसी तरह चार सुखी लोग इकट्ठा होंगे तो समाज का सुख बढ़ जाता है। इसी तरह दुःख के विषय में भी है। किसी के यहाँ मृत्यु हो जाए। वह अकेला ही बैठकर रोता रहे। कोई उसके यहाँ दुःख बाँटने न आए। तब दुःख बढ़ जाता है। यदि कोई उसके पास आकर उसके दुःख का कारण पूछे या उसके रोने के साथ थोड़ा रो दे तो उसका दुःख कम हो जाता है। मृत्यु होने पर उसकी शमशान-यात्रा में लोग हज़ारों की संख्या में सम्मिलित हो जाएँ तो उसके घर वालों का दुःख उतना ही कम हो जाता है और यदि कहीं पर सुख का मौक़ा है तो वहाँ भी हज़ारों लोग इकट्ठा होते हैं। थोड़ी सी परेशानी उनका इंतजाम करने में हो सकती है, लेकिन सुख तो बढ़ जाता है।

इस प्रकार दुःख बाँटने से दुःख कम हो जाता है और सुख बाँटने से सुख में बढ़ोतरी होती है। जो व्यक्ति अकेला रहता है, उसको भय लगता है। अकेलेपन का भय। इस बारे में अपने यहाँ एक कहावत है कि दो तो मिट्टी के भी भले। वे मिट्टी के होंगे, लेकिन कम-से-कम दो तो होंगे। इसी तरह आप किसी जंगल में जाइए तो आप अकेले जाएँगे तो आपको डर लगेगा। लेकिन आपको कोई दूसरा साथी मिल जाए तो आपको बिल्कुल भी डर नहीं लगेगा। एक तरह का धैर्य मन में बैठ जाता है कि मैं अकेला नहीं हूँ।

एक बार का मुझे अनुभव है। यह पिछली लड़ाई के समय की बात है। उस समय गाड़ी में भीड़ बहुत रहती थी। भीड़ होने के कारण लोग स्टेशन पर टिकट भी नहीं ले पाते थे। कई बार टिकट मिलना भी बंद हो जाता था। लेकिन टिकट मिलना बंद होने के कारण बहुत कम लोग होंगे जो यह सोचेंगे कि चलो आज नहीं तो कल की गाड़ी से चले जाएँगे। नहीं तो ज़्यादातर लोगों को तो, किसी भी तरह पहुँचे, पहुँचना ज़रूरी होता

है। फिर यह भी आवश्यक नहीं था कि आज टिकट नहीं मिला तो कल मिल ही जाएगा। लोग बिना टिकट लिये गाड़ी में बैठ जाते थे, सोचते थे कि भगवान् जो कुछ करेगा, देखा जाएगा, ऐसा सोचकर उन दिनों लोग चला करते थे। इसी तरह गाँव का एक किसान बिना टिकट गाड़ी में बैठा था। वह बड़ा चिंतित था। उससे पूछा कि भाई, क्या बात है? तो बोला, 'क्या करें बाबूजी, टिकट नहीं मिला। न मालूम क्या होगा?' वहीं पर एक व्यक्ति और बिना टिकट बैठा था। वह बोल पड़ा, 'तुम्हें ही क्या, टिकट तो मुझे भी नहीं मिला।' इसी तरह एक और व्यक्ति बिना टिकट वाला बोल पड़ा। अब सभी जो बिना टिकट वहाँ बैठे थे, बोलने लगे, 'अगर टिकट नहीं मिला तो क्या सफर करना बंद कर दें? कोई ज़बरदस्ती थोड़े ही है। ज़्यादा-से-ज़्यादा पैसे अधिक चार्ज कर लेगा और क्या करेगा?' इस प्रकार सभी की हिम्मत बढ़ गई। उनका भय ख़त्म हो गया। एक-दूसरे की चिंता करके समाज में चलना पड़ता है। यदि यह सोच लिया जाए कि पड़ोसी के घर में आग लगी है, अपने घर में थोड़े ही लगी है। उसके घर की आग क्यों बुझाएँ? तो इस प्रकार काम नहीं चलता। पड़ोसी का विचार करके चलना ही पड़ता है। यदि पड़ोसी स्वच्छ नहीं है तो उसकी गंदगी से सभी को बीमारी हो सकती है। उसकी भी चिंता करनी पड़ेगी। कोई भी व्यक्ति अकेले चलना चाहे तो वह नहीं चल पाएगा। दूसरों के सहारे ही उसको विचार कर चलना होगा। सड़क पर भी दूसरे को देखकर चलना पड़ता है। हम तो यह सोचकर चल रहे हैं कि हम ठीक हैं, लेकिन सामने से जो आ रहा है, उसके कारण टक्कर हो सकती है।

एक बार इसी तरह का क़िस्सा है। एक सज्जन सड़क पर चले जा रहे थे। अपने ध्यान में मग्न थे। सामने से एक व्यक्ति आ गया। उनकी टक्कर हो गई। उन्होंने उसे डाँटकर कहा, 'अंधे हो क्या, देखकर नहीं चलते।' वह व्यक्ति सचमुच अंधा था। अब वह तो अंधा था, लेकिन स्वयं इनको देखकर चलना चाहिए था। एक घटना और याद आती है। अपने एक स्वयंसेवक थे। वे साइकिल बहुत अच्छी चलाते थे। कभी हाथ छोड़कर चलाते थे। कभी पैर ऊपर रखकर चलाते थे, अर्थात् सरकस में जितने प्रकार होते हैं, सब उनको आते थे। वह इस प्रकार का सरकस सड़क पर भी करते थे। उनको एकाध बार कहा भी था कि उनको ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि सड़क पर चलते-चलते ना मालूम क्या हो जाए? उसने कहा, 'नहीं, साइकिल तो हमारे लिए ऐसी है जैसे बतख पानी पर चलती है। वैसे ही हम साइकिल पर चलते हैं।' मैंने कहा, 'यह तो ठीक है, लेकिन फिर भी सावधानी बरतनी चाहिए।' एक दिन वह रिक्शा पर बैठकर आ रहे थे और उनकी टूटी हुई साइकिल रिक्शा पर रखी थी। वे कार्यालय में पहुँचे। उनको रिक्शे से उतारा गया। उतारकर उनकी जो मरहम-पट्टी करवानी थी, वह करवाई गई। उनसे पूछा कि क्या हो गया? उन्होंने बताया कि एक जगह टक्कर हो गई। मैंने कहा कि

तुम तो साइकिल चलाना अच्छी तरह जानते हो। उन्होंने बताया कि मैं तो ठीक तरह चला रहा था, लेकिन जो सामने से आ रहा था, उसे बहुत बचाने की कोशिश की, लेकिन फिर भी वह टकरा गया। अब यह कभी-कभी हो जाता है। इसलिए जब आप टकराने से बचना चाहते हो तो वह टक्कर एक को बचाने से नहीं बचेगी। वह दोनों की कोशिश से बचेगी। ताली एक हाथ से नहीं बज सकती। झगड़ा भी कभी एक व्यक्ति से नहीं होता। उसमें दो को तो सम्मिलित होना ही है। इसी तरह झगड़ा टालने के लिए भी दो व्यक्तियों की ज़रूरत होती है। दोनों व्यक्ति झगड़े को टालना चाहेंगे, तभी वह झगड़ा समाप्त होगा। इसी तरह अकेला कभी नहीं चल सकता।

जब बहुत दिनों के बाद कोई दूसरा व्यक्ति मिलता है, तो उससे गले मिलना होता है। जैसे कि निषाद भगवान् राम के साथ गले मिला था, वैसे ही अगर कोई मिलना चाहे। आप कितना ही हटें, वह आपको छोड़ने के लिए तैयार न हो, तब आप क्या करेंगे? आपको मिलना ही होगा। एक्सीडेंट की कितनी ही घटनाएँ घटती रहती हैं। एक के कुशल होने से काम नहीं चलता। दोनों को कुशल होना चाहिए। मृत्यु न जाने कब आ जाए, कुछ पता नहीं चलता। ऐसे ही एक बार की बात है। लुधियाना स्टेशन पर गाड़ी का इंतज़ार करते हुए यात्री बैठे थे। एक व्यक्ति का अचानक दिमाग़ ख़राब हो गया। उन्होंने अचानक अपनी तलवार निकाली और जो व्यक्ति उनके पास बैठा था, उसके सीने में भोंक दी। दूसरे को, तीसरे को मारा। कुल छह व्यक्तियों को तलवार से मार दिया। बड़ी मुश्किल से उन्हें पकड़कर हवालात में बंद किया। अगर बाक़ी लोग भी यह सोच बैठते कि अब ये छह तो गए, इनको कैसे बचाएँ, तो वह व्यक्ति और भी नुक़सान कर सकता था। उन्होंने अपनी परवाह न करते हुए उसे पकड़ा। हमारा यह जीवन कितनी ही दूसरी शक्तियों के ऊपर निर्भर है।

हमारा जीवन रेलगाड़ी की तरह है। जैसे ड्राइवर ज़रा सी गड़बड़ कर दे तो कितने ही लोगों का जीवन बरबाद हो जाए। उसी तरह हम भी गड़बड़ कर दें तो हमारा जीवन भी बरबाद हो जाता है। यह सारा सुख जीवन का इस आधार पर चलता है। यहाँ तक कि कई बार मन में आता है कि दूसरों के साथ मिलकर बैठने से आनंद आता है। कई बार इनसान मन की बात कहने को इतना लालायित रहता है कि कोई मिले तो झट से उसे सबकुछ बता दिया जाए। और यदि कोई नहीं मिलता तो मन परेशान रहता है। कई बार दक्ष में खड़े-खड़े स्वयंसेवक भी आपस में विचार कर लेते हैं। क्यों कर लेते हैं? क्योंकि मन के अंदर से विचार उठता है। वे उसे रोक नहीं सकते।

उनकी हालत ऐसी होती है, जैसी कि एक नाई की हो गई थी। एक नाई था। वह राजा की हजामत बनाने के लिए गया। हजामत बनाते-बनाते एक दिन देखा कि राजा का कान जो है, कुछ कटा हुआ है। अब राजा का कटा हुआ कान देखा। राजा को भी

ध्यान आ गया कि वह अपने कटे हुए कान को पगड़ी में छुपाए रखता है, लेकिन अब वह नाई से कैसे छुपाएगा। राजा ने नाई से कहा कि तूने तो मेरा कान देख लिया। लेकिन यदि किसी और को भी तूने यह बात बताई तो मैं तुझे फाँसी लगवा दूँगा। नाई ने कहा— हुज़ूर, मेरे मुँह से तो यह कभी निकल ही नहीं सकता। समझ लीजिए कि मेरे पेट में गई हुई बात ऐसी होती है, जैसे कुएँ में गई वस्तु। आप चिंता मत कीजिए।' अब वहाँ से तो वह कहकर आ गया। लेकिन इतनी बड़ी बात वह बेचारा किसी से न कहे तो क्या करे? उसका पेट फूलने लगा। वह बात हज़म नहीं हो पा रही थी। उसका पेट फूलता ही जा रहा था। वैद्य को दिखाया। उन्होंने सोचा कि पेट ख़राब है। इसको जुलाब दे दिया जाए। परंतु जुलाब देने से पेट की सफाई तो अच्छी हो गई, लेकिन पेट का फूलना बंद नहीं हुआ। बहुत परेशान हुआ। चिंता होने लगी। वहाँ एक साधू आया। उसने साधू को पेट दिखाया। साधू को लगा कि इसके पेट में कोई बात है। उसने नाई को सुझाव दिया कि तुम फलाने-फलाने जंगल में जाओ। वहाँ फलाने बाँस का पेड़ है। वहाँ जाकर के गोबर का चौका लगाओ। उसके बाद वहाँ एक नारियल रखो और दीपक जलाकर मिठाई वग़ैरह रखकर बताशे, खीर, रोली, चंदन से बाँस की पूजा करो। बाँस से अपने दिल की सारी बात बता देना। पेट ठीक हो जाएगा। नाई ने वैसा ही किया। बाँस को अपने मन की बात बता दी। नाई का पेट ठीक हो गया। अब उस बाँस को जब काटा गया, उसकी बाँसुरी बनाई गई। उस बाँसुरी को जब बजाया गया तो यही स्वर निकलता था कि राजा का कटा कान। आख़िर राजा के कटे कान की बात सभी को पता चल गई। नाई से बात छुपाई नहीं गई। इसी तरह अपना यह पेट कभी कोई बात नहीं छुपा पाता और जब छुपाता है तो फूल जाता है।

यदि हमने अपने मन की बात किसी को नहीं बताई तो बुरा हाल हो जाता है। कभी-कभी जब हमारी बात को कोई नहीं सुनता तो हमें बुरा लगता है। बैठक में भी ऐसा ही होता है। जब कोई सोने लगता है तो ऐसा लगता है कि वह हमारी बात नहीं सुन रहा है। कवि के बारे में कहते हैं कि कभी उससे कहो कि ज़रा कविता सुना दे तो वह बड़ी मनावने करवाता है, संगीतकार से कहो तो वह भी मनावने करवाता है। यदि उसकी इच्छा होगी तो वह मौक़ा ढूँढ़ता रहेगा अपनी रचना सुनाने के लिए। ऐसे ही एक कवि का मुझे मालूम है। उन्होंने मेरे पास आकर अपनी कविता पढ़नी शुरू कर दी। थोड़ी सी कविता पढ़ी। मुझे रस आया या नहीं, यह कहना कठिन है, क्योंकि मुझे कविता में कोई रस नहीं है। उसके लिए कोई रसज्ञ चाहिए। किंतु फिर एक स्वाभाविक शिष्टाचार के कारण उनकी तारीफ़ कर दी। उन्होंने इस बात को समझा कि कोई बड़ा कद्रदान मिल गया। इसलिए उन्होंने कहा कि यह तो कुछ नहीं है, एक दूसरी सुनिए। मैंने सोचा कि तारीफ़ करके ग़लती कर दी। लेकिन उन्होंने तीसरी, चौथी और बस

सुनाते ही गए। वे उठने का नाम ही नहीं ले रहे थे। मैं कहता कि मुझे कहीं जाना है तो वे कहते कि नहीं, यह तो सुनिए, क्या दूर की कल्पना इसके अंदर आई है। उनको इसी में आनंद आ रहा था। अब कल्पना कीजिए कि मैं उनकी बात नहीं सुनता तो शायद उनका आनंद किरकिरा हो जाता। इसलिए कवि ने भगवान् से प्रार्थना की है कि उसे कोई भी दुःख दे देना, बस एक ही दुःख न देना, और वह यह है कि 'अरसिकेषुकवित्त निवेदनम शिरिस मा लिख मा लिख मा लिख' कि अ-रसिक जो हैं, जिनको रस नहीं आता, ऐसे व्यक्ति से सामना न हो, जो मेरी कविता न सुन सके। कवि का सबसे बड़ा दुःख यही रहता है कि कोई ऐसा व्यक्ति न मिले, जो उसकी कविता को पसंद न करे या सुननी न चाहे। कवि का सुख भी दूसरे लोगों के ऊपर ही अवलंबित रहता है।

हमारा जो राज्य है, यह कहाँ से आता है? हम भाषा कहाँ से सीखते हैं? कहने को तो आदमी कह जाता है कि मेरा गला है, मेरी जीभ है, मैं इन्हीं से बोलना सीखता हूँ। लेकिन उसे पता नहीं कि यदि यह समाज न हो तो उसे ज्ञान कहाँ से आएगा, बोलना कैसे आएगा? उसे चलना कैसे आएगा? जीने का ढंग कैसे आएगा? मनुष्य कितना भी कहे कि यह मेरी जो रीढ़ की हड्डी है, मैं इसी से चलना सीखता हूँ। लेकिन उसकी बात बिल्कुल ग़लत है।

एक बार लखनऊ के अस्पताल में एक लड़का आया था, उसे बहुत पहले भेड़िए उठाकर ले गए थे। भेड़ियों ने ही उसका लालन-पालन किया। इसका फल यह हुआ कि मनुष्य समाज से वह बिल्कुल दूर हो गया। वह भेड़िए की तरह ही बोलता था। खाना भी वह हाथ से नहीं खाता था। ज़बान से लप-लप करके खाना खाता था। जैसे चौपाए चलते हैं, वैसे ही वह चलता था। अब उसमें धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन हुए हैं। उसको मनुष्यों में लाकर रखा गया है। उस लड़के का जैसा हाल हुआ, समाज से हटकर हम सभी का वही हाल हो सकता है। समाज के कारण ही हम बोलना, चलना, हँसना सीखते हैं। हमारी बुद्धि का विकास भी समाज के द्वारा ही होता है। यदि समाज न हो तो हम कुछ भी नहीं सीख सकते। हम पिछले ज्ञान से सीखकर नए ज्ञान की ओर बढ़ते हैं।

जैसे प्रारंभ में मनुष्य ने आग का आविष्कार किया होगा। आग जलाना सीखा होगा। उसके लिए न मालूम कितनी बुद्धि लगाई होगी। कितने प्रयत्न किए होंगे। परंतु इतना सबकुछ करने के बाद उसने आग जलाना सीख ही लिया। लेकिन क्या हमें आज इतनी बुद्धि लगानी पड़ती है? नहीं, इसी तरह गुणा, भाग, जोड़, घटा आदि का ज्ञान है। हम हिसाब लगा लेते हैं। लेकिन यह सब आविष्कार किसने किया? शून्य की खोज,[2] जिस प्रकार हम संख्याएँ लिखते हैं—इकाई, दहाई, सैकड़ा, हज़ार, यह सब आविष्कार

2. सन् 498 में भारतीय गणितज्ञ एवं खगोलवेत्ता आर्यभट्ट ने कहा, 'स्थानं स्थानं दसा गुणम्' अर्थात् दस गुना करने के लिए (उसके) आगे (शून्य) रखो, से ही विश्व में शून्य की खोज मानी जाती है।

कैसे हुआ? कितने ही लोगों ने अपनी बुद्धि लगाई होगी। यूरोप के लोग जिसका आविष्कार नहीं कर पाए, रोमन न्यूमरल्स यों लिखे जाते हैं। यह आपने देखा होगा। जैसे अंग्रेज़ी का 'वी' होता है, उसे पाँच कहा जाता है। जबकि हम लोग पंद्रह लिखते हैं तो एक और पाँच इस तरह लिखते हैं। यह सब जो चीज़ है, इसके लिए हमें बुद्धि नहीं लगानी पड़ती। लेकिन हमारे लोगों को कितनी मेहनत करनी पड़ी होगी। इसलिए हम समाज से हटकर यदि जीना चाहें तो नहीं जी पाएँगे।

हम जो कर रहे हैं, उसका फल आगे आनेवाले समय में किसी और को मिलेगा तथा जो हमसे पहले कर गए हैं, उनकी मेहनत का फल हमें प्राप्त हुआ, जो एक धरोहर के रूप में प्राप्त होता चला जाता है। हमारी यात्रा इसी तरह चलती रहती है। यानी हम सब किसी-न-किसी रूप में एक-दूसरे के ऊपर निर्भर होते हैं। व्यक्ति का समाज से घनिष्ठ संबंध है। यदि समाज सुखी नहीं होगा तो व्यक्ति भी सुखी नहीं रह सकता। समाज हमें बहुत कुछ देता है, जिससे व्यक्ति अनजान रहता है। समाज सब चीज़ें देकर भी ऐसा कुछ नहीं दिखा पाता, जैसे कोई रुक्का लिखा दे। क़र्ज़ा देते समय रुक्का लिखा देते हैं। यानी रुपया दिया तो लिखा लिया कि सौ रुपया दिया, इसके ऊपर पाँच रुपए का ब्याज़ लगेगा। इस हिसाब से तुम मुझे वापस कर दोगे। किंतु समाज तो हमसे ऐसा कुछ लिखवाता ही नहीं है। हमें सबकुछ देता चला जाता है। यदि कोई व्यक्ति गंभीरता से सोचे तो उसे लगेगा कि वह वास्तव में समाज का क़र्ज़दार है।

कितनी अच्छी-अच्छी चीज़ें, अच्छे-अच्छे गुण हैं—ये सब हमें समाज से ही तो प्राप्त होते हैं। हमें समाज का क़र्ज़ चुकाना है, इस तरह का विचार करना चाहिए। हमारी भलाई समाज के साथ ही जुड़ी हुई है। अब यदि भला नहीं होगा तो समाज को उतना ही दुःख होगा। समाज की अवस्था गिरती चली जाएगी। इस प्रकार समाज का कार्य यदि करना है तो समाज के सुख के साथ अपने सुख का विचार करना है। इन दोनों का आपस में बड़ा संबंध है। इस संबंध को हमें अच्छी प्रकार समझना है। परंतु इस संबंध में एक बात ज़रूर है कि आपने समाज का ही विचार किया और व्यक्तिगत विचार बिल्कुल ही नहीं किया तो भी कठिनाई होगी, क्योंकि समाज एक ऐसी स्वाभिव्यक्ति की चीज़ है कि वह जो भी काम करता है, व्यक्तियों द्वारा ही करता है। अकेला समाज भी कुछ नहीं कर सकता।

समाज क्या है? समाज तो दिखाई नहीं देता। यह अमूर्त रूप में है। यह क्रियाशील होता है तो वास्तव में मनुष्यों द्वारा ही क्रियाशील होता है। यद्यपि समाज के सुख में ही व्यक्ति का सुख है, परंतु समाज व्यक्तियों द्वारा ही काम करेगा। जैसे घड़ी है। घड़ी की सुई की जो कुछ सार्थकता है, वह इसी बात में है कि घड़ी ठीक प्रकार से चले। किंतु क्या घड़ी का हम विचार कर सकते हैं, जिसमें सुई न हो, ऐसी कोई घड़ी जिसकी सुई

ठीक न हो। वह घड़ी किस काम की। अगर कोई सोचे कि इसमें सुई की क्या क़ीमत है? केवल घड़ी की क़ीमत है, सुई की कोई क़ीमत नहीं तो ऐसा नहीं है। घड़ी के हर एक पुर्ज़े की क़ीमत है। स्प्रिंग है, यदि हम समझें कि उसकी कोई क़ीमत नहीं है, उसे फेंक दो तो घड़ी काम नहीं करेगी। घड़ी का डायल भी ठीक होना चाहिए। सभी पुर्जे ठीक हों और घड़ी के साथ ठीक होने चाहिए। अलग-अलग किसी चीज़ की क़ीमत नहीं। मोटर के बारे में भी यही बात है कि मोटर की अलग-अलग चीज़ों की कोई क़ीमत नहीं। मोटर की हर चीज़ अलग होने से निरर्थक हो जाएगी। लेकिन जब तक उन्हें जोड़ा न जाए, जब तक मोटर ठीक नहीं चलेगी। वह तभी चलेगी जब उसके सभी पुर्ज़े ठीक होने के साथ-साथ मोटर से जोड़े जाएँ। प्रत्येक वस्तु में परस्पर पूरकता का संबंध रहता है। व्यक्ति और समाज का भी ठीक वैसा ही संबंध है।

दोनों का विचार कर चलना चाहिए, अन्यथा सबकुछ अधूरा रह जाएगा। पूर्ण रूप से विकसित न हुआ तो काम नहीं चलेगा। यदि कोई केवल मोटर का ही विचार करे और उसके पुर्ज़े का विचार न करें तो भी वह अधूरी ही रहेगी और काम नहीं कर सकेगी। जब व्यक्ति और समाज दोनों को सुख प्राप्त होगा, तभी सबकुछ पूर्णता को प्राप्त हो सकेगा। कुछ लोग केवल व्यक्ति का ही विचार करते हैं, समाज का नहीं करते। कुछ समाज का ही विचार करते हैं, व्यक्ति का नहीं करते। हमें एक ही पक्ष का विचार नहीं करना चाहिए? हमें दोनों पक्षों का विचार कर चलना चाहिए। जो लोग सिर्फ़ व्यक्ति का ही विचार करते हैं, वे यह नहीं सोचते कि मनुष्य की स्वतंत्रता क्यों है, किसके लिए है? व्यक्ति का संबंध किसके लिए है। वे यह नहीं सोचते कि जीवन में कौन सी दिशा होनी चाहिए। इस प्रकार से दो बातों का एक प्रकार से एक्सट्रीम विचार लेकर चलने वाले हज़ारों लोग सृष्टि में दिखाई देते हैं। किंतु हमारे यहाँ पर जो कुछ विचार हुआ वह यह कि व्यक्ति को समाज से अलग नहीं किया जा सकता और न ही बिना व्यक्तियों के समाज जैसी कोई चीज़ है। दोनों का हमें सामूहिक रूप से विचार करना पड़ता है। दोनों का विकास कैसे हो, इसकी चिंता लेकर हम चलते हैं।

इसी तरह व्यक्ति के अंदर भी हमने विचार किया कि व्यक्ति का जीवन केवल भौतिक दृष्टि से, शारीरिक दृष्टि से है, हमें उसका ही विचार करना चाहिए, ऐसा नहीं है। उसकी मानसिक, बौद्धिक, आर्थिक, आध्यात्मिक सब प्रकार की उन्नति का भी विचार करके चलना पड़ता है। इस प्रकार हमें सामूहिक विचार करना पड़ता है। यह पूर्णता जहाँ होगी, वहाँ ही हमारा वैभव हो सकता है। जहाँ यह पूर्णता नहीं, जहाँ हमारा समाज दुनिया में बदनाम हो गया है, हमारा समाज ग़ुलाम हो गया है, वहाँ हमें वैभव प्राप्त नहीं हो सकता।

जैसे स्वामी विवेकानंदजी सारी दुनिया में घूम आए और दुनिया में बड़ा नाम

कमाया। लोगों ने कहा कि देखा, इतना बड़ा, इतना ऊँचा विद्वान इनके पास है। लेकिन इतना होते हुए भी समाज के प्रतिनिधि के नाते से वे गए। भारत के प्रति लोगों की बड़ी नीची दृष्टि रही। भारत कई सौ वर्षों तक ग़ुलाम था। यदि समाज का बड़ा नाम हो जाए और समाज में रहनेवाले जितने भी व्यक्ति हैं, उन्हें किसी प्रकार का सुख प्राप्त न हो, तो वह बड़ा नाम छोटा हो जाएगा। उससे कोई अर्थ नहीं निकलेगा। वह केवल दिखावे की चीज़ हो जाएगी ऊपर से। वास्तविकता उसके अंदर बिल्कुल नहीं होगी। अगर हम उसमें वास्तविकता चाहते हैं तो वह तभी रहेगी जब व्यक्ति और समाज का जो अभिन्नता का संबंध है, उसके आधार पर ही दोनों का विकास हो सके।

जब हम इस नाते से विचार करते हैं तो व्यक्ति के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन और इसी प्रकार से व्यक्ति और समष्टि को सुखी बनाने तथा उनका विकास करने की दृष्टि से। तब हम व्यक्तियों के समूह और अनेक प्रकार की संस्थाओं को निर्मित करते हैं। राज्य भी इनमें से ही एक संस्था है। हमारे यहाँ पर तो और भी संस्थाएँ निर्माण हुई हैं, जैसे हमारे यहाँ कुटुंब की पद्धति है, पश्चिम में कुटुंब जैसी कोई चीज़ नहीं है। अपने यहाँ तो विवाह होने के बाद पिता-पुत्र साथ-साथ रहते हैं, लेकिन पश्चिम में विवाह हुआ कि पुत्र और पुत्रवधू अलग हो जाते हैं। फिर उनका पिता के साथ कोई संबंध नहीं रहता। अपने यहाँ यह चीज़ नहीं है। कुटुंब की पद्धति है, जाति की पद्धति है, वर्णों की पुरानी पद्धति है। अपने यहाँ पंचायत की पद्धति है और अनेक प्रकार की संस्थाएँ हैं। ये संस्थाएँ और समाज वास्तव में साधर्म्य का निर्वाह करने के लिए तथा समन्वय को प्रतिस्थापित करने के लिए निर्मित होती रहती हैं। अपने इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए समाज इस प्रकार की अनेक संस्थाओं का निर्माण करता है।

पश्चिम में भी कुछ संस्थाएँ ऐसी हैं। पारस्परिक संबंध की दृष्टि से जितना विचार किया जाना चाहिए था। शायद उसमें उतना नहीं किया जाता। जैसे राज्य की संस्था है। यह राज्य की संस्था सारी दुनिया में है। आज भी है, पहले भी थी। पश्चिम ने भी राज्य संस्था निर्माण की है। बाक़ी भी कुछ संस्थाएँ हैं, जैसे उपासना पद्धति की दृष्टि से विभिन्न उपासना पद्धति को मानने वाले संप्रदाय के लोग इकट्ठा हो जाते हैं। वह भी उनकी एक संस्था है। जैसे ईसाइयों में चर्च में भी अनेक चर्च हैं। कोई प्रोटेस्टेंट चर्च है, कोई जेसुइस्ट है और बाक़ी के मेथोडिस्ट हैं और अनेक छोटे-छोटे भेद हैं। उन भेदों को लेकर भी सेक्टर्स निर्माण हो गए हैं। इस प्रकार की उपासना पद्धति को मानने वाले कुछ लोग हैं। एक प्रकार की राजीतिक विचारधारा को लेकर चलने वाले कुछ लोग हैं, इस प्रकार के राजनीतिक स्वार्थों को लेकर पूर्ण करने का प्रयत्न करनेवाले कुछ लोग हैं। राजनीतिक पार्टी के रूप में उनका निर्माण हो जाता है। आर्थिक दृष्टि से भी कहीं पर मज़दूरों का संगठन खड़ा है, कहीं पर रुपया लगाने वाले पूँजीपतियों ने भी अपने संगठन

बना रखे हैं। शिक्षा के क्षेत्र में यूनिवर्सिटियाँ चलती हैं। साहित्यिकों के क्लब निर्माण होते हैं। इस प्रकार के अनेक संगठन पश्चिम में भी निर्माण हुए हैं। आज भी हो रहे हैं, किंतु आज भी उनकी समझ में यह नहीं आया कि इन सब संगठनों का पारस्परिक संबंध क्या होना चाहिए?

ये संगठन वास्तव में किस एक उद्‌देश्य की पूर्ति के लिए बनाए गए हैं, इन संगठनों का अंतिम लक्ष्य क्या होना चाहिए? इस बात का शायद वे ठीक प्रकार से अनुमान नहीं लगा पाए हैं। हमारे यहाँ भी पहले इस प्रकार के अनेक संगठन चले थे। आज भी उनके कुछ अवशेष विद्यमान हैं। उनमें से आज बहुत कुछ ध्वंस हो गए होंगे। कुटुंब का संगठन है, जाति का संगठन है, वर्ग का संगठन है, उपासना पद्धति के नाते संगठन है। अपने यहाँ पर चले। ये सभी प्रकार के संगठन हैं। बाक़ी की भी बहुत चीज़ें रहीं। वास्तव में अनेक रूप हैं। समाज सभी संगठनों द्वारा अपना कार्य पूरा करता है। व्यक्ति भी इन संगठनों के द्वारा अपने उद्‌देश्य को प्राप्त करते हैं। प्रत्येक देश में इस तरह की अपनी-अपनी पद्धति होती है।

हमारे देश के संगठनों में परस्पर समन्वय था, सामंजस्य था। सभी लोग सामंजस्य के ऊपर ठीक-ठीक प्रकार से चलते थे। वे समाज के लिए पूरक बनकर चलते थे। यदि वे आज नहीं चलते हैं तो इसके पीछे कारण सिर्फ़ इतना है कि उनके पीछे का सामंजस्य समाप्त हो गया है। किंतु इसके पीछे एक तर्क है जिसे गंभीरता से सोचेंगे तो शायद समझ में आ जाएगा कि यह जो अपने जीवन की पूर्णता की कल्पना है, उन कल्पनाओं का आधार लेकर है। हमने इतने प्रकार के भिन्न-भिन्न साधन अपने उद्‌देश्यों को प्राप्त करने के लिए ही निर्माण किए हैं और प्रत्येक संगठन के पीछे यह जो पूर्णता की कल्पना है, यह पूर्णता कल्पना में निहित है। यह प्रत्येक प्रकार के संगठनों के पीछे हमारी जो जीवन की मूल कल्पना है, उनका सबका विवेचन यहाँ पर करना नहीं, सिर्फ़ इतना मानकर चलते हैं कि हमारे यहाँ पर भी अनेक प्रकार के ऐसे संगठन हैं, जिनकी स्थिति अब जीवंत नहीं है, बल्कि वे एक प्रकार से निष्प्राण होकर चल रहे हैं। फिर सजीव हों या न हों, उसके संबंध में अनेक मत हो सकते हैं, किंतु यह बात सत्य है कि अपने यहाँ मूल भावना पर विचार करके व्यक्ति और समाज में क्या संबंध है, इसका विचार करके चलें और उसके साथ ही इस दृष्टि से चलाने का विचार करें।

—मई 27, 1961

□

34

संघ शिक्षा वर्ग, बौद्धिक वर्ग : लखनऊ

कल और परसों हम लोगों ने व्यक्ति और समाज—इन दोनों दृष्टियों से व्यक्ति की धारणा के लिए क्या-क्या आवश्यक है, यह विचार किया था। व्यक्ति को अपनी धारणा के लिए शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक—सभी प्रकार के सुख प्रकट हो सकें, तभी वह पूर्ण रूप से समाधान प्राप्त करता हुआ अपना विकास कर सकेगा। साथ ही हमने देखा कि व्यक्ति अपने इस विविध प्रकार से विकास के लिए स्वयं पूर्ण न होकर समाज के ऊपर अवलंबित रहता है। बिना समाज के, बिना दूसरों की सहायता के, बिना दूसरों को साथ लिये वह इनमें से किसी भी प्रकार की अपनी आवश्यकता को पूर्ण नहीं कर सकता।

व्यक्ति जो समाज के ऊपर निर्भर रहता है, इस नाते से और साथ ही व्यक्ति जो अपना स्वयं का विकास करना चाहता है, इस नाते से सामान्यतया दो विचार लोगों के सामने आते हैं। व्यक्ति के विकास को ही प्रमुख स्थान देते हुए कुछ लोग केवल व्यक्ति का विचार करके उसके पोषक के रूप में ही समाज में आगे आएँ। दूसरे लोग इस बात का विचार करते हैं कि व्यक्ति अंत में समाज का एक अंग है, समाज के ऊपर ही निर्भर करता है और इसलिए यदि समाज के विकास की चिंता हो तो व्यक्ति का विकास स्वतः हो जाएगा। यहाँ तक कि व्यक्ति को और दुर्लक्ष्य करके भी हमने समाज का ही विचार किया तो सबकुछ ठीक हो जाएगा। इसलिए वह केवल समाज मात्र का विचार करते हैं। दोनों ही विचार किसी तरह सत्य नहीं हैं।

दोनों ही विचार केवल एक ही पक्ष को लेकर चलते हैं, इसलिए दोनों से पूर्ण उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती। एक से समाज की ओर दुर्लक्ष्य हो जाता है और दूसरे से व्यक्ति की ओर दुर्लक्ष्य होने के कारण जिस व्यक्ति को सुख और विकास के उद्देश्य

से प्रयत्न प्रारंभ होते हैं, उसी व्यक्ति का एक प्रकार से विनाश, उस व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण, उस व्यक्ति की शक्तियों का सब प्रकार से कुंठित होना, यह उसको दिखाई देता है तो इस दृष्टि से ऐसा कोई मार्ग सोचना पड़ता है, जिसमें दोनों का समन्वय हो सके। जिसमें व्यक्ति विकास करते हुए समाज की आवश्यकता को भी पूर्ण कर सके, जिसके परिणामस्वरूप समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण वह स्वत: और बाक़ी के भी जितने व्यक्ति हैं, वे भी योग्य वातावरण प्राप्त कर सकें।

इस नाते से अनेक संस्थाओं का जन्म होता है। हमारे यहाँ सभी प्रकार की कुछ संस्थाएँ आईं। राज्य की संस्था आई। रज्जू भैया ने अपना भाषण देते समय उस रोज़ बताया था कि आख़िर राज्य कब पैदा हुआ, पहले राज्य नहीं था, क्योंकि सब लोग अपने-अपने धर्म के आधार पर काम कर लेते थे। धर्म के आधार पर चलते थे, किंतु जब अधर्म आ गया और ऐसी स्थिति आ गई कि एक व्यक्ति दूसरे को सताने लगा, जिसके पास अधिक शक्ति थी, वह दुर्बल को कष्ट देने लगा, पीड़ा पहुँचाने लगा। बाक़ी के राग-द्वेष आदि उत्पन्न हो गए तो इसके कारण चारों ओर एक अव्यवस्था उत्पन्न हो गई। इस अव्यवस्था को ठीक करने की दृष्टि से राज्य का निर्माण हुआ, जिससे लोग ठीक प्रकार से चल सकें, दंड नीति आई, उससे राजा ने दुष्टों को दंड देना प्रारंभ किया और सज्जनों का संरक्षण कर अपनी ज़िम्मेदारी निभाई। इस प्रकार से वास्तव में सब लोग ठीक प्रकार से अपना-अपना काम कर सकें। दूसरे के मार्ग में किसी प्रकार से बाधा न हो और इसी नाते राजा आया और राज्य आया।

ऐसे ही दूसरी और संस्थाएँ हैं, जो वास्तव में इसी के आधार पर निर्मित हुईं। जैसे कि एक वर्ण-व्यवस्था का जन्म हुआ था, जिससे समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति ठीक-ठीक प्रकार से प्रयत्न कर सके, इस नाते वर्ण-व्यवस्था आई। समाज की अनेक प्रकार की आवश्यकताएँ होती हैं, समाज की कुछ बौद्धिक आवश्यकताएँ होती हैं, ज्ञान की आवश्यकता होती है। वह ज्ञान यदि समाज को प्राप्त न हो, उसकी बुद्धि-विवेक ठीक ठिकाने पर न रहे, समाज में शिक्षा आदि का संस्कार न प्राप्त हो सके तो समाज ठीक प्रकार से काम न कर सकेगा। उसके नाते से कुछ ऐसे लोगों की आवश्यकता होती है, जो इस प्रकार का काम कर सकें। इसी प्रकार से समाज की रक्षा करने की दृष्टि से कुछ लोगों की आवश्यकता समझी गई, क्योंकि समाज के अंदर भी कुछ दुष्ट लोग होते हैं, चोर हैं, डाकू हैं, बाक़ी के लोग हैं—इन लोगों से भी रक्षा करनी पड़ती है। समाज की जीविका की भी व्यवस्था करनी पड़ती है। खाने-पीने की सारी चीज़ें पैदा करनी पड़ती हैं। समाज में कुछ लोगों को खाते-पीते सबकुछ करते हुए, उन्हें यथेष्ट रूप से अवकाश प्राप्त हो सके, जिससे वे चिंतन कर सकें, विचार कर सकें, इसके लिए भी कुछ आवश्यकता होती है। इस नाते से लोगों के अंदर ज्ञान की

वृद्धि की दृष्टि से, लोगों में संरक्षण की दृष्टि से, लोगों के भरण-पोषण की दृष्टि से लोगों को यथेष्ट अवकाश प्राप्त हो सके, इन सब दृष्टियों से लोगों में भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्गों की रचना करनी पड़ती है। लोगों का इस प्रकार से निर्माण करके उन लोगों को ज़िम्मेदारी सौंपनी पड़ती है।

सबको एक ही प्रकार की ज़िम्मेदारी सौंपने से काम नहीं चलता। जैसे यहाँ पर भी अपना एक वर्ग चल रहा है। इस वर्ग में भिन्न-भिन्न विभाग हैं। हर एक विभाग के लोगों के ऊपर कुछ ज़िम्मेदारी सौंपी जाती है, यदि ये सारी जिम्मेदारियाँ बँटी हुई न हों और सब के सब लोग सभी कुछ करने को तैयार हो जाएँ, तो शायद अपना काम नहीं चल सकेगा। वह ज़िम्मेदारी सब प्रकार से अपने ऊपर आ जाती है। जैसे कि भोजन बनाने का काम है, भोजन बनाने वाले बनाते हैं और भोजन बनाकर हमें ठीक प्रकार से भोजन देते हैं। इसलिए हम निश्चिंत होकर अपने विविध कार्य करते रहते हैं। यदि ये भोजन हमें ठीक प्रकार से न दें तो शायद हम अपना बाक़ी का कार्यक्रम ठीक तरह न कर सकेंगे। हमारे यहाँ गण प्रमुख हैं, वे हमें ठीक-ठीक शिक्षा देते हैं। कल्पना कीजिए कि यदि सब गण प्रमुखों की व्यवस्था न हो तो हम अपने स्थान से यहाँ शिक्षा लेने आएँगे? कितनी भी हमने अपने मन के अंदर उत्कृष्ट इच्छा रखी कि हमें कुछ शिक्षा प्राप्त होनी चाहिए, किंतु यदि शिक्षा देनेवाले लोग यहाँ न रहें तो फिर अपना किसी भी प्रकार से काम न चल सकेगा। इतना ही नहीं थोड़ा-बहुत रक्षकों की भी व्यवस्था करनी पड़ती है। हम लोग तो यहाँ आराम के साथ बैठे हुए हैं। अपना वस्ति गृह ख़ाली पड़ा हुआ है। वहाँ हमारे कमरे में सामान रखा है, गणवेश रखा है। यदि हम उसकी कोई सुरक्षा व्यवस्था न करें, वहाँ पर कोई भी चिंता करनेवाला न हो और हम सबकुछ छोड़कर यहाँ आ बैठें तो कभी बड़ी कठिनाई आ जाएगी। जब लौट कर जाएँगे तो पता चलेगा कि कोई निकर उठाकर ले गया, कोई पेटी उठाकर ले गया। जब हम संघ स्थान पर जाने के लिए तैयार हो रहे होंगे, तब यदि निकर न मिला, पेटी न मिली तो बड़ी कठिनाई हो जाएगी। हमारा सामान हमारे ही स्थान पर रहे, इसके लिए व्यवस्था करनी पड़ती है। इसी प्रकार से और भी चीज़ें आती हैं।

कोई बीमार हो जाता है तो जो भी व्यवस्था है, उसके लिए कुछ-न-कुछ विधान करने ही पड़ते हैं। ये जो सारे विभाग होते हैं, वास्तव में इन सब विभागों के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति होती है। साथ ही संपूर्ण समाज की भी आवश्यकता की पूर्ति स्वतः होती चली जाती है। इस नाते से वास्तव में अपने यहाँ प्राचीन काल से जो वर्ण व्यवस्था चली आ रही थी, वह व्यवस्था इसी आधार पर निर्मित हुई थी कि जिसके द्वारा अपने गुणकर्मों के अनुसार लोग समाज की सेवा कर सकें। अपने-अपने गुणों व कर्मों के अनुसार जो कुछ भी भगवान् ने उन्हें दिया है, उसका अधिकाधिक

विकास करते हुए स्वयं का विकास कर सकें और समाज को दो क़दम आगे बढ़ाने के लिए खड़े हो सकें। यह एक विचार है, जिसको व्यावहारिक रूप देने के लिए अपने यहाँ पर वर्ण-व्यवस्था हुई थी।

उस वर्ण व्यवस्था के द्वारा जिस एक उद्देश्य को हम प्राप्त करना चाहते हैं उस उद्देश्य को बहुत ही सहज रूप में हम प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि इससे दोनों का एक समन्वय करके समाज और व्यक्ति दोनों अपने-अपने गुणों के अनुसार अधिकाधिक काम कर सकते हैं। अपने गुण के अनुसार अधिकाधिक विकास कर सकते हैं। व्यक्ति को इसमें जीवन का एक सामाजिक ध्येय प्राप्त हो जाता है, समाज की भी आवश्यकताएँ स्वतः पूरी हो जाती हैं, क्योंकि एक-दूसरे की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए हम यहाँ पर स्वतः प्रयत्न करते रहते हैं।

समाज की रक्षा की आवश्यकता है। एक पुरुष है, जिसके अंदर पराक्रम की भावना है, जिसके पास बल है, ऐसा जो व्यक्ति है, वह अंतर-बाह्य संकटों से समाज की रक्षा करता है, जिसके पास तपश्चर्या है, जिसके पास ज्ञान है, बुद्धि है, इस प्रकार के लोग समाज को ज्ञान देने के लिए सामने आ जाते हैं। जो लोग कला-कौशल जानते हैं, जिनके पास वाणिज्य व्यापार की बुद्धि है, जो कृषि और गोरक्षा में निष्णात हैं, इस प्रकार जो लोग समाज के भरण-पोषण की चिंता करते हैं और जो एक प्रकार का ऐसा वर्ग है, जो कुछ भी नहीं कर सकता। वे समाज की सेवा का ही कार्य करके समाज की आवश्यकता पूर्ति के लिए आते हैं, तो जिस-जिस में भगवान् के दिए हुए जो-जो भी गुण हैं या जिन-जिन शक्तियों को लेकर हम पैदा हुए हैं, उन-उन गुणों के साथ हम समाज के लिए अधिकाधिक उपयोगी हो सकें, एक-दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। इसी नाते यह व्यवस्था हमारे देश में प्राचीन काल से चली आती थी।

इसका एक अत्यंत ही वैज्ञानिक स्वरूप है, इसके अधिक विवरण में मैं नहीं जाता, किंतु यह वास्तव में इस प्रकार की व्यवस्था है, जिसके आधार पर हम लोग चलते रहे हैं। इस व्यवस्था के अंदर बहुत सी अच्छाई-बुराई लोग ढूँढ़ते होंगे। इसका आज का स्वरूप देखकर बहुत से लोग सोचते होंगे कि इस व्यवस्था को समाप्त कर देना चाहिए, क्योंकि इसके आधार पर अनेक भेद लोगों को दिखाई देते हैं, पर यदि हम ठीक से देखें तो देखेंगे कि व्यवस्था तो वास्तव में व्यवस्था ही रहती है। भेद ऐसी चीज़ है, जो दृष्टि के ऊपर निर्भर होती है और किसी भी आधार पर भेद पैदा किया जा सकता है। भेद को दबाया भी जा सकता है, आख़िर को भेद व्यवस्था समाप्त करने से भी भेद समाप्त नहीं होते। जब लोग ऐसा सोचते हैं कि किसी भी आधार पर भेद हो जाता है तो उस आधार को स्वतंत्र कर दे। अब उदाहरण के लिए अमरीका में देखें या आज अफ्रीका में देखें। वहाँ काले और गोरे के आधार पर एक बड़ा संघर्ष खड़ा हुआ है। अब इस काले-गोरे

को कैसे ख़त्म किया जाए? बाक़ी की व्यवस्थाओं को तो कोई कहेगा, तो ख़त्म कर देंगे। परंतु इस काले-गोरे को तो ख़त्म नहीं किया जा सकता, क्योंकि जब तक अपने अंदर से परिवर्तन नहीं होगा, मन का भाव नहीं बदलेगा। तब तक इस काले-गोरे को शायद बदल नहीं सकेंगे। ऐसा नहीं किया जा सकता कि जितने गोरे हैं, उनके मुँह पर कोलतार पोत दिया जाए, ताकि सबके सब काले हो जाएँ। यह झगड़ा ख़त्म हो जाए। या फिर कोई कहेगा कि जितने भी काले हैं, वे पाऊडर लगा-लगाकर गोरे हो जाएँ। आजकल बहुत से लोग प्रयत्न तो करते हैं, परंतु वे कितना प्रयत्न करेंगे? यह कठिन है। कहा तो यही है कि 'धोए हु ते काजर होए न सफ़ेद' कि कितना भी प्रयत्न किया तो वह सफ़ेद नहीं हो सकता। शायद ऊपर से थोड़ा-बहुत दिखाने के लिए हो सकता है कि वह सफ़ेदी लगाकर गोरा दिखने लगे, लेकिन यह गोरे-काले का भेद नहीं मिट सकता।

जहाँ पर जो लोग झगड़ा करना चाहते हैं तो झगड़ा जो इस प्रकार की बाह्य चीज़ें होती हैं, उन बाह्य चीज़ों के कारण झगड़ा नहीं होता। झगड़ा तो अंतर की ख़राबी के कारण होता है। अंग्रेज़ी का एक लेखक 'जॉनाथन स्विफ्ट' (Jonathan Swift) है, उसने गुलीवर्स ट्रेवल नाम की पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक में गुलीवर ने जहाँ की यात्रा की, वहाँ के लोग बहुत छोटे-छोटे थे यानी कुछ इंचों के ही थे। इसी प्रकार एक स्थान का वर्णन करते हुए उसने लिखा कि एक जगह दो देशों के बीच लड़ाई शुरू हो गई। लड़ाई इस बात पर थी कि अंडे को यों रखकर फोड़ना चाहिए या यों रखकर फोड़ना चाहिए।

वास्तव में कई बार लड़ाइयाँ छोटी-सी बात को ही लेकर हो जाती हैं। लड़ने वाले हमेशा कोई-न-कोई आधार ढूँढ़ ही लेते हैं। कोई मुर्गों को लड़ा देता है। अगर यह सोच लिया जाए कि दुनिया के सभी मुर्गे हमें दे दिए जाएँ, तो लड़ाई ख़त्म हो जाएगी। ऐसी बात नहीं है। लड़ने वाले मुर्गों को इसलिए लड़ाते हैं कि उन्हें आनंद प्राप्त होता है। कहीं पर मेढों को लड़ाया जाता है, बैलों को लड़ाया जाता है, कहीं पहलवानों को लड़ाकर उनके ऊपर बाज़ी लगाई जाती है। देखने वाले भी शर्त लगाते हैं। अनेक चीज़ों पर शर्त लगाते हैं। उनका तो कोई आधार ही नहीं। आप अगर उनको सट्टा लगाने से रोकना चाहें और जिन चीज़ों पर वे सट्टा लगाते हैं, उन चीज़ों को हटाकर आप सोचें कि सट्टा ख़त्म हो जाएगा तो यह नहीं हो सकता, यहाँ तक कि आप आश्चर्य करेंगे कि सट्टा, पानी गिरेगा या नहीं गिरेगा, इस पर तो लगता ही है, बाक़ी की चीज़ों पर भी लगाते हैं। उन चीज़ों को हटाकर आज सोचें कि सट्टा ख़त्म हो जाएगा तो यह नहीं हो सकता। अगर सामने से आनेवाला व्यक्ति है तो वह पहले दाएँ पैर का जूता उतारेगा कि बाएँ पैर का जूता, इस बात पर भी सट्टा लगा दिया जाता है। अगर कोई कहे कि जूते पहनना ही बंद कर दो, तो भी सट्टा लगाना बंद नहीं होगा। वे किसी दूसरी चीज़ पर लगाना शुरू कर देंगे।

असली चीज़ क्या है? वह है व्यवस्था। व्यवस्था में दोष नहीं है। दोष तो लोगों की प्रवृत्ति में होता है। वास्तविकता यह है कि सारी जो व्यवस्थाएँ हैं, उन सबका विचार हमें करना पड़ता है। उसके भी दो स्वरूप हैं। एक तो उसका बाह्य रूप होता है, एक उसके अंदर की प्रवृत्ति होती है। यह बाह्य स्वरूप जितना भी है, इस बाह्य रूप के कारण वह अच्छी हो सकती है। लेकिन हो सकता है कि समय के साथ उसमें परिवर्तन भी होते हों, किंतु वह जितनी बाहरी चीज़ है, उस बाहरी चीज़ से कोई भी चीज़ टिकती नहीं है, टिकती तो वह अंदर की चीज़ से है। बाहरी चीज़ों का उपयोग होता है। बाहरी चीज़ों की आवश्यकता होती है। परंतु असली जो चीज़ है, वह अंदर की चीज़ है और यदि अंदर की चीज़ नहीं रही, उसके पीछे का तत्त्व नहीं रहा, उसके पीछे का चैतन्य नहीं रहा, उसके पीछे का प्राण नहीं रहा तो वह सबका सब समाप्त हो जाएगा।

ये जितनी भी व्यवस्थाएँ होती हैं, ये व्यवस्थाएँ कार्य चलाने की दृष्टि से आवश्यक हुआ करती हैं। हर एक जगह के ऊपर होती हैं, कोई भी काम होगा तो उसके लिए कुछ-न-कुछ व थोड़ी-बहुत व्यवस्था करनी पड़ती है और उस व्यवस्था की कुछ अपनी भी उपादेयता होती है। किंतु केवल व्यवस्था मात्र से भी वह ठीक नहीं चलती, जब तक कि अंदर की चीज़ नहीं होगी। इसीलिए विचार तो वास्तव में अंदर की चीज़ का करना पड़ता है। केवल मोटर बना दी, इतना पर्याप्त नहीं है। मोटर बनाने के साथ ही पेट्रोल आदि की व्यवस्था भी ज़रूरी होती है। कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि मोटर नहीं चलती। एक बार ऐसा ही हुआ। हम मोटर में जा रहे थे। पाँच-छह मील जाने के बाद मोटर अचानक रुक गई। हमारे सामने प्रश्न आया कि यह अचानक रुक क्यों गई? एक सज्जन ने कहा कि यह जो ड्राइवर है, यह बहुत अच्छा है। ड्राइवर होने के साथ-साथ यह मेकैनिक भी है। यह सबकुछ ठीक कर देगा। उसने बोनट खोलकर मोटर की हर चीज़ चेक की, कहीं भी ख़राबी नहीं मिली। अब वह कहने लगा कि मोटर को क्या हो गया? मैंने उससे कहा कि वह पेट्रोल चेक कर ले। तो उसने कहा कि पेट्रोल तो रात को ही भरवाया है, वह कैसे ख़त्म हो सकता है। बाक़ी चीज़ें वह फिर से चेक करने लगा। लेकिन पेट्रोल ही चेक नहीं कर रहा था। मैंने अचानक ही पेट्रोल की टंकी का ढक्कन खोलकर देखा और उससे भी कहा कि इसके अंदर झाँके। उसने लकड़ी का फुटा उसके अंदर डालकर देखा तो पता चला कि पेट्रोल ही ग़ायब है। उसने अंदाज़ लगाया कि जितना पेट्रोल डलवाया था, उसके हिसाब से गाड़ी इतने मील चलनी चाहिए थी। लेकिन पता चला कि गाड़ी तो और भी ज़्यादा मील चल चुकी है। अब पेट्रोल ख़त्म हो गया तो गाड़ी चल नहीं सकती। इसी प्रकार बाक़ी की चीज़ों को अगर इकट्ठा कर लिया जाए, तो काम नहीं चलता। उसके लिए यह भी विचार आवश्यक है कि गाड़ी में पेट्रोल भी है या नहीं।

कार्य के लिए सारी व्यवस्था का होना ज़रूरी है। व्यवस्थाओं को दोष देने से काम नहीं चलता। मोटर में पेट्रोल है और इंजन ठीक नहीं है तो भी वह नहीं चल सकती। इसलिए इंजन को ठीक रखना होगा। यानी सभी प्रकार की अव्यवस्थाओं को दूर करके व्यवस्था लानी होगी। लोगों ने कहा कि व्यवस्था ठीक थी तो फिर हिंदुस्तान का पतन क्यों हुआ? हिंदुस्तान में बुराइयाँ क्यों पैदा हो गईं? तो प्रश्न पैदा होता है कि बुराई कहाँ से आई? जैसे कि मनुष्य का शरीर देखिए तो शरीर को जानना पड़ेगा। भगवान् ने और प्रकृति ने जितना भी शायद बुद्धि हो सकती है, उसका विचार करके सब दृष्टियों से यदि कोई पूर्ण यंत्र हो सकता है, तो वह मनुष्य बनाया है। शरीर की जितनी भी आवश्यकता हो सकती है उसको पूरा कर सके, खाने की दृष्टि से, पीने की दृष्टि से अर्थात् एक-एक आवश्यकता को पूरी करने की दृष्टि से सारी चीज़ मनुष्य के अंदर है। बहुत ज़्यादा गरमी हो गई तो पसीने के द्वारा बाक़ी की चीज़ें निकल जाती हैं या और भी कोई आवश्यकता होती है।

संपूर्ण पूर्णता एक प्रकार से विद्यमान है, फिर शरीर क्षीण क्यों होने लग गया है? लोग यह प्रश्न पूछ सकते हैं। कारण यह है कि सबकुछ पूर्ण होने के बाद भी इसको चलाने वाली जो अंदर की ताक़त है, वह अलग से होती है। यह शरीर होगा ऊपर से, सबकुछ पूर्ण होगा ऊपर से, केवल पूर्ण बनाने मात्र से ही काम नहीं चलता। मान लीजिए, कोई विद्यालय चलाना है, ऊपर से ख़ूब अच्छी कक्षाएँ चला दो, लेबोरेटरी बना दो, प्रिंसिपल का दफ़्तर भी बना दिया गया, परंतु इतना होने मात्र से तो वह स्कूल नहीं चल पाएगा। इस स्कूल को चलाने के लिए विद्यार्थी लगेंगे और अध्यापक भी लगेंगे। विद्यार्थी और अध्यापक ही नहीं, विद्यार्थियों और अध्यापकों में इस बात की इच्छा भी रहेगी कि छात्र वहाँ जाकर कुछ सीखें और अध्यापक वहाँ जाकर कुछ सिखाएँ। अगर इतनी इच्छा नहीं रही, तो बाक़ी की सब व्यवस्था करने के बाद भी काम नहीं चलेगा। यानी वहाँ पर विद्यार्थी हो सकते हैं, अध्यापक हो सकते हैं, स्कूल के कमरे भी हो सकते हैं, सबकुछ हो सकता है; बाहर की अन्य चीज़ें ठीक प्रकार से रह सकती हैं, पर सबकुछ होने के बाद भी यदि एक मूल चीज़ ही ठीक न हो तो काम नहीं चल सकता। मन की इच्छा ही नहीं है, साथ ही शायद वहाँ पर जो विद्यार्थी और अध्यापक बैठे हैं, उनमें बुद्धि न हो, विवेक न हो, तो भी काम नहीं चलेगा। इच्छा न हो, श्रद्धा न हो, अपने सामने क्या करना है—इसका थोड़ा-बहुत ज्ञान न हो, तो वास्तव में ये सब चीज़ें नहीं चल सकेंगी। यदि केवल बाहर से ही सब मिला-जुलाकर रख दिया, इससे काम नहीं चलता। तो हमें तो उसके पीछे की वास्तविक ताक़त का विचार करना पड़ेगा। बाहर की चीज़ों से काम नहीं चलता, जब तक इस ताक़त का विचार नहीं करते हैं, जिसके द्वारा सबकुछ चलता है, जिससे हमारी धारणा होती है, उस धर्म के पीछे भी कई चीज़ें आकर

खड़ी हो जाती हैं। एक तो बाहर की यह जो व्यवस्था है, वह आती है और उस व्यवस्था के साथ-साथ उसके पीछे की यह भावना कि जिससे वह चैतन्य जाग्रत् होता है, जिससे उस व्यवस्था का पालन करने की वृत्ति पैदा होती है, वह वृत्ति भी एक नितांत आवश्यक चीज़ होती है, वह होनी चाहिए।

कल हमने देखा था कि यह हमारी वृत्ति कैसे बढ़े? इसका विचार करते हुए हमने जाना कि मनुष्य अपने सारे जीवन के लिए अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए समाज के ऊपर निर्भर रहता है। अभी एक ऐसा चित्र है कि उसके कारण प्रत्येक व्यक्ति के अंदर एक निराश-सी छा जाती है। मनुष्य अपने को बिल्कुल असहाय अनुभव करने लगता है। मैं तो कुछ कर नहीं सकता, एक क़दम चल नहीं सकता, मैं कितने लोगों के ऊपर निर्भर हूँ, और हज़ारों-करोड़ों जो लोग हैं, उनके ऊपर मेरा जीवन निर्भर है। खाना-पीना, उठना-बैठना और मेरा आनंद भी इतने लोगों पर निर्भर है। और इन सबके बिना ऐसा लगने लगता है कि मेरी कोई हस्ती नहीं, मुझसे कुछ हो ही नहीं सकता। उसमें एक प्रकार की परावलंबन की भावना पैदा हो जाती है। दूसरों के ऊपर मैं अवलंबित हूँ—यह वृत्ति साधारण रूप से पैदा होती है।

अब हमने यहाँ इस बात का विचार किया कि यह परावलंबन हटना चाहिए, क्योंकि परावलंबन से हमारे सर के ऊपर एक बहुत बड़ा बोझा पड़ जाता है। हमारी अपनी ताक़त कुछ है ही नहीं—यह एक भाव मन में पैदा हो जाता है। परावलंबन में व्यक्ति का भी विकास नहीं होता। परावलंबन का जहाँ पर भाव आया, उसमें यह हो जाएगा कि वह दूसरों के सामने हाथ पसारेगा, वह इस प्रकार से समझकर चलने लगेगा कि वह अपनी उस शक्ति का न तो किसी प्रकार का विकास कर सकता है, न ज्ञान ही प्राप्त कर सकता है। तो व्यक्ति का यह परावलंबन कैसे दूर हो, इस दृष्टि से इसमें थोड़ा दूसरे ढंग से विचार करना होता है। जैसे कहेंगे कि हम दूसरों पर अवलंबित हैं, समाज के ऊपर अवलंबित हैं अथवा समाज का एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के ऊपर अवलंबित है, यानी परस्वावलंबन है। परावलंबन हम छोड़ दें तो इसे परस्परावलंबन कहें कि हम एक-दूसरे के ऊपर अवलंबित हैं।

हमारे यहाँ जो विचार रखा, उन्होंने कहा कि नहीं हम परस्परावलंबी ही नहीं तो हम परस्पर-अनुकूल हैं, यह एक विचार सामने रखा। दोनों में अब थोड़ा सा कुछ अंतर देखिए, जैसे पिता और पुत्र हैं तो पुत्र पिता के ऊपर अवलंबित है, यह बात सत्य है। पुत्र का सुख पिता के ऊपर निर्भर करता है। किंतु यह बात भी सत्य है कि पिता यदि पुत्र के अनुकूल हो और पुत्र पिता के अनुकूल हो, तो हम देखेंगे कि दोनों सुखी हो जाएँगे। तो परस्परानुकूलता वास्तव में हमारे जीवन का आधार बनकर खड़ी है। परस्परानुकूलता का यदि हमने विचार किया और लोगों के अंदर यह परस्परानुकूलता पैदा हुई कि एक-

दूसरे के अनुकूल रहकर हम चलें, इसका विचार जहाँ पर पैदा हो जाएगा, वहाँ पर हम देखेंगे कि प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता का विचार लेकर हम चलते हैं। वहाँ व्यक्ति स्वतंत्र है। स्वतंत्र इस बात के लिए है कि दूसरे के लिए अनुकूल कैसे होना। यहाँ फिर धर्म आकर खड़ा हो जाता है। धर्म है कि वह अपने जीवन में दूसरे के प्रति एक अनुकूलता का भाव पैदा करे, दूसरे के लिए अनुकूल हो। दूसरे के ऊपर अवलंबित नहीं। अवलंबन में स्वार्थ है, अवलंबन में दीनता है, अपने को छोटा बनाने की प्रवृत्ति है, क्योंकि हम दूसरे के ऊपर निर्भर करते हैं, एक परतंत्रता का भाव है कि हम नि:सहाय से बैठे हैं कि कोई हमें खाने को दे देगा तो खा लेंगे, नहीं तो हम क्या करेंगे? ऐसा वहाँ पर विचार नहीं है तो परस्परानुकूलता में हम दूसरों के अनुकूल हों, इसमें एक स्वतंत्रता है। इसमें पुरुषार्थ प्रकट होता है, इसमें हम अपना कुछ पराक्रम दिखा सकते हैं और इस प्रकार से हमारे पास जो कुछ शक्तियाँ हैं, उन शक्तियों का हम अधिकाधिक उपयोग करके दूसरे का भला कर सकते हैं।

हमारे जीवन का यह जो दर्शन है, इस जीवन दर्शन का आधार यदि कहीं है, तो धर्म है। वास्तव में धर्म कितना भी कठिन होगा, परंतु उस धर्म के विषय में एक बात हमारे यहाँ मूलत: बताई गई कि महाभारत में एक स्थान पर कहा गया है कि धर्म कुछ भी हो, परंतु एक सामान्य भाव है कि दूसरे को पीड़ा पहुँचाना अधर्म है। दूसरे को आनंद पहुँचाना धर्म है। यहीं से प्रारंभ हुआ कि दूसरे को आनंद पहुँचाना, दूसरे को सुखी करना, अब दूसरे को सुखी करने का विचार लेकर यदि हम चले तो निश्चित है कि एक-दूसरे को सुखी करते-करते सब सुखी होते हैं, क्योंकि यदि हर एक दूसरे को सुखी करने का विचार करेगा, तो सब सुखी हो जाएँगे।

जैसे हम कभी खो-खो का खेल खेलते हैं तो इस खेल में यदि हमने विचार किया कि चलो हम दूसरों को मौक़ा दें, तो हम कुछ खो देंगे। वह दूसरे को खेलने का मौक़ा देगा, यहाँ तक कि सबको खेलने का मौक़ा मिल जाएगा, अगर वहाँ पर यही सोचकर चलें कि कोई मुझे खो दे दे और खो मिलने के बाद सोचा कि ख़ूब खेल लेने के बाद मन भर जाएगा तथा थक जाएँगे, तब हम किसी दूसरे को खो देने का विचार करेंगे, तब तो फिर शायद न बाक़ी के लोगों को आनंद आएगा, न उसे ही आनंद आएगा, क्योंकि एक बार खो में थकने के बाद यह जैसे ही बैठ गया और फिर कहीं दूसरे ने खो दे दी तो इससे उठा भी नहीं जाएगा तो इसमें खो देने में जैसे कि एक-दूसरे को खो देकर सभी को उस खेल में आनंद लेने का अवसर प्रदान करते हैं, वैसे ही हम एक-दूसरे के लिए जब प्रयत्न करते हैं तो वहाँ पर हम सबको सुखी कर देते हैं। सबकी आवश्यकताएँ पूर्ण कर देते हैं तथा उसमें स्वत: भी अपने जीवन का अधिक-से-अधिक विकास करते चले जाते हैं।

तो यह एक-दूसरे का काम करना अब जीवन में देखेंगे, तो पता चलता है कि जिसको हमने एक परस्परावलंबन की बात कही थी, वास्तव में तो जीवन के अंदर यह एक-दूसरे का काम करना—यही चलता रहता, प्रकृति में यही चीज़ है। सभी एक-दूसरे के लिए प्रयत्न करते चले जाते हैं। यहाँ तक कि संपूर्ण सृष्टि इसी प्रकार से चलती रहती है। वनस्पति में यदि देखें तो उसको अपने जीवन के लिए कार्बन डाइ ऑक्साइड की आवश्यकता होती हैं, जो मनुष्य से प्राप्त होती हैं। मनुष्य को ऑक्सीजन की ज़रूरत होती है, वनस्पति से प्राप्त होती है। एक-दूसरे का और एक प्रकार से यह सृष्टि का चक्र चलता रहता है। एक की आवश्यकता को दूसरा पूर्ण करता है।

वैसे ही मनुष्य समाज चलता है। जहाँ एक की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए दूसरा अधिकाधिक प्रयत्नशील होता चला जाएगा तो यह जो एक भाव है, दूसरे के लिए सहयोग, जिसके ऊपर हमने अपने संपूर्ण जीवन की व्यवस्था को गढ़ा है। हमारा यह जो संपूर्ण वर्ण धर्म चलता है। यह भी अपना-अपना विचार करके नहीं चलता। अपना-अपना विचार करके यदि चलेगा तो वह व्यवस्था नहीं चल पाएगी। यहाँ पर तो एक-दूसरे का विचार करना है। ब्राह्मण अपने ऊपर इस बात की ज़िम्मेदारी मानकर चलता है कि वही वास्तव में ब्राह्मण है, जो ब्राह्मण धर्म का पालन करता है। तो मैं संपूर्ण समाज को ठीक-ठीक जगह रखूँगा। उसे उचित संस्कार दे सकूँगा। जो इस बात की ज़िम्मेदारी मानकर चलेगा तो संपूर्ण समाज की रक्षा करेगा और वह क्षत्रिय है। यह क्षत्रिय जब युद्ध के मैदान में उतरता है तो प्राणों का सारा भय छोड़कर उतरता है। वह कभी इस बात का विचार नहीं करता कि आख़िर में किनके लिए लड़ाई लड़ने जा रहा हूँ, और लड़ाई के बाद ज़िंदा रहूँगा या नहीं रहूँगा। वह ज़्यादा-से-ज़्यादा सोचता है कि लड़ूँगा तो सही, पर जब तक प्राणों के ऊपर संकट नहीं आता है। जब वह यह सोचकर चलता है कि प्राणों के ऊपर संकट आया और युद्ध छोड़कर भाग जाऊँगा, तब काम नहीं बन सकता। वह तो यही सोचकर चलता है कि मेरा काम रक्षा करना है। बाक़ी का समाज संकट ग्रस्त है और मैं यहाँ खड़ा रहूँ, तो यह मेरा अपमान है। समाज के अंदर अव्यवस्था पैदा हो और क्षत्रिय इस अव्यवस्था को देखता रहे, यह उसका बड़ा अपमान है।

जैसे माता के ऊपर अन्याय होता रहे और उसके पुत्र देखते रहे। बूढ़ा पिता है, उसको कोई चार गाली सुना जाए, नौजवान पुत्र देखता रहे। वह उस समय यह नहीं सोचता कि यह तो बूढ़ा है इसके लिए क्या लड़ना। यह मरने वाला है और हमें लड़ा जाएगा। अगर मैं इस लड़ाई में ख़त्म हो गया तो फिर वंश कैसे चलेगा। वह तो उस समय सिर्फ़ इतना ही सोचता है कि पुत्र का पिता के प्रति क्या कर्तव्य होना चाहिए। अपने पिता की रक्षा करनी चाहिए। इसी प्रकार जहाँ पर यह विचार कर चलते हैं कि दूसरे के प्रति जो धर्म है, उसका पालन करना और वास्तव में जब इस बात पर सोचकर

चलते हैं, तभी समाज के अंदर एक परस्पर सद्भावना उत्पन्न होती है।

इस प्रकार दूसरे के लिए विचार कर चलना, दूसरे के लिए जीवन लगा देना, इसी को हमारे यहाँ यज्ञ कहा गया है। यज्ञ को लोग सामान्यतः हवन-कुंड बना लेना, उसमें कुछ आहुतियाँ डाल देना ही समझते हैं। जबकि यह आहुति देना और मंत्र बोल देना, अग्नि प्रज्वलित कर उसमें समिधा आदि डालना ही केवल यज्ञ नहीं है। यह तो वास्तव में मन के अंदर का जो भाव है। हवन आदि उसका एक बाह्य प्रतीक है। यह मन के अंदर इस प्रकार के संस्कार पैदा करने का एक साधन है। यह तो उसमें जब हम बराबर बोलते हैं कि 'इदं इन्द्राय इदं न नमः', यह मेरा नहीं है, इंद्र के लिए है। यह जो सृष्टि-चक्र चल रहा है, उसके प्रति मेरा जो कर्तव्य है, उसको पूर्ण करने के लिए। यह मेरा नहीं है तो दूसरे के प्रति जो मेरा कर्तव्य है, जो परस्परानुकूलता है, उसकी दृष्टि से मेरा यह प्रयत्न हो रहा है। इसके नाते से वास्तव में यह यज्ञ होता है।

इस यज्ञ के संबंध में महाभारत में एक कथा भी है। उससे पता लगता है कि आख़िर यह यज्ञ किस भाव का द्योतक है। राजसूय यज्ञ हुआ। जब धर्मराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया, अनेक ब्राह्मणों को बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ दी गईं। सब देशों के राजा वहाँ पर एकत्र हुए। सबकुछ हुआ और राजसूय यज्ञ जब समाप्त हो गया, तो समाप्त हो जाने के बाद पाँचों पांडव भगवान् कृष्ण के साथ बैठे थे और आपस में चर्चा कर रहे थे। जैसे कि कोई भी कार्यक्रम बहुत अच्छा हो जाता है और उसके बाद बैठकर उसकी चर्चा की जाती है कि इतना बड़ा कार्यक्रम कैसे संपन्न हुआ। उसी प्रकार राजसूय यज्ञ के बाद भी सब लोग चर्चा कर रहे थे। कुछ लोग कहने लगे कि इतना बड़ा राजसूय यज्ञ ऐसा तो कभी किसी ने किया ही नहीं होगा, जितना बड़ा यज्ञ हो गया। इसकी तो भविष्य में भी कब तक ख्याति बनी रहेगी, ऐसी चर्चा हो रही थी। इतने में सबकी निगाह एक नेवले के ऊपर गई, जिसका आधा शरीर सोने का था और आधा नेवले का।

सभी ने कृष्णजी से पूछा कि यह क्या है। तब उन्होंने कहा कि आप लोग अपने यज्ञ की तारीफ़ कर रहे थे, लेकिन यह जो नेवला है, इसने इस यज्ञ से भी बड़ा यज्ञ देखा है। सभी ने कहा कि ऐसा कौन-सा यज्ञ था, जिसमें इससे भी अधिक स्वर्णमुद्राएँ और गऊएँ दान में दी गई हों। तब कृष्णजी ने बताया कि एक गाँव में एक ब्राह्मण परिवार रहता था और उस गाँव में एक बार बहुत बड़ा अकाल पड़ा। उस परिवार को भी कई दिनों से कुछ खाने को नहीं मिला। एक दिन ब्राह्मण भिक्षा माँगने कहीं गया और थोड़ा सा सत्तू ले आया। अब वह सत्तू लाया और वहाँ उसके चार हिस्से किए। परिवार के चारों सदस्यों को उसने एक-एक हिस्सा दे दिया। वे खाना शुरू करने ही वाले थे कि एक अतिथि आया। उस ब्राह्मण ने अपने हिस्से का सत्तू उसे खाने को दिया। उसके बाद उसकी पत्नी ने और पुत्र ने भी अपने हिस्से का सत्तू उसे दिया। लेकिन तब भी उसका

पेट नहीं भरा तो पुत्रवधू ने उसे अपने हिस्से का सत्तू दे दिया। उन चारों का हिस्सा खा लेने के बाद वह अतिथि पानी पीकर उन्हें आशीर्वाद देता हुआ वहाँ से चला गया। उसके जाने के बाद चारों प्राणियों ने भूख से व्याकुल होकर अपने प्राण त्याग दिए। उस अतिथि ने जब पानी पिया था तो वहाँ पर पानी की कुछ बूँदें बिखर गई थीं। एक नेवला वहाँ आया और उन बूँदों को उसने जहाँ-जहाँ स्पर्श किया, उसका शरीर वहाँ से सोने का हो गया। तब से यह नेवला सब जगह जा-जाकर घूमता है कि कहीं इससे भी बड़ा यज्ञ हो, कोई अतिथि के सत्कार के लिए प्राण त्यागे और इसका बाक़ी शरीर भी सोने का हो जाए। इसी आशा से यह युधिष्ठिर के यज्ञ में भी आया है कि उसका बाक़ी का शरीर भी सोने का हो जाएगा। लेकिन यहाँ इसे निराशा ही हाथ लगी। तो यज्ञ होता है, जहाँ पर लोग आत्माहुति देने को तैयार हों। हमारे यहाँ ऐसे यज्ञ के अनेक उदाहरण मिलेंगे कि अतिथि के सत्कार के लिए अपना सर्वस्व भी लगा देते हैं।

इसी यज्ञ की भावना में जब हम एक-दूसरे का विचार लेकर चलते हैं तो दूसरे के बारे में सोचते हैं। इससे त्याग की भावना आती है। यह त्याग क्या है? अगर त्याग घर छोड़ देना, साधन-मात्र त्याग देना होता तो हम कपड़े उतारकर फेंक देते तो हम बड़े त्यागी माने जाते। तो यह त्याग नहीं है। वास्तव में किसी को सुख पहुँचाने की दृष्टि से किया गया कार्य त्याग है। जीवन में एक-दूसरे के साथ जो एकात्मकता आती-जाती है वास्तव में इसी एकात्मकता में से त्याग आता है। एक-दूसरे के विचारों को सुनने की और समझने की एक इच्छा पैदा होती है, एक सहिष्णुता उसके विचारों के प्रति पैदा होती है। दूसरों की सेवा करने की भावना मन के अंदर पैदा होती है। ये सबके सब जो हमारे अच्छे-अच्छे गुण हैं, उनसे एक प्रवृत्ति पैदा होती है, और यह प्रवृत्ति हमें सिखाती है कि हम दूसरों के जीवन के साथ एक होकर चलें, तो यह हमारे धर्म के वास्तविक आधार में है, जिससे हमारी धारणा होती है। पश्चिम का जो जीवन है, उससे यह उल्टा है। उनका जीवन-दर्शन जो है, वह एक प्रतियोगिता के आधार पर चलता है। जहाँ पर प्रतियोगिता है, प्रतिद्वंद्विता है, वहाँ एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ मानो स्वार्थ का संघर्ष होता चला जाता है। इसी आधार पर जहाँ पर विचार है और वहाँ पर यदि चार व्यक्ति इकट्ठा आते हैं, वह इकट्ठा इसीलिए आते हैं कि अकेला व्यक्ति इसके साथ संघर्ष ठीक प्रकार से नहीं कर सकता। इसलिए चार व्यक्ति मिलकर उनकी ताक़त हो जाती है। तब वह डटकर संघर्ष कर पाएँगे। इसी प्रकार वहाँ पर समाज का निर्माण होता है।

वहाँ पर वर्गों का उद्‌भव होता है, उस समाज का निर्माण मानो संघर्ष की भावना के लिए ही होता है। वहाँ पर वर्गों का निर्माण हुआ तो वर्ग एक-दूसरे के लिए पूरक नहीं हैं। तो वर्ग एक-दूसरे से संघर्ष करके अपने-अपने स्वार्थों का संरक्षण करेंगे, इसका विचार करके वहाँ पर चलता है। यह पश्चिम का जितना ही जीवन-दर्शन है,

वहाँ के जीवन-दर्शन में से उनके जितने भी संगठन पैदा होते हैं, वे सब देखने के लिए कई बार ऐसा लगेगा कि अपना और इनका स्वरूप मानो एक ही प्रकार का होगा, जैसे उदाहरण के लिए आज वहाँ पर जाति-व्यवस्था चलती है, उसी प्रकार यहाँ पर भी जाति-व्यवस्था चलती है। एक प्रकार से दोनों का आधार व्यवसाय है। एक प्रकार की व्यवस्था में व्यवसाय करनेवाले जो लोग हैं, उन सबकी मिलकर एक जाति होती है। लोहार है, उसकी भी एक जाति है। बाल बनाने वाले नाई हैं, वह भी एक जाति है और ऐसे ही वहाँ पर एक ही प्रकार का व्यवसाय करनेवाले जो हैं, वह भी अपनी एक ट्रेड यूनियन बना लेते हैं। मज़दूर संघ बना लेते हैं।

किंतु दोनों में अंतर बहुत बड़ा है। हमारे यहाँ पर हमारी एक जाति व्यवस्था चलती है, जो सहयोग के आधार पर चलती है। हम सब लोग मिलकर, एकात्म होकर संपूर्ण समाज के लिए ज़्यादा-से-ज़्यादा कैसे उपयोगी हो सकते हैं, किस प्रकार की सेवा कर सकते हैं, इसका विचार करके चलने वाली हमारी जाति संस्था है। वहाँ पर इसलिए चलती है कि हम अकेले-अकेले अपने जो स्वार्थ हैं, उनका संरक्षण नहीं कर सकते। तो सब मिलकर दूसरे के मुक़ाबले में कैसे खड़े होंगे, इसका विचार करके चलते हैं। यानी वहाँ का सारा-सारा विचार एक प्रतियोगिता के आधार पर है। हमारा विचार प्रतियोगिता के आधार पर नहीं वरन् सहयोग के आधार पर है।

सहयोग भी इतना अधिक कि हम जीवन की एकात्मता का अनुभव कर सकें, उसी आधार पर हमने संपूर्ण समाज की कल्पना करके समाज से व्यक्ति के संबंधों का हमने विचार किया है। हमारी बाक़ी की जितनी भी संस्थाएँ हैं, उनका भी आधार वैसा ही है, जैसा कि आपसी इंद्रियों का संबंध है, वैसा संबंध हम अपने सामने रखकर, जिसमें संपूर्ण समाज की व्यवस्था, संपूर्ण समाज का जीवन, उसका इंद्रियों और शरीर जैसा संबंध है, उस नाते से हमने उस संबंध का विचार किया। अब इंद्रियों में हाथ तो कभी यह विचार नहीं करते कि हमारा पैरों के साथ झगड़ा हो जाएगा तो हम जीत जाएँगे। और पैर भी ऐसा कभी नहीं सोचते कि हमें अपना संगठन बनाना चाहिए और यदि वे सब ऐसा सोचने लगें तो ग़लती हो जाएगी। सारी व्यवस्था ख़राब हो जाएगी।

एक बार ऐसा ही हुआ हाथ-पैर, नाक-कान, आँख, मुँह आदि ने मिलकर सोचा कि हम तो सारे काम करते हैं। पैरों ने कहा कि देखो हम ज़्यादा काम करते हैं, इधर ले जाते हैं, उधर ले जाते हैं। सारे शरीर का बोझा अपने ऊपर ढोते हैं। आँखों ने कहा कि हमें आँखें फाड़-फाड़कर देखना पड़ता है। छोटी-से-छोटी चीज़ को बारीकी से देखना पड़ता है। हाथों ने कहा कि हम ही सारा काम करते हैं। पुरुषार्थ करने के लिए साधन भी अगर कोई है, तो हाथ हैं। सभी ने इसी तरह कहा और फिर पेट की तरफ़ इशारा किया कि यह जो पेट है, इसे एक दिन मिलकर सज़ा देनी चाहिए। यह पड़ा-पड़ा खाता है। सभी ने

मिलकर यूनियन बनाई और हड़ताल कर दी कि हम सबकुछ नहीं करेंगे, तब देखते हैं यह पेट कैसे खाता है? पेट ने बहुत कहा कि मैं पड़ा-पड़ा खाता हूँ, ऐसी बात नहीं है। मैं भी कुछ-न-कुछ करता ही हूँ। लेकिन सबने उसकी नहीं सुनी और हड़ताल कर दी। जब बारह बजे का वक़्त हुआ, भूख लगने लगी और पेट कुलबुलाने लगा। उसको बुरा लग रहा था, लेकिन वह क्या करे। हाथों ने मना कर दिया, पैरों ने भी जवाब दे दिया। इसी तरह एक दिन बीत गया, दो दिन बीत गए, लेकिन पेट कुछ भी नहीं कर सकता था, उसे खाने को कुछ नहीं मिला। वह पड़ा-पड़ा कुलबुलाता रहा। तीन-चार दिन बीतने के बाद पेट को कुछ न मिलने के कारण आँखों के सामने कुछ अँधेरा-सा छाने लगा, हाथ-पैर भी सुन्न होने लगे—सभी सोचने लगे कि हमें क्या हो रहा है। हाथों से कुछ उठाया नहीं जा रहा था और पैरों से चला नहीं जा रहा था, बुद्धि ने सोचने से इनकार कर दिया था। अंत में पेट ने कहा कि भई तुम लोगों ने ग़लत सोचा। तुम लोग तो काम करते ही हो, लेकिन मैं भी काम करता हूँ। जो वस्तु तुम्हारे द्वारा मेरे अंदर आती है, मैं ही उसका ख़ून बनाकर तुम तक पहुँचाता हूँ, जिससे तुम लोगों को शक्ति प्राप्त होती है। पेट के साथ तुम्हारा संघर्ष नहीं होना चाहिए। सभी एक-दूसरे के पूरक हैं। समाज के संबंध में भी परस्पर पूरकता का भाव ही हमारे जीवन का आधार है।

संघर्ष और एक-दूसरे का विरोध हमारा आधार नहीं है। सभी के अपने-अपने काम बँटे हुए हैं। सभी की अपनी-अपनी ज़िम्मेदारियाँ हैं। साधारणतः जहाँ गीत गाने वाले होते हैं, सभी गीत गाते हैं, पर हमेशा वहाँ पंचम स्वर नहीं रहता है। लेकिन जहाँ अच्छा गाने वाले होते हैं, वहाँ स्वर के भेद हैं और उन स्वरों में कितने ही प्रकार का संगीत पैदा हो जाता है, यह सब जानते हैं।

इसी प्रकार जीवन के विविध स्वरूप हैं। ये विविध स्वरूप हमारे जीवन के विकास के द्योतक हैं। इसमें विभेद नहीं है, किंतु इसमें जितने भी विभेद दिखाई देते हैं, जितने भी भिन्न-भिन्न स्वरूप दिखाई देते हैं, इन सब विविध स्वरूपों में यदि हमने एक परस्पर पूरकता पैदा कर दी तो यह सब चीज़ें हमारे लिए काम की हैं। परस्पर पूरकता का भाव लेकर ही वास्तव में हमें चलना है। जो यह परस्पर पूरकता का भाव हमारे समाज के संबंध में है, वही एकात्मकता है। उस एकात्मकता में से ही हमारे जीवन के अंदर देशभक्ति होती है। हमारे जीवन के अंदर एक समाज के विषय में अपनेपन का भाव आ गया। समाज का एक ज्ञान हमारे अंदर आ गया तो हमारे अंदर यह परस्पर पूरकता का भाव होगा, यदि इसके विपरीत हम अपने आपको ही केंद्र बनाकर चलने लगें, तो इसमें से फिर परस्पर पूरकता के स्थान पर बाक़ी की विपरीत चीज़ें पैदा होंगी। जब समाज का ही भाव प्रमुख रूप से सामने आएगा। समाज का सुख मेरा सुख है, समाज का यश, मेरा यश है, यह भाव हमारे अंदर आ गया तो हम सब लोग समाज के

कल्याण के लिए ही प्रयत्न करेंगे।

हमारे यहाँ जो घोष है। इस घोष में विचार कीजिए कि उसमें कोई बिगुल बजाता है, कोई बाँसुरी बजाता है, कोई कुछ और बजाता है, तो इनमें कैसे तुलना कर सकते हैं कि कौन बड़ा है और कौन छोटा। तो वास्तविकता यह है कि इनमें से न कोई बड़ा है, न कोई छोटा। जब सब मिल-जुलकर बजाते हैं, तभी पूरी तरह से घोष चलता है। अगर इनमें से एक भी ख़राब हो तो वह अच्छा नहीं चल सकता। अलग से स्वर निकालें तो भी गड़बड़ हो जाती है। इसलिए जहाँ हम सब लोग काम करते हैं, वहाँ परस्पर पूरकता का भाव लाना ज़रूरी है। जिस प्रकार मार्चिंग में हम चलते हैं तो एक ने अगर गड़बड़ी की तो सभी की बदनामी होती है। इसलिए हर एक को सोच-समझकर क़दम उठाने पड़ते हैं। एक-सा व्यवहार लेकर चलना वास्तव में यह अपना काम है और समाज के अंदर भी इसी प्रकार चला जाए तो यही समाज का धर्म होगा। यही व्यक्ति की धारणा और समाज की धारणा होगी। इससे ही समाज में सब प्रकार की जो संस्थाएँ हैं, सही प्रकार से टिक सकेंगी।

इंद्रियाँ जो हैं, वे शक्ति से टिकती हैं। यदि शक्ति नहीं रही तो कोई भी चीज़ नहीं टिक सकेगी। वर्ण-व्यवस्था हमारी आदर्श व्यवस्था है, ऐसा सोचकर किसी ने कहा कि वर्णाश्रम स्वराज्य संघ की स्थापना करनी चाहिए। यह यदि हो गया तो बाक़ी सब समाज भी ठीक हो जाएगा। परंतु सच्चाई यह है कि केवल वर्णाश्रम की व्यवस्था से ही सबकुछ हो जाता, तो वर्णाश्रम होते हुए भी हम लोगों का पतन नहीं होता। किसी ने कहा कि जाति पाँति-तोड़क मंडल बनाया जाए। जाति-पाँति तोड़क मंडल बनाते-बनाते यह तोड़क मंडल एक अलग जाति बन गई। इस प्रकार से रा.स्व. संघ के जन्मदाता ने न तो जाति-पांति तोड़क मंडल बनाया और न ही वर्णाश्रम स्वराज्य संघ की प्रतिस्थापना करने का प्रयत्न किया। इन्होंने कहा कि ये जो सारी चीज़ें हैं, इस नाते से हमारे यहाँ की जो जीवन-दृष्टि है, उस जीवन-दृष्टि के हिसाब से हमारा जो इतिहास है, बाक़ी का सारा दर्शन है, उसके नाते से हमने अपने यहाँ की संस्थाएँ चलाईं। परंतु ये सब संस्थाएँ तभी हमारे लिए उपयोगी हो सकती हैं, जब इस समाज के अंदर प्रमुख रूप से एकात्मता का भाव होगा। समाज के अंदर सामर्थ्य होगा, समाज के अंदर पूरकता होगी, समाज के अंदर त्याग-वृत्ति होगी, समाज के अंदर सेवा-भाव होगा, समाज में प्रत्येक व्यक्ति के अंदर निष्ठा होगी।

क्योंकि कोई चीज़ अच्छी है, इतना कहने से तो काम नहीं चलेगा, उसके लिए और मन के अंदर वह भाव पैदा होना चाहिए। मन के अंदर संस्कार डालने पड़ते हैं। यदि समाज के अंदर सामर्थ्य नहीं हुई और बाक़ी की सारी चीज़ें हुईं, तो काम नहीं चलेगा। समाज के अंदर की सभी संस्थाएँ अपने आपको कहने लगें कि सभी कुछ

हमारे द्वारा चलता है। हम बड़ी हैं या कोई एक संस्था कहे कि मैं बड़ी हूँ। इस बारे में एक बात मुझे याद आती है कि एक बार शरीर की सभी इंद्रियों में आपस में लड़ाई हो गई। आँख ने कहा, मैं बड़ी हूँ। पैरों ने कहा, हम बड़े हैं। हाथों ने भी कहा कि नहीं हम बड़े हैं, हमारे बिना कोई काम नहीं हो सकता। इसी तरह वाणी ने कहा कि मैं बड़ी हूँ। सभी मिलकर ब्रह्माजी के पास गए। ब्रह्माजी के लिए भी यह बताना बड़ा मुश्किल हुआ कि कौन बड़ा है। फिर भी उन्होंने अपनी चतुराई से जवाब दिया कि देखो जिस चीज़ के बिना बाक़ी की सारी चीज़ें बेकार हो जाएँ, समझो वही बड़ी है। सभी ख़ुश होकर लौट आए। सबसे पहले आँखों ने सोचा कि हमारे बिना ये कुछ नहीं कर सकेंगे। आँखें चली गईं, व्यक्ति अंधा हो गया। लेकिन अंधा होने के बावजूद लाठी टिका-टिकाकर वह सभी काम करने लगा। कुछ समय बाद आँखों ने वापस आकर पूछा कि क्या हाल है। तो सभी ने कहा कि हम तो बड़े आराम से रह रहे हैं। अच्छा-बुरा हमें नहीं देखना पड़ता था। उसके बाद वाणी गई। वाणी के बिना भी इशारे से काम चल गया। पैर गए, उनके बिना भी काम चल गया। अब मन ने भी सोचा कि मैं भी चला जाता हूँ, फिर देखूँगा कि इनका काम कैसे चलेगा। लेकिन मन के बिना भी काम चल गया, क्योंकि मन ही तो चलने-फिरने और काम करने पर मजबूर करता है। न मन था, न कुछ करना पड़ता था। अब प्राणों ने सोचा कि चलो तुम भी आज़माकर देख लो। सभी ने आजमाया है। प्राणों ने अपना बिस्तर-बाँधना शुरू किया। अब सभी को परेशानी हुई। सभी ने रास्ता रोक लिया कि तुम मत जाओ। प्राणों ने कहा कि सभी तो एक-एक साल के बाद लौट-लौटकर आए हैं, मैं भी एक साल के बाद लौटकर आऊँगा। तब सभी ने कहा कि नहीं, तुम तो एक क्षण के लिए भी मत जाओ। हमारे लिए मुश्किल हो जाएगी। अब सभी ने कहा कि प्राण ही सबसे बड़ा है।

वास्तव में राष्ट्र का जो प्राण है, वही सर्वेसर्वा है। राष्ट्र के प्राण हैं तो बाक़ी की सभी इंद्रियाँ ठीक चलती हैं। फिर हर एक व्यवस्था ठीक चलती है। फिर राज्य भी ठीक चलते हैं। फिर समाज की वर्ण-व्यवस्था भी शायद ठीक चलेगी। फिर पैसा और जीविका चलाने के जो साधन हैं, वे भी ठीक प्रकार से काम करेंगे। व्यक्ति भी ठीक प्रकार से काम करेगा। लेकिन यदि प्राण ही निकल गए तो सबकुछ निरर्थक है। तो वास्तव में जैसे शरीर के लिए प्राण आवश्यक हैं, वैसे ही राष्ट्र के लिए भी प्राणों की आवश्यकता है।

प्राणों को ठीक रखना, प्राण को व्यवस्थित रखना, इसकी आवश्यकता होती है, वैसे ही राष्ट्र का प्राण बलवान करने की दृष्टि से अपना कार्य राष्ट्रीय प्राणायाम के रूप में चलता है, तो राष्ट्र में इस प्रकार के अनुशासन का भाव पैदा होते रहना और राष्ट्र के व्यक्ति में संपूर्ण राष्ट्र के संबंध में एकता की प्रवृत्ति उत्पन्न होते रहना, इसकी एक

संस्कृति है। आख़िर को यह सब संस्कार से पैदा होता है, केवल कहने से नहीं होता। हमने केवल कह दिया कि राष्ट्र का प्राण मज़बूत हो जाएगा। यदि ऐसे ही प्राण मज़बूत हो जाता तो दिन-प्रतिदिन का अभ्यास करने की ज़रूरत नहीं, जिनका इस प्रकार से प्राण मज़बूत हो जाए, उनको प्राण को टिकाए रखने के लिए कुछ अभ्यास करना पड़ता है। प्राण को टिकाए रखने के लिए कई बार भोजन करने की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार इस राष्ट्र के प्राण को ठीक रखते हुए इस राष्ट्र की एकात्मता को हम ठीक प्रकार से सँजोते हुए यदि प्रयत्न करते चले गए तो इसमें से न केवल हम और अपने भौतिक जितने सुख हैं, ठीक रख सकेंगे, भौतिक स्वास्थ्य ही नहीं, आध्यात्मिक स्वास्थ्य भी इसके द्वारा ठीक रखने की सामर्थ्य हमें मिल सकेगी।

वास्तव में इसमें से ही हमें वह वैभव प्राप्त होगा। इसलिए हमने इस बात की ओर पहले दिन संकेत किया था कि हम अपनी प्रार्थना में जो माँगते हैं कि भगवान्, हमें वैभव दो। हमने वैभव की व्याख्या की कि हमें वैभव इस राष्ट्र के धर्म का संरक्षण करके दो यानी हमने किसी वस्तु के मिल जाने मात्र को वैभव नहीं माना। जैसे रोटी मिल गई, कपड़ा मिल गया, सोने की लंका मिल गई, तो उसको हमने वैभव नहीं माना। हमारे राष्ट्र का यह धर्म-संरक्षण होगा, इसमें राष्ट्र के प्रति हमारी परस्परपूरकता की भावना बढ़ेगी, राष्ट्र का हित होगा, हमारा हित होगा और आध्यात्मिक जीवन का भाव बराबर बना रहेगा, जिससे मनुष्य का इस पूर्णता के साथ विचार कर सकेंगे, इसमें मनुष्य और समाज की परस्परपूरकता के नाते से विचार होगा, यह हमारा वैभव है।

जहाँ पर राष्ट्र के लिए इस प्रकार के समर्पण भाव को लेकर चलेंगे, जहाँ पर त्याग की वृत्ति होगी, वह हमारा धर्म है। इस तरह की हमारी जो सुव्यवस्था है, उसका रक्षण करते हुए इसके द्वारा, हम अपना वैभव प्राप्त करें। इसके साथ ही हमने तीसरा साधन भी स्वाभाविक रूप से उसके साथ ही बता दिया। ऐसी बात नहीं कि हमने केवल कहा कि हम भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं और भगवान् हमें सब चीज़ें दे देगा। हमने कहा कि केवल हमारी यह संघता शक्ति, जो विजय प्राप्त करनेवाली संगठित शक्ति है, यह विजय इस वैभव को प्राप्त करे। यानी हमने साधन बता दिया कि बिना संगठित शक्ति के हमें वैभव प्राप्त नहीं होगा।

कभी मानो हमारा स्वास्थ्य तो ठीक हुआ नहीं, बल मिल जाए। बिना प्रयत्न के किसी को धन मिल जाए तो क्या हाल होगा, भगवान् जाने। कल्पना कीजिए कि कभी जिसकी लाटरी लग जाए और लाटरी का पैसा मिलने से उसका दिमाग़ ख़राब हो जाए, तो वह हानिकारक होगी। इसी तरह कोई चीज़ हमें ऐसे-वैसे ही मिल जाए, तो वह हमारे समाज के धर्म को बढ़ाने वाली नहीं होगी। जो हमारी यह संगठित शक्ति है, इसके द्वारा हम अपना वैभव प्राप्त करेंगे। धर्म का संरक्षण करते हुए वैभव प्राप्त करेंगे। इस प्रकार ये

तीनों चीज़ें हमने एक साथ माँगीं और इन तीनों का एक-दूसरे से संबंध रखा।

सच्चाई यह है कि ये तीनों एक-दूसरे के साथ इतनी जुड़ी हुई हैं कि बिना अपने धर्म के संरक्षण का विचार किए शायद हम अपना संगठित सामर्थ्य उत्पन्न नहीं कर सकेंगे। केवल संगठित सामर्थ्य से भी हम वैभव नहीं प्राप्त कर सकेंगे, इसके लिए धर्म का संरक्षण आवश्यक है। ये तीनों स्वाभाविक चीज़ें हैं। ये तीनों हमारे पास हैं। संगठित सामर्थ्य जैसे-जैसे बढ़ता चला जाए, वह धर्म का भाव हमारे अंदर अधिकाधिक उदित होता चला जाएगा, वैसे-वैसे हम अपने जीवन के अंदर वैभव का दर्शन करते चले जाएँगे।

जैसे-जैसे पेड़ बढ़ता चला जाता है, उसकी हरियाली दिखाई देती चली जाती है। फूल खिलता है तो उसका सौरभ चारों ओर अपने आप फैलता चला जाता है। कमल का खिलना, सौरभ का फैलना ये दोनों अलग-अलग चीज़ें नहीं हो सकतीं। कोई कहे कि कमल खिल जाए और सौरभ न फैले, यह कैसे हो सकता है? कमल खिलेगा तो उसकी सुगंधि चारों ओर फैलेगी। कमल का सौंदर्य चारों ओर सबको आकर्षित करेगा ही। कमल का खिलना अपने आप ही उसको सौरभ प्राप्त करा देनेवाला होता है। यही संगठन और धर्म का संरक्षण करते हुए किया हुआ संगठन, इसमें से स्वतः वैभव प्राप्त होता है। उसके ऊपर यदि भगवान् का आशीर्वाद हम माँग करके चलें तो भगवान् से हमें क्या नहीं प्राप्त हो सकेगा? उनका आशीर्वाद मानो हमारे सामने एक अधिष्ठान के रूप में है। इस दृष्टि से हम अपने कार्य की ओर देखें, प्रत्येक पहलू को उसके नाते से समझें, अपने प्रत्येक कार्यक्रम को उस नाते से देखें, तो जो हम अपना ध्येय प्राप्त करना चाहते हैं, एक-एक क़दम आगे बढ़ते हुए हम स्वाभाविक रूप से वह ध्येय प्राप्त कर सकेंगे।

—मई 29, 1961

□

35

भारतीय जनसंघ धार्मिक आधार पर कोई भेदभाव नहीं करता

रायपुर में पत्रकारों के साथ दीनदयालजी की बातचीत।

'जनसंघ ने अपने सदस्यों की संख्यात्मक शक्ति की गणना उनके धर्म के आधार पर करने में विश्वास नहीं किया है। जनसंघ का प्रत्येक सदस्य हमारे लिए जनसंघ का एक सदस्य है, और हम कभी भी सदस्यों के बीच उनके संबंधित धर्म के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेंगे।'

जैसा कि आपने कुछ मुसलिम लोगों के जनसंघ में शामिल होने के बारे में पूछा है, तो मुझे लगता है कि यह समाचार किसी उत्साही पत्रकार द्वारा जारी किया गया होगा। मैंने कभी भी यह जानकारी एकत्र करने का कष्ट नहीं उठाया है कि कितने मुसलमान या किसी अन्य धर्म के कितने लोग जनसंघ के सदस्य हैं। हमारे लिए हमारे सभी सदस्य बराबर हैं और हम धर्म के आधार पर उनके बीच भेदभाव नहीं कर सकते हैं। मैं आपको यह भी नहीं बता सकता कि कितने मुसलिम अलग-अलग स्थानों पर जनसंघ के पदाधिकारी हैं, क्योंकि हमने इस प्रश्न को कभी इस दृष्टिकोण से नहीं देखा है, जो कि मुझे लगता है कि मूलभूत स्तर पर दोषपूर्ण है और दो-राष्ट्र के सिद्धांत को बढ़ावा देने के लिए मुख्य रूप से ज़िम्मेदार है। जनसंघ एक राष्ट्रवादी राजनीतिक दल है। हमें अपने सदस्यों के धर्म और धार्मिक विश्वास को लेकर चिंतित क्यों होना चाहिए?

आस्था की पूर्ण स्वतंत्रता लेकिन राजनीति में धर्म नहीं

जनसंघ का मानना है कि जनसंघ के प्रत्येक सदस्य को अपने धर्म और अंतःकरण

के अनुसार अपने ईश्वर की पूजा करने का पूरा अधिकार व स्वतंत्रता है और पार्टी का इसके साथ कोई लेना-देना नहीं है। सनातन धर्म या इसलाम या आर्य समाज या बौद्ध धर्म या जैन धर्म आदि में विश्वास करनेवाले व्यक्ति हो सकते हैं, लेकिन हम निश्चित रूप से इस आधार पर उनके बीच भेदभाव नहीं कर रहे हैं।

मुसलमानों द्वारा पूजा की एक पद्धति के रूप में इसलामी आस्था का अनुसरण करने पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती है। लेकिन जनसंघ को तब निश्चित रूप से आपत्ति है, जब इसलाम को राजनीति में घसीटा जाता है और जब मुसलमान अपनी आस्था के आधार पर अपने लिए एक अलग अस्तित्व का दावा करने लगते हैं।

मुझे एक पूर्व मुसलिम लीगी को, अगर वह ख़ुद को बदल चुका है और भारत के प्रति निष्ठा में विश्वास रखता है, तो इस दौर में सिर्फ़ इस कारण राजनीति से तिरस्कृत करने में भी कोई तुक नज़र नहीं आता है कि वह भारत के विभाजन की पक्षधर पार्टी थी। वह भी भारत का एक स्वतंत्र नागरिक है और इस प्रकार राजनीति में भाग लेने का पूरी तरह हक़दार है, लेकिन अगर वह आज भी 'दो राष्ट्र के सिद्धांत' को बढ़ावा देने की पक्षधरता करता है, तो मुझे निश्चित रूप से आपत्ति है।

यह वह कारण है, जो स्पष्ट करता है कि क्यों जनसंघ भारत की वर्तमान मुसलिम लीग को सांप्रदायिक कहता है और क्यों हिंदू महासभा और रामराज्य परिषद् को सांप्रदायिक के तौर पर स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। हालाँकि हिंदू महासभा और रामराज्य परिषद् में कुछ व्यक्ति अपने दृष्टिकोण और आग्रह में सांप्रदायिक हो सकते हैं, लेकिन इन दलों को पूर्णरूपेण सांप्रदायिक नहीं कहा जा सकता है।

वाहवाही के लिए विशुद्ध आडंबरपूर्ण व्यवहार

यह बेहद अफ़सोस की बात है कि कांग्रेस के बड़े फ़ैसले भी मात्र लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए आडंबरपूर्ण व्यवहार की इच्छा से प्रेरित थे। दूसरे आम चुनाव की पूर्व संध्या पर रेल मंत्री लाल बहादुर शास्त्री[1] ने मात्र एक रेलवे दुर्घटना को लेकर धूमधाम और ज़ोरदार ढिंढोरेबाज़ी के साथ पद से इस्तीफ़ा दे दिया। यदि कांग्रेस स्वस्थ परंपराओं को सुनिश्चित करने के लिए ईमानदारी से यह रवैया अपनाने के पक्ष में है, तो

---

1. लाल बहादुर शास्त्री (1904-1966) केंद्रीय मंत्रिमंडल में 13 मई, 1952 से 7 दिसंबर, 1956 तक रेलवे और परिवहन मंत्री रहे। सितंबर 1956 में महबूब नगर रेल दुर्घटना में 112 लोगों की मृत्यु के बाद उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया, लेकिन नेहरू ने उसे अस्वीकार कर दिया। इसके तीन माह बाद अरियालुर, तमिलनाडु की रेल दुर्घटना में 144 लोगों की मृत्यु के बाद इसकी नैतिक एवं संवैधानिक ज़िम्मेदारी स्वीकार करते हुए उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया। इस घटना पर संसद् में बयान देते हुए नेहरू ने कहा कि वह उनका त्याग-पत्र स्वीकार कर रहे हैं, क्योंकि यह संवैधानिक ज़िम्मेदारी में एक मानदंड स्थापित करेगा, इसलिए नहीं कि शास्त्री किसी भी तरह से घटना के प्रति ज़िम्मेदार हैं।

कांग्रेस को श्री कृष्णा मेनन और श्री जगजीवन राम[2] को भारत की सीमाओं की रक्षा करने और बार-बार होती रेल दुर्घटनाओं को रोकने में उनकी संबंधित विफलताओं के लिए इस्तीफ़े देने के लिए निर्देशित करना चाहिए। कांग्रेस को डॉ. काटजू को भी बस्तर गोलीबारी और जबलपुर की घटनाओं के कारण इस्तीफ़ा देने के लिए कहना चाहिए। क्या पंडित नेहरू का यह कहना नहीं रहा है कि जबलपुर दंगों ने विदेशों में देश का अपमान कराया है? तो क्या इस कारण डॉ. काटजू को बुलाकर इस्तीफ़ा देने के लिए नहीं कहा जाना चाहिए?

जबलपुर को लेकर भोपाल में प्रधानमंत्री के हाल के बयान ग़ैर-ज़िम्मेदाराना और विवेकहीन हैं। यहाँ तक कि जाँच से पहले जबलपुर के अधिकारियों का स्थानांतरण करना भी उचित नहीं है।

—ऑर्गनाइज़र, मई 29, 1961

□

2. जगजीवन राम 'बाबूजी' (1908-1986) नेहरू कैबिनेट में रेलवे और परिवहन मंत्री (1956-62) रहे।

36

आसाम और पंजाब के लिए भाषा फॉर्मूला

आसाम में फिर अशांति है। जहाँ पहाड़ी ज़िलों के नेताओं ने अलग राजनीतिक इकाई के निर्माण की माँग की है, वहीं संग्राम परिषद्[1] के मार्गदर्शन में कछार के लोगों ने बांग्ला को सरकारी भाषा के रूप में मान्यता देने के लिए एक आंदोलन शुरू किया है, जिसमें विफल रहने पर वे भी आसाम से बाहर निकलने को प्राथमिकता देंगे। पहाड़ी ज़िलों के प्रतिनिधिमंडल ने, जो प्रधानमंत्री से गुवाहाटी में मिला था, भाषा की समस्या का एक संतोषजनक समाधान निकाला है, जिसे उन्होंने प्रधानमंत्री द्वारा इन ज़िलों के लिए प्रस्तावित 'स्कॉटिश पैटर्न योजना'[2] पर विचार करने की पूर्व शर्त बनाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आसाम राजभाषा अधिनियम परिस्थिति की आवश्यकताओं को पूरा नहीं करता है। यह स्पष्ट है कि यदि आसाम सरकार इसके प्रावधानों में संशोधन

---

1. 5 फरवरी, 1961 को बराक घाटी में बँगला बोलने वालों पर असमिया थोपे जाने के ख़िलाफ़ आंदोलन चलाने के लिए रथिंद्रनाथ सेन के नेतृत्व में कछार गण संग्राम परिषद् का गठन किया गया था। 14 अप्रैल को आसाम सरकार के अन्याय के ख़िलाफ़ सिलचर, करीमगंज और हैलाकांडी की जनता ने संकल्प दिवस आयोजित किया। परिषद् प्रमुख ने घोषित किया कि अगर 13 अप्रैल, 1961 तक बँगला को सरकारी भाषा का दर्जा नहीं दिया जाता तो 19 मई को सुबह से शाम तक पूर्ण बंदी आयोजित की जाएगी। 19 मई 1961 को प्रमुख घटना में राज्य पुलिस द्वारा 11 लोग मारे गए।
2. जिस प्रकार ब्रिटेन की हाउस ऑफ कॉमन्स ने स्कॉटलैंड के लिए एक समिति गठित की थी, उसी तर्ज़ पर पं. नेहरू ने उत्तर-पूर्वी राज्यों, विशेषकर आसाम के लिए 1960 में स्काटिश पैटर्न प्लान की पेशकश की, जिसे ऑल पार्टी हिल लीडर्स कॉन्फ्रेंस ने ठुकरा दिया। ए.आई.एच.एल.सी ने 1962 का विधानसभा चुनाव स्काटिश पैटर्न प्लान के विरोध के मुद्दे पर लड़ा एवं अधिकांश सीटें वे जीत गए, हालाँकि बाद में यह संगठन सिकुड़ता चला गया।

नहीं करने पर अड़ी रहती है, तो राज्य की एकता बनाए रखना संभव नहीं रह जाएगा।[3] नगालैंड के गठन के साथ विघटन की यह प्रक्रिया पहले ही शुरू हो चुकी है, और अगर इसे नियंत्रण में रखा जाना है, तो अधिकारियों द्वारा बहुत अधिक राजनीतिमत्ता और चातुर्य का प्रदर्शन करने की आवश्यकता होगी। लेकिन संकीर्ण, संकुचित और स्वयं को श्रेष्ठ समझने के विचारों के इस युग में क्या आसाम की कांग्रेस सरकार को ऐसी दुर्लभ गुणवत्ता का श्रेय दिया जा सकता है, इसमें संदेह है। विदेशी तत्त्व—पाकिस्तानी और अन्य—स्थिति का लाभ उठाते जा रहे हैं और उन्होंने हमेशा राज्य में रहने वाले विभिन्न भाषाई समूहों के बीच एक खाई पैदा करने की कोशिश की है। हर कोई जानता है कि किस प्रकार पिछले आसाम दंगे इन तत्त्वों द्वारा अभियोजित थे, और वह दिन दूर नहीं जब मौजूदा उथलपुथल में उनके द्वारा निभाई गई कुटिल भूमिका भी ज्ञात हो जाएगी।

आसाम सरकार ने कछार आंदोलन से निपटने में विवेकपूर्ण ढंग से कार्य नहीं किया है। इस बार उठाए गए कठोर और सशक्त क़दम पिछले वर्ष की निष्क्रियता से इतने उल्लेखनीय ढंग से भिन्न हैं कि सरकार पर आसानी से बंगाली विरोधी नीति का अनुपालन करने का आरोप लगाया जा सकता है। वर्तमान सरकार में विश्वास की यह कमी ही आसाम की अधिकांश परेशानियों के लिए ज़िम्मेदार है। सरकार ने विश्वास बहाल करने के लिए कुछ भी नहीं किया है। इसके विपरीत गुवाहाटी गोलीबारी और गोरेश्वर दंगों के संबंध में न्यायिक जाँच की रिपोर्ट को स्वीकार करने और प्रकाशित करने से उसके इनकार ने पिछले साल की दुःखद घटनाओं में उसकी मिलीभगत के बारे में लोगों के संदेह की पुष्टि ही की है। इस पृष्ठभूमि में सरकार निवारक नज़रबंदी अधिनियम के प्रयोग तथा गोलीबारी और सिलचर में सात दिन कर्फ्यू लगाए जाने का औचित्य सिद्ध नहीं कर सकती है, जिसके परिणामस्वरूप एक महिला और एक बच्चे सहित ग्यारह लोगों की मृत्यु हुई और तीस से अधिक व्यक्ति घायल हुए। मुख्यमंत्री ने गोलीबारी की घटना की न्यायिक जाँच की घोषणा की थी। लेकिन ऐसी जाँच से क्या प्रयोजन पूरा होगा, जब सरकार न इसे स्वीकार करने के लिए तैयार है और न ही जाँच आयोग के निष्कर्षों के अनुसार दोषी को दंडित करने तक के लिए तैयार है? कछार की

---

3. अप्रैल 1960 में आसाम प्रदेश कांग्रेस समिति में एक प्रस्ताव पेश किया गया कि असमिया को एकमात्र सरकारी भाषा घोषित किया जाए। इससे ब्रह्मपुत्र घाटी में तनाव बहुत बढ़ गया। असमिया भीड़ ने बंगाली हिंदुओं के घरों पर आक्रमण कर दिया। जुलाई और सितंबर महीनों में हिंसा अपने चरम पर पहुँच गई। इस दौरान अनुमानतः 50,000 बंगाली हिंदू ब्रह्मपुत्र घाटी से भागकर पश्चिम बंगाल पहुँच गए। दूसरी ओर 90,000 हिंदू बराक घाटी और उत्तर पूर्व के अन्य क्षेत्रों को भाग गए। इस बारे में न्यायमूर्ति गोपाल मेहरोत्रा के अधीन एक सदस्यीय जाँच आयोग स्थापित किया गया। आयोग की रिपोर्ट के अनुसार हिंसा से सर्वाधिक प्रभावित कामरूप ज़िले में गोरेस्वर के 25 गाँवों में बंगाली हिंदुओं की 4019 झोंपड़ियों और 58 घरों को नष्ट कर दिया गया। 9 बंगाली हिंदू मारे गए, जबकि सौ से कहीं अधिक घायल हुए थे।

घटनाओं ने स्वाभाविक रूप से पश्चिम बंगाल के लोगों को नाराज़ कर दिया है। सार्वजनिक हड़ताल का आह्वान किया गया है, और अगर लोगों की आहत भावनाओं को शांत नहीं किया जाता है, नेताओं को सार्वजनिक रोष को अभिव्यक्ति देने के लिए कुछ अन्य शांतिपूर्ण तरीक़े निकालने होंगे, अन्यथा असामाजिक और देशविरोधी तत्त्व इस नाराज़गी को अवांछनीय दिशाओं में मोड़ सकते हैं।

(चूँकि) भारत के राजनीतिक मानचित्र को भाषाई आधार पर दोबारा उकेरा गया है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि आसाम के लोग भी एक विशेष क्षेत्र में अपनी भाषा को आधिकारिक मान्यता दिलाने की अपनी आकांक्षा को पूरा करने के बारे में इच्छा और फ़ैसला करें। लेकिन दुर्भाग्यवश, आसाम और पंजाब में इस प्रकार की कठिनाइयाँ हैं कि वहाँ किसी विशेष भाषा की एकरूपता के आधार पर निश्चित क्षेत्रों को चिह्नित करना संभव नहीं है। यदि स्थिति की वास्तविकताओं को ध्यान में रखा जाता है, तो इन दोनों क्षेत्रों में अखिल भारतीय पैटर्न खारिज करना होगा, और एक ऐसे भिन्न समाधान की खोज करनी होगी, जो एक व्यवहार्य राजनीतिक और प्रशासनिक इकाई के रूप में राज्य की एकता को बनाए रखने में सक्षम हो। एक ही भाषा के लिए ज़िद करने का कोई भी प्रयास, जिसमें अन्य भाषाओं का पूर्ण बहिष्कार होता हो, मात्र असंतोष को और एक समूह द्वारा दूसरे पर वर्चस्व की भावना को जन्म देगा, जिसे श्री चालिहा इतनी मासूमियत से समझने में विफल रहते हैं।

स्पष्ट तौर पर राज्य सरकार अब तक इस समाधान पर नहीं पहुँच सकी है। राजनीतिक और अन्य कारणों से, और आजकल की मति मंद राजनीतिक स्थितियों की मजबूरियों के कारण, राज्य सरकारें संभवतः इस मामले में सही निर्णय नहीं ले सकती हैं और अपने दायित्वों का निर्वहन करने के लिए सामने नहीं आ सकती हैं। यह सर्वविदित है कि आसाम सरकार ने भाषा अधिनियम के प्रावधानों का मसौदा तैयार करने में केंद्र सरकार की इच्छा का पालन नहीं किया है। स्वयं केंद्र सरकार भी मात्र सलाह देने और अपील करने की कमज़ोर नीति का पालन कर रही है। यह सब शुरुआती क़दम के रूप में ठीक हो सकता है, लेकिन सीमावर्ती राज्यों की शांति और अक्षोभ को बार-बार भंग किए जाने की सिर्फ़ इसलिए अनुमति नहीं दी जा सकती है कि प्रांतीय सरकार संकीर्ण विचारों से ऊपर नहीं उठ सकती है। केंद्र सरकार को स्थिति से मज़बूती से निपटना चाहिए। मेरा सुझाव है कि सुप्रीम कोर्ट के एक न्यायाधीश की अध्यक्षता में एक तीन सदस्यीय आयोग को इस प्रश्न पर विचार करने और आसाम और पंजाब इन दो राज्यों के लिए एक भाषा फॉर्मूले के सिफारिश करने के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए। उसकी सिफारिश सरकार के लिए बाध्यकारी होना चाहिए। जब विभिन्न समुदायों के बीच आपसी अविश्वास इतना तीव्र हो चुका है, तो कोई भी

संतोषजनक समाधान बातचीत से निकालना संभव नहीं है। आयोग की सिफ़ारिशों और उसके फलस्वरूप अधिनियमन के होने तक, यथास्थिति के पूर्व के भाषा अधिनियमों को ज़ारी रखा जाना चाहिए और विभिन्न समूहों को भी अपनी प्रत्यक्ष कार्रवाइयाँ और आंदोलन वापस लेना चाहिए।

—ऑर्गनाइज़र, मई 29, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

37

जनसंघ कांग्रेस की चुनौती स्वीकार करेगा

दिल्ली में आयोजित प्रेस वार्ता में दीनदयालजी का वक्तव्य।

"गोवा के मुक्ति-संग्राम के वेग को गतिहीन बनाने का उत्तरदायित्व पूर्णत: कांग्रेस सरकार पर है। अब श्रीमती अरुणा आसफ अली और कृष्ण मेनन सन् 62 के चुनावों को ध्यान में रखते हुए गोवा-विलयन के प्रश्न पर जनता को आकर्षित करने का प्रयास कर रहे हैं। इसे राजनीतिक चालबाज़ी के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है। इस प्रश्न पर जनता ने अपना अंतिम निर्णय एक मत से दिया है। गोवा को मुक्त करने का एक ही उपाय शेष बचा है, वह है सशस्त्र कार्रवाई। यह काम केवल सरकार ही कर सकती है, पर दुर्भाग्य से वर्तमान सरकार में इतना साहस ही नहीं है कि वह ऐसा कड़ा पग उठा सके।

जनसंघ आगामी चुनाव में विधानसभा की 1400 एवं लोकसभा की 295 सीटों पर अपने प्रत्यशी खड़े करेगा। सन् 57 में इन स्थानों के लिए क्रमश: 5 और 130 प्रत्याशी खड़े किए गए थे।

देश में सबसे अधिक विधायक उत्तर प्रदेश में हैं, अत: हम भी वहीं पर सर्वाधिक स्थानों पर चुनाव लड़ेंगे। यों पंजाब, बिहार, राजस्थान, महाराष्ट्र और मैसूर में भी अधिकाधिक स्थानों पर जनसंघ संघर्ष करेगा। दिल्ली की पाँचों सीटों पर हमारे प्रत्याशी होंगे।

प्रयाग से हम प्रत्याशी खड़े कर रहे हैं। यदि पं. नेहरू वहीं से खड़े हुए तो संघर्ष अनिवार्य है। इसी प्रकार सुरक्षा मंत्री मेनन यदि बंबई या पंजाब की प्रस्तावित सीटों से ही खड़े हुए तो जनसंघ उनका डटकर मुक़ाबला करेगा।

अगस्त के अंत तक चुनाव घोषणा-पत्र का प्रारूप तैयार हो जाएगा। मुख्य रूप से राष्ट्रीय सुरक्षा, एकता और विकेंद्रित नियोजन पर उसमें बल दिया जाएगा।

जनसंघ चुनाव समझौतों पर विश्वास नहीं करता। हाँ, स्थानीय परिस्थिति के अनुसार कांग्रेस, कम्युनिस्ट एवं मुसलिम लीग, अकाली दल या द्रविड कझगम जैसी सांप्रदायिक पार्टियों को छोड़कर अन्य दलों से सहयोग किया जा सकता है। स्वतंत्र पार्टी की निश्चित नीतियाँ जब तक निर्धारित नहीं हो जातीं, तब तक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

चीनी आक्रमण से जनता का ध्यान हटाने के लिए कम्युनिस्ट सांप्रदायिकता का हौवा खड़ा कर रहे हैं। दुर्भाग्य से कुछ ग़ैर-कम्युनिस्ट पार्टियाँ उनके इस षड्यंत्र की शिकार हो गई हैं। यदि सभी प्रमुख दल सांप्रदायिक दलों का राजनीतिक बहिष्कार कर देंगे, उनसे चुनाव समझौते न करें, न ही उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन करें तो सांप्रदायिकता अपने आप समाप्त हो जाएगी। देश में वयस्क मताधिकार की व्यवस्था स्वयं देश में सांप्रदायिकता को रोकने का सर्वाधिक प्रभावी शस्त्र है।

मुसलिम सम्मेलन को देशहित के विरुद्ध बताकर कांग्रेस द्वारा उसको दिए गए समर्थन की निंदा की तो एक पत्रकार ने व्यंग्य किया कि इससे तो अन्य पार्टियों का लाभ ही हुआ है।

यह तो ठीक है कि कांग्रेस का हर ग़लत काम विरोधी दलों को लाभ पहुँचाता है, पर इससे देश का बहुत बड़ा नुक़सान हो रहा है। हम देश के स्वार्थ से पार्टी के स्वार्थ को बड़ा नहीं समझते। अतः कांग्रेस की इन नीतियों से हमें कोई हर्ष नहीं।

जनसंघ आगामी चुनावों में विधानसभा के 1650 प्रत्याशी खड़े करेगा। सांप्रदायिक दलों पर प्रतिबंध लगाने की चर्चा है, लेकिन प्रतिबंध भावनाओं को नहीं दबा सकता। संकीर्ण भावनाओं को समाप्त करने के लिए भावात्मक योजना करनी चाहिए।

जनंसघ पर प्रतिबंध लगाने का कोई प्रश्न नहीं उठता। पर यदि सरकार ऐसे ग़लत मार्ग का अनुसरण करती है तो आप निश्चित रूप से समझ लें कि जनसंघ उस चुनौती का मुक़ाबला करने के लिए भी सिद्ध है।

भारतीय जनसंघ सांप्रदायिकता की ओर विशेष कर उन तत्त्वों की, जिनको पंचमांगी के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है, भयावहता के प्रति जागरूक रहने की आवश्यकता का अनुभव करते हुए भी यह उचित नहीं समझता कि राष्ट्र इस विषय पर किसी बौखलाहट का परिचय दे। जहाँ तक इस समस्या का शांति और व्यवस्था से संबंध आता है, शासन को उस विषय में सतर्कता और दृढता से काम लेना चाहिए। दूसरी ओर सभी राजनीतिक दलों को राष्ट्रीयता की भावना व कल्पना लेकर क्षणिक राजलाभ के मोह में न फँसते हुए समाज को मुसलिम लीग से भूतकाल में दिए गए कुसंस्कार से मुक्त कर

पूर्णतः राष्ट्रभाव बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

भारतीय जनसंघ पंजाबी एकता बनाए रखने के लिए कृतसंकल्प है। अकाली दल की पंजाबी सूबे की माँग को लेकर आंदोलन किए गए हैं, उसकी अनावश्यकता और असमर्थन स्पष्ट हो चुके हैं। यह खेद का विषय है कि मास्टर तारासिंह[1] अपने तर्कहीन विचार को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है तथा उसे अनशन द्वारा मनवाने की योजना बना रहे हैं। यह स्थिति इसी बात की परिचायक है कि वह व्यापक जन-समर्थन खोते जा रहे हैं। पंजाब सरकार ने हाल ही अकाली नेताओं की चारों ओर से गिरफ़्तारी करके बुद्धिमानी का परिचय नहीं दिया। ऐसा लगता है कि अकाली नेता और सरदार प्रतापसिंह कैरों,[2] दोनों ही अपना नेतृत्व बनाए रखने के लिए पंजाब में सामान्य स्थिति नहीं होने देना चाहते।

आवश्यकता है कि जनता दोनों को आपस में लड़ने के लिए स्वतंत्र छोड़कर अपनी वास्तविक समस्याओं, जैसे महँगाई, कर-वृद्धि, भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए प्रयत्नशील हो।

—पाञ्चजन्य, जून 26, 1961

□

---

1. मास्टर तारा सिंह (1885-1967) अकाली नेता, जिन्होंने पंजाब क्षेत्र में स्वायत्त पंजाबी भाषी राज्य के गठन को लेकर अराजक हिंसक आंदोलन किया था, बाद में इसके लिए उन्होंने 15 अगस्त, 1961 से आमरण अनशन किया, जो 43 दिन के बाद टूटा था।
2. प्रताप सिंह कैरों (1901-1965) पंजाब प्रांत के 1956 से 1964 तक मुख्यमंत्री रहे थे।

38

महान् नेता*

इस दौर में जब ऐसे नेता बहुतायत में हैं, जो भारत को एक-दूसरे के विरोधी टुकड़ों में खंडित करने (बल्कनाइज़) के लिए मरने की धमकियाँ देते हैं, तब भारतीय एकता की ख़ातिर आत्मबलिदान देने का दुर्लभ गौरव डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी को जाता है।

उन्होंने एकता का प्रचार नहीं किया, बल्कि उसका अनुशीलन किया। जिन लोगों ने नेहरू मंत्रिमंडल से उनके इस्तीफ़े[1] की अज्ञानतावश, या शरारतपूर्ण ढंग से बंगाली भावना की अभिव्यक्ति के रूप में व्याख्या की या ऐसा महसूस किया, उनके लिए डॉ. मुखर्जी द्वारा कश्मीर के हित के लिए उठ खड़े होना, कारावास स्वीकार करना एक बड़ा झटका था। यदि उनका हृदय पूर्वी बंगाल के हिंदुओं के कष्टों से लहूलुहान हुआ था, तो ऐसा इस कारण नहीं था कि वे बंगाली थे, बल्कि इस कारण था कि वे हिंदू थे, जिन्हें उनकी इच्छा के पूर्णतः विरुद्ध पाकिस्तानी भेड़ियों की दया पर छोड़ दिया गया था और जिनके जीवन तथा सम्मान के संरक्षण की ज़िम्मेदारी स्वतंत्र भारत का परम कर्तव्य था, और उन लोगों का कर्तव्य था, जो देश का विभाजन करने के लिए सहमत हुए थे। यह सिर्फ़ बंगाल के लिए नहीं, बल्कि पूरे देश के लिए एक समस्या थी। अगर नेहरू लियाकत की निकृष्ट संधि के समापन पर केवल पश्चिम बंगाल के मंत्रियों ने नेहरू मंत्रिमंडल से इस्तीफा दिया, तो यह उनकी संकीर्णता नहीं, बल्कि उन बाक़ी लोगों का

---

* देखें परिशिष्ट IV, पृष्ठ संख्या 246।

1. डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी (उद्योग मंत्री) और के.सी. नियोगी ने पाक प्रधानमंत्री लियाकत अली ख़ान के साथ हुए दिल्ली समझौते के मुद्दे पर नेहरू कैबिनेट से 6 अप्रैल, 1950 को त्याग-पत्र दिया। उन दोनों ने पूर्वी पाकिस्तान मे हिंदुओं के ख़िलाफ़ भारी नरसंहार का सख़्त विरोध किया, जिसके चलते वहाँ से बहुत से लोगों ने पलायन कर कोलकाता और बंगाल में शरण ली। मुखर्जी और नियोगी चाहते थे कि इस समझौते में पश्चिम पाकिस्तान के साथ ही पूर्वी पाकिस्तान की स्थिति पर भी विचार किया जाए, लेकिन नेहरू ने इनकार कर दिया था।

दोष था, जो पूरे देश के लिए अपमानजनक संधि पर अपमानित महसूस नहीं कर रहे थे।

आजकल अखिल भारतीय चेतना की कमी और विभाजनकारी प्रवृत्तियों के उदय पर काफ़ी चिंता व्यक्त की जाती है। वर्तमान स्थिति का कारण यह है कि भारत सरकार अब भारत की सरकार नहीं रह गई है, जो एक भारत है और जिसे एक ही भारत समझा जाना चाहिए। हमारे संघीय संविधान के बावजूद केंद्र सरकार के पास स्वेच्छाचारी राज्यों को सुधारने और फटकारने तथा यह सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त शक्तियाँ हैं कि देश की एकता ख़तरे में न पड़े। लेकिन केंद्र ऐसे कार्य करने के लिए हिचकता है, विशेष तौर पर तब, जब ग़लती करनेवाले राज्यों में कांग्रेस की सरकारें हैं। कांग्रेस हाई कमान कांग्रेस संगठन के छोटे-छोटे मामलों में भी हस्तक्षेप कर सकता है, और पंडित नेहरू उन लोगों को पद से हटाने के लिए, जिन्हें वह नापसंद करते हैं, और अपने उम्मीदवार को पदारूढ़ करने के लिए अपनी पूरी प्रतिष्ठा दाँव पर लगा देते हैं। लेकिन जिन मामलों में कोई भी सार्वजनिक मुद्दा शामिल हो और जिनमें राष्ट्रीय और जनता के हितों के लिए केंद्र की ओर से कार्रवाई की अपेक्षा हो, प्रधानमंत्री और केंद्र सरकार सदा ही विफल रहे हैं। वे निष्काम कर्मयोगियों की तरह उदासीन बनकर किनारे पर बैठकर पूरा तमाशा देखते रहते हैं। वे कुल मिलाकर स्थिति को सिर्फ़ और बिगड़ने के लिए छोड़ देते हैं। राष्ट्रपति की शक्तियों का इस्तेमाल किसी भी ऐसी कांग्रेस सरकार को बर्ख़ास्त करने के लिए नहीं किया गया है, जो जनता के प्रति अपने दायित्वों का निर्वहन करने में विफल रही है, बल्कि हमेशा किसी ग़ैर-कांग्रेसी सरकार को गिराने के लिए किया गया है, ताकि कांग्रेस को सत्ता हड़पने का एक ताज़ा अवसर मिल सके।

डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी सरकार की इस नीति का विरोध करनेवाले पहले व्यक्ति थे। प्रजा परिषद् ने अब्दुल्ला सरकार की सांप्रदायिक और अलगाववादी नीतियों के विरुद्ध आंदोलन शुरू किया और भारत के साथ राज्य के पूर्ण एकीकरण की माँग की थी। प्रधानमंत्री ने पूरी समस्या को एक व्यक्तिगत दृष्टिकोण से देखा। यदि आप डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी और भारत के प्रधानमंत्री के बीच चले पत्राचार को देखें, तो आप पाएँगे कि जहाँ पंडित नेहरू ने अपनी आस्था शेख़ अब्दुल्ला पर टिका रखी है, और उनकी सभी नीतियों का समर्थन किया है, वहीं डॉ. मुखर्जी ने लगातार संवैधानिक प्रावधानों पर ज़ोर दिया और वह चाहते थे कि लोगों की आवाज़ सुनी जाए, जिनका प्रतिनिधित्व प्रजा परिषद् द्वारा किया जाता है। यदि कश्मीर में अंततः लोगों को जीत हासिल हुई है, तो इसके लिए एक भारी-भरकम मूल्य चुकाया गया था। उन्होंने पहली बार अपने अधिकारों पर ज़ोर दिया और यह देखा कि एक जनविरोधी शासन सिर्फ़ इस कारण ज़ारी नहीं रह सकेगा, क्योंकि वह प्रधानमंत्री का कृपापात्र था।

अगला प्रकरण श्री मन्नथ पद्मनाभन पिल्लई का है, उन्होंने भी एक जन-आंदोलन

सफलतापूर्वक चलाया और प्रधानमंत्री की इच्छा के धुर विपरीत केंद्र सरकार को कार्रवाई करनी पड़ी और केरल में कम्युनिस्ट सरकार को बर्ख़ास्त करना पड़ा। हालाँकि श्री पद्मनाभन को स्थानीय कांग्रेसियों का समर्थन प्राप्त था, और माना जाता है कि उन्हें केंद्र में भी शक्तिशाली हस्तियों का समर्थन प्राप्त था। लेकिन श्यामाप्रसाद अकेले के ही बूते लड़े। उसके बाद से कई बार लोगों ने व्यर्थ ही केंद्र सरकार से अपील की कि उन्हें राज्य सरकार के अत्याचारों से बचाया जाए। पंजाब और आसाम स्पष्ट उदाहरण हैं। केंद्र सरकार की ओर से निष्क्रियता ने लोगों की नई दिल्ली के प्रति निष्ठा कमज़ोर कर दी है। यदि नई दिल्ली नव-सामंती हाकिमों के हाथों पीड़ित हो रहे लोगों के बचाव के लिए शीघ्रता से आगे नहीं आ सकती है, तो वह एक ऐसा केंद्रबिंदु भी नहीं रह सकती है, जिसकी ओर सभी राज्यों में समाज के सभी वर्ग आकर्षित होते हों। प्रधानमंत्री के उपदेशों की तुलना में लोगों को राष्ट्रपति के आदेश ज़्यादा बेहतर ढंग से एकजुट रख सकते हैं।

एक लोकतंत्रवादी के तौर पर डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी चाहते थे कि संसद् के व्यक्तित्व का विकास हो। संसद् की इच्छा को प्रधानमंत्री की इच्छा से भिन्न किया जा सके, इस तथ्य के बावजूद कि वह बहुमत के समर्थन पर नियंत्रण रख सकते हैं। लेकिन डॉ. मुखर्जी की असमय मृत्यु ने संसद् के विकास को अवरुद्ध कर दिया है। संसद् के विकास ने व्यवहार में (संसद् की) संप्रभु स्थिति को नकार दिया है। आज यह एक मुद्रांकन करनेवाली मशीन से अधिक कुछ नहीं है, जो प्रधानमंत्री के कहे को दोहरा देती है। स्वाभाविक रूप से, यह एक केंद्रीय और संप्रभु विधायिका में और ख़ुद महान् लोकतंत्र में भी लोगों की आस्था को भी एक झटका है। अगर हम भारत की एकता की रक्षा करना चाहते हैं, तो संसद् को लोगों के अधिकारों के सर्वोच्च अभिभावक के रूप में कार्य करने की ज़िम्मेदारी स्वयं पर लेनी होगी। यह नीरस बहस करके और फिर उस व्यक्ति के हुक़्म के आगे दब्बूपन से समर्पण करके संतुष्ट नहीं रह सकती है, जिसे उसने हुक्म देने और अनुशासित करने की ज़िम्मेदारी दे रखी है।

डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी में एक महान् सांसद और एक आंदोलनकारी दोनों के दुर्लभ गुणों का संयोग था। एक ऐसे देश में, जहाँ सत्तारूढ़ तानाशाह संसद् के प्रति सम्मान दिखाने के लिए तैयार नहीं है, एक आंदोलनकारी की भी भूमिका निभाना आवश्यक हो जाता है। वह हुगली और जमुना के पानी में आग लगा सकते थे, और यह सुनिश्चित कर देते थे कि संसद् में और संसद् के बाहर माहौल इतना गरम हो जाए कि शासक लोगों की माँगों के प्रति उदासीन न रह सकें। यही कारण है कि संसद् में समर्थकों की एक अल्प संख्या के बावजूद, वह हमेशा सदन का ध्यान आकर्षित कर सकते थे। लेकिन उनकी जैसी हैसियत के एक सांसद को रहस्यमय परिस्थितियों में हिरासत में मरना होता है और उनकी मृत्यु की जाँच नहीं होती है, न केवल भारत सरकार

के लोकतांत्रिक चरित्र पर धब्बा है, बल्कि इससे यह भी पता चलता है कि उनसे वंचित होने के बाद एक महान् संस्था कितनी शक्तिहीन रह गई है।

डॉ. श्यामाप्रसाद ने जीवन भर जिन दो उद्देश्यों का व्यग्रता से और पुरज़ोर शक्ति से अनुपालन किया था, वह एकता और लोकतंत्र हैं। आज ये दोनों उद्देश्य गंभीर ख़तरे में हैं। हम एक ऐसी स्थिति में पहुँच गए हैं, जिसमें शासकों के अलोकतांत्रिक चरित्र को अब और अधिक छिपाया नहीं जा सकता है। कोई तानाशाह, यदि वह शक्तिशाली हो, तो वह लोगों को उनके बहुमूल्य अधिकारों से वंचित कर सकता है, लेकिन वह उन्हें एकता और व्यवस्था दे सकता है। लेकिन अगर वह कमज़ोर हो, तो जनता दोनों तरीक़ों से नुक़सान में रहती है। च्यांग काई शेक इसका एक उदाहरण है। दुर्भाग्यवश, हम एक ऐसी ही स्थिति की दिशा में बढ़ रहे हैं। लोकतंत्र और राष्ट्रीय एकता के प्रेमी संतुष्ट रहना बर्दाश्त नहीं कर सकते। ऐसे अनेक लोग हैं, जो मेनन और मालवीय[2] की साज़िशों को विफल कर सकते हैं, और एक लोकतांत्रिक राष्ट्रीय भारत के लिए नेहरू और संसद् का मोचन करा सकते हैं। डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी को सहज पता होता था कि कब निर्णायक क़दम उठाना है। उन्हें पता था कि सरकार में कब शामिल होना है और कब इसे छोड़ना है। उन्होंने न तो कभी एक अवसरवादी लाभ के तौर पर पद ग्रहण किया और न कभी अपने दृढ विश्वासों के विपरीत जाकर उससे चिपके रहे, जिससे उनके विरोधियों ने उन्हें खदेड़ दिया हो।

आज देश में बड़ी संख्या में पूर्व मंत्री हैं, और वे सब कांग्रेस की नीतियों का विरोध कर रहे हैं। लेकिन वे यह दावा नहीं कर सकते कि उन्होंने सरकार में शामिल होने या सरकार से बाहर होने के लिए उचित समय चुना था। अभी भी कांग्रेस में ऐसे कई लोग हैं, जो उसकी नीतियों के निर्माताओं के साथ आँख से आँख नहीं मिला पा रहे हैं। लेकिन उनमें नक़ाब उतार फेंकने की हिम्मत नहीं है। वे धक्का देकर बाहर किए जाने की अपनी बारी का इंतजार कर रहे हैं। यदि डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के उदाहरण ने उन्हें प्रेरित किया होता और उन्होंने अपनी अंतरात्मा की आवाज सुनी होती तथा कुछ साहस दिखाया होता, तो भारत में लोकतंत्र और राष्ट्रवाद का भविष्य सुरक्षित होता। देश की सभी राष्ट्रवादी लोकतांत्रिक ताक़तें एकजुट हों और बल लगाएँ—विजय उनकी होनी है।

—ऑर्गनाइज़र, जुलाई 3, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

---

2. केशवदेव मालवीय (1904-1981) कांग्रेस नेता, जो डुमरियागंज क्षेत्र (उत्तर प्रदेश) से लोकसभा सदस्य तथा केंद्रीय खनन व ईंधन मंत्री थे, 1963 में भ्रष्टाचार का आरोप सिद्ध होने के बाद इन्हें नेहरू कैबिनेट से इस्तीफ़ा देना पड़ा था।

39

कांग्रेसियों ने लोकतंत्र के लिए ख़तरा उत्पन्न किया

हम लोगों ने संसदीय स्वरूप का जनतंत्र अपनाया है। संविधान के अंतर्गत दो आम चुनाव हो चुके हैं और तीसरा होने जा रहा है। किंतु केवल संसद् की स्थापना और उसके निर्वाचित सदन होने का अर्थ संसदीय जनतंत्र की विद्यमानता नहीं है। ये केवल बाहरी रूप हैं, जो उस स्थिति में अपना सारा महत्त्व खो देते हैं, यदि जनतंत्र के सफल संचालन के लिए आवश्यक आंतरिक वृत्ति का उन लोगों में अभाव हो, जो चुनाव में प्रत्याशियों के रूप में खड़े होते हैं और जनता के प्रतिनिधियों के रूप में चुने जाते हैं। यह सच है कि देश के मतदाताओं ने, जिनकी संख्या विश्व में सबसे अधिक है, चुनावों में गहरी रुचि दिखाई और उत्साह से भाग लिया। सबकुछ शांतिपूर्ण ढंग से संपन्न भी हुआ। यह इस बात का द्योतक है कि जनता मूलतः जनतांत्रिक और शांतिप्रेमी है।

किंतु जनता से भी उन लोगों के विश्वास का, जो सत्तारूढ़ हैं या जो सत्ता हस्तगत करना चाहते हैं, अधिक महत्त्व है, जिसके द्वारा इस देश में जनतंत्र की प्रगति का मार्ग सरल होगा और वर्तमान संस्थान जनता की इच्छा को साकार रूप देनेवाले प्रभावकारी साधन बन सकेंगे। हम यह मान लेने को उत्सुक हैं कि ऐसा विश्वास विद्यमान है। किंतु हमारी कल्पना ग़लत भी हो सकती है, और अच्छा यह होगा कि राजनीतिक स्थिति पर समुचित रीति से विचार और उसका विश्लेषण किया जाए, ताकि हम भ्रांति में न पड़े रहें। हमें अपने जनतांत्रिक अधिकारों को अक्षुण्ण और सुरक्षित रखने के लिए सभी आवश्यक क़दम उठाने में पीछे नहीं रहना चाहिए।

स्वतंत्रता के आगमन और संविधान की घोषणा के बीच की अवधि को, जब देश

के विभाजन से उत्पन्न समस्याओं, सत्ता के हस्तांतरण और देशी राज्यों के भारत के साथ एकीकरण के कारण विशेष कार्रवाइयों की आवश्यकता थी, एक असाधारण कालावधि के रूप में छोड़ा जा सकता है, किंतु उसके बाद सत्तारूढ़ दल (कांग्रेस) ने जिस प्रकार आचरण किया है, उसकी समीक्षा आवश्यक है और तब यह दिखाई देता है कि उसने ऐसा कोई उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया है, जिससे जनतंत्र में उसका विश्वास प्रकट होता हो। उल्टे, घटनाएँ विपरीत दिशा का ही संकेत देती हैं।

अब डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के स्तर के महान् सांसद की नज़रबंदी की स्थिति में रहस्यपूर्ण परिस्थितियों में मृत्यु हो जाए और सारे प्रकरण की जाँच न की जाए, यह एक ऐसी ज्वलंत घटना है, जिसने इस देश में संसदीय जनतंत्र के भविष्य के बारे में गंभीर शंका उत्पन्न कर दी। संसदीय पद्धति का अर्थ है विचार-विमर्श के आधार पर चलने वाली सरकार, और उस पद्धति में अधिकारारूढ़ व्यक्तियों को विरोधियों के दृष्टिकोण पर विचार करने तथा उसे मान्य करने के लिए सदा तैयार रहना होता है। इस पद्धति में अटल विश्वास के साथ डॉ. मुखर्जी ने प्रजा परिषद् के सत्याग्रह से उत्पन्न प्रश्नों पर विचार-विमर्श हेतु प्रधानमंत्री से मिलने के लिए बार-बार अनुरोध किया, परंतु प्रधानमंत्री ने एक ऐसे व्यक्ति से मिलने और कश्मीर-प्रश्न पर विचार-विमर्श करने से इनकार कर दिया, जो वस्तुतः विरोधी दल का नेता था। किसी अनभिज्ञ व्यक्ति को यह तर्क देकर शांत किया जा सकता है कि प्रधानमंत्री को संसद् में बहुमत का समर्थन प्राप्त था। किंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि संसदीय पद्धति में बहुमत-दल केवल सरकार का गठन करता है। देश का शासन सरकार के माध्यम से संसद् द्वारा किया जाता है। इस प्रकार विरोधी दल भी संसद् द्वारा उत्तरदायित्वों के सफल निर्वाह में योगदान करता है, अन्यथा राष्ट्रद्रोह और विरोधी दल के बीच कोई अंतर नहीं रह जाएगा।

कहा जाता है कि एक बार जब पश्चिमी एशिया के एक अतिथि शहंशाह का ब्रिटिश पार्लियामेंट में विरोधी दल के नेता से परिचय कराया गया और यह बताया गया कि उसे राजकोष से वेतन मिलता है, तब अतिथि शासक उलझन में पड़ गया। वह यह नहीं समझ पाया कि ऐसे व्यक्ति को, जो सरकार का विरोध करता है, सरकारी कोष से कैसे वेतन दिया जाता है। उसने कहा, ''हम तो ऐसे व्यक्ति को गोली मार देना पसंद करेंगे।'' किंतु ब्रिटेन में 'हिज़ मैजेस्टी की सरकार' के अतिरिक्त 'हिज़ मैजस्टी का विरोध-पक्ष' भी है। सरकार विरोधी दल को केवल सहन ही नहीं करती, बल्कि उसका विश्वास भी करती है। भारत में ऐसा प्रतीत होता है कि सत्तारूढ़ दल विरोधी पक्ष को तभी तक सहन करता है, जब तक उसके अधिकार को हानि नहीं पहुँचती। वह विरोधी-पक्ष का विश्वास नहीं करती।

जनतंत्र में सत्ता के प्रति उच्च स्तर की निरासक्ति आवश्यक है। भगवान् राम की

भाँति, जनतंत्र में राजनीतिज्ञ को, आह्वान मिलने पर सत्ता स्वीकार करने और क्षति की चिंता किए बिना उसका परित्याग कर देने के लिए भी सदा तैयार रहना चाहिए। एक खिलाड़ी की भाँति उसे विजय के लिए संघर्ष करना चाहिए, किंतु पराजय के लिए भी तैयार रहना चाहिए। यदि वह पराजय को गौरव के साथ नहीं शिरोधार्य कर सकता, और अपने प्रतिस्पर्धी को उसकी विजय के लिए बधाई नहीं दे सकता, तो वह जनतंत्रवादी नहीं है। यही वह भावना भी, जिसके साथ चर्चिल ने एटली को और एटली ने एडेन को सत्ता सौंप दी।[1] पर भारत में हमें क्या दिखाई देता है?

यहाँ वस्तुतः अभी तक ऐसी स्थिति नहीं आई है, जब जनता के निर्णय के परिणामस्वरूप संपूर्ण सत्ता कांग्रेस के पास से किसी अन्य दल को हस्तांतरित की जाए। फिर भी, कुछ राज्यों में कांग्रेस मंत्रिमंडल हटा दिए गए हैं और प्रतिष्ठा के उपचुनावों में कांग्रेस की पराजय हुई है। कांग्रेस नेताओं द्वारा—और प्रधानमंत्री द्वारा भी—अभिव्यक्त की गई प्रतिक्रिया बहुत अच्छी नहीं रही। इस प्रकार, नई दिल्ली लोकसभाई और कमला नगर (दिल्ली) नगरनिगम उपचुनावों में कांग्रेस प्रत्याशियों की पराजय के बाद उन लोगों ने जिस प्रकार का आचरण किया, वह इस बात को स्पष्ट प्रकट करता है कि उन लोगों ने अपना संतुलन खो दिया है और वास्तव में उनके मस्तिष्क की अजनतांत्रिक प्रवृत्ति ने अपने-आपको बेपरदा कर दिया है। कभी एक तर्क और कभी दूसरे तर्क के आधार पर जनसंघ पर प्रतिबंध लगाने की जो चर्चा चल रही है, वह इस बात की द्योतक है कि जनतंत्र और मूलभूत अधिकारों के प्रति कांग्रेस-नेताओं का कितना आदर है। यह सच है कि इस प्रकार का प्रतिबंध संभव नहीं है, क्योंकि इससे कांग्रेस की स्थिति और ख़राब हो जाएगी और इसलिए उसकी सफलता के अवसर भी घट जाएँगे, किंतु उन लोगों के मन में ऐसे विचारों का उदय होना भी जनतंत्र में एक पाप है। सभी राजनीतिक दलों पर प्रतिबंध लगाने वाले अयूब और केवल अपनी रुचि के अनुकूल दलों को ही उनका अस्तित्व बनाए रहने देनेवाले श्री जवाहरलाल नेहरू के बीच क्या अंतर है? जनतंत्र में यह पसंद जनता की होती है, शासनकर्ता की नहीं। यदि शासनारूढ़ व्यक्ति इस अधिकार का प्रयोग करने लगे तो वह निरंकुश अधिनायकवाद की स्थिति होगी, जनतंत्र की नहीं।

प्रत्येक व्यक्ति तब तक जनतंत्रवादी होने का स्वाँग कर सकता है, जब तक उसे जनसमर्थन प्राप्त है, किंतु जनतंत्रवादी बने रहने के लिए उस समय गहरी आस्था की आवश्यकता पड़ती है, जब आप हार जाएँ। कांग्रेसी तभी तक विश्वस्त कांग्रेसी है, जब

---

1. विन्सटन चर्चिल(1874-1965) ब्रिटेन के कंज़रवेटिव नेता, जो 1940 से 1945 तक ब्रिटेन के प्रधानमंत्री रहे, इनके बाद लेबर पार्टी के नेता क्लीमेंट रिचर्ड एटली, ब्रिटेन के 1945 से 51 तक प्रधानमंत्री रहे, फिर कंज़रवेटिव नेता एंथोनी एडेन, यूनाइटेड किंगडम के 1955 से 57 तक प्रधानमंत्री रहे।

तक उसे कांग्रेस-टिकट मिलता रहे, या इस व्यापक उद्योग में उसे सत्ता में भागीदारी मिलती रहे। किंतु यदि उसे कहीं टिकट नहीं दिया जाता तो उस महान् (!) संगठन के प्रति उसकी निष्ठा क्षण भर में छू-मंतर हो जाती है। कांग्रेस-नेता तब जनता के निर्णय के प्रति आदर व्यक्त कर सकते हैं, जब वह उनके पक्ष में हो, किंतु जिस क्षण जनता अपना निर्णय बदल देती है, अनेक प्रकार से उसकी और उसके द्वारा चुने गए प्रतिनिधि की भर्त्सना की जाती है और जनता को कांग्रेस के सामने सिर झुकाने को विवश करने के लिए सभी उपाय उचित समझे जाते हैं। वे लोग जनता की सरकार नहीं चाहते, बल्कि उन्हें विश्वस्त अनुचर जनता चाहिए, जो हर बार कांग्रेस सरकार के लिए मतदान किया करे।

अपने वर्तमान रुख़ के कारण कांग्रेसजन जनतंत्र के लिए भारी संकट पैदा कर रहे हैं। यहाँ तक कि पंडित जवाहरलाल नेहरू भी, जिन्हें सदा एक जनतंत्रवादी समझा जाता रहा है, इस आरोप से नहीं बच सकते। वस्तुतः यह उनके भाषणों एवं उनके सोचने के ढंग का ही परिणाम है कि कांग्रेस अजनतांत्रिक दिशा में बढ़ रही है। यह आवश्यक है कि सभी जनतंत्रप्रेमी इस समस्या पर गंभीरतापूर्वक विचार करें और भारत में किसी कैस्ट्रो के अभ्युदय के पहले ही निश्चयपूर्वक और प्रभावकारी पग उठाएँ।

—पाञ्चजन्य, जुलाई 10, 1961

□

40

हिंदू महासभा कम्युनिस्टों के हाथ का खिलौना न बने

प्रस्तावित 'हिंदू सम्मेलन' के निर्णय पर दीनदयालजी का वक्तव्य। यह वक्तव्य ऑर्गनाइज़र में 'पोलिटिकल डायरी' स्तंभ के अंतर्गत प्रकाशित हुआ।

मुसलिम सम्मेलन प्रतिक्रिया के रूप में अखिल भारत हिंदू महासभा ने हिंदू सम्मेलन करने का निर्णय किया है। जहाँ तक मुसलिम सम्मेलन का संबंध है, सभी राष्ट्रवादी तत्त्वों ने उसको अमानवीय माना है। सिवाय उन लोगों के, जिन्होंने उस सम्मेलन में भाग लिया अथवा उन दलों ने, जिन्होंने अपने तुच्छ राजनीतिक स्वार्थ के लिए उसे समर्थन दिया, चारों ओर से उस वृत्ति की निंदा की गई है, जिसके आधार पर मुसलिम सम्मेलन करने का विचार किया गया। सम्मेलन में दिए गए भाषणों से तो प्रधानमंत्री भी दुखित हुए हैं। निश्चित है कि अपने स्वत्व का पूर्ण विस्मरण करके मुसलिम संप्रदाय का सब प्रकार का तुष्टीकरण करने के उपरांत भी वे नेहरू की सरकार को उस सम्मेलन की ओर से यही प्रमाणपत्र मिले कि उनके राज्य में मुसलमानों के हित सुरक्षित नहीं हैं तो उन्हें घोर मनस्ताप हुए बिना नहीं रह सकता। कृतज्ञता के स्थान पर कृतघ्नता मिलने पर कौन दुःखी नहीं होगा? यदि इतने पर भी पं. नेहरू अपना संतुलन बनाएँ रखें तो यह उनकी सिद्धावस्था अथवा पूर्ण आत्म-विस्मृति का ही द्योतक है।

मुसलिम सम्मेलन के रूप में मुसलिम समाज में व्यापक रूप से व्याप्त सांप्रदायिकता तथा पृथकतावाद उमड़ा है। एक दृष्टि से यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि विभाजन के

उपरांत देश में अनेक लोग यह मान बैठे थे कि मुसलिम लीग द्वारा फैलाया गया दूषित विचार उसके समाप्त होते ही स्वत: मर गया है। पुराने मुसलिम लीगियों के कांग्रेस में सम्मिलित होने पर एकाएक राष्ट्रवादी करार दे दिया गया। किंतु टोपी बदलने से मन का कुसंस्कार नहीं बदलता। टोपी तो नीति के लिए भी बदली जा सकती है। हाल की घटनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पुरानी मुसलिम लीग की मनोवृत्ति का अंत नहीं हुआ है। वह मनोवृत्ति अब उपयुक्त अवसर देखकर फिर से खुले में आ रही है। कांग्रेस, प्रजा सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट तीनों दलों ने अपने-अपने ढंग से मुसलिम पृथकतावाद को बनाए रखकर उसके साथ सौदेबाज़ी करके अपने राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करने की कोशिश की है।

देश की राजनीति को स्वस्थ बनाने के लिए आवश्यक है कि मुसलमानों में फैले हुए इस रोग की चिकित्सा की जाए। कांग्रेस और हिंदू महासभा दोनों ही न तो रोग का सही निदान कर पाई हैं और न उनका इलाज कारगर हुआ है अथवा हो सकता है। कांग्रेस ने सदैव मुसलिम तुष्टीकरण का प्रयत्न किया है, जिसके कारण उनकी पृथकता की भावना को बल ही मिला है। उसकी दृष्टि सदैव राजनीतिक स्वार्थों की ओर रही है। वर्तमान में भी कांग्रेस के अध्यक्ष श्री संजीव रेड्डी ने मुसलमानों के सम्मेलन को तो अपना आशीर्वाद दे दिया किंतु हिंदुओं के प्रस्तावित सम्मेलन की उन्होंने भर्त्सना की है। स्वाभाविक है कि जो लोग हिंदू और मुसलमान को एक ही पलड़े में रखकर सोचने के आदी हों, उन्हें कांग्रेस अध्यक्ष की यह नीति विभेदकारी और अन्यायमूलक लगे। हिंदू महासभा उस अन्याय की प्रतिक्रिया के रूप में प्रतिरोध के लिए आगे बढ़ती है। वास्तव में कांग्रेस की नीति अन्यायमूलक तथा विभेदकारी नहीं अपितु आत्मविस्मृतिजन्य एवं आत्मघाती है।

हिंदू और मुसलमान को एक मापदंड से नहीं नापा जा सकता। हिंदू भारत का मूलत: राष्ट्रीय समाज है। भारत में मुसलमान राष्ट्रीय समाज का वह अंग है, जो ऐतिहासिक कारणों से उपासना पद्धति के परिवर्तन के साथ-साथ अपनी राष्ट्रीयता भी भूल चुका है। अभी तक राजनीति में जो प्रयोग हुए हैं, उसने उसका राष्ट्रीयकरण करने के स्थान पर अधिकाधिक पृथक्करण एवं अराष्ट्रीयकरण ही किया है।

केरल में मुसलिम लीग के साथ गठबंधन तो सभी की आलोचना का विषय रहा है, किंतु उर्दू और गाय के प्रश्न को लेकर इन दलों ने जिस प्रकार मुसलिम सांप्रदायिकता को जीवित रखा और उभारा, उसकी ओर अनेकों की दृष्टि नहीं गई है। ऐसे अनेक स्थान हैं, जहाँ पुरानी मुसलिम लीग का रूपांतरण कम्युनिस्ट पार्टी के रूप में हो गया है। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी ने भी 'कुत्ता कांड' के नाम पर मुसलमानों को अपने साथ लेकर पिछले आम चुनावों में काफ़ी लाभ उठाया था। मुसलमानों ने अभी तक इन तीनों में से

अकेले किसी का समर्थन नहीं किया है। यदि लखनऊ में वे श्री चंद्रभान गुप्त के विरुद्ध संगठित रूप से प्र.सो.पा. के प्रत्याशी श्री त्रिलोकी सिंह के पीछे रहे, तो काशी में श्री संपूर्णानंद के विरुद्ध कम्युनिस्ट उम्मीदवार श्री रुस्तम सैटिन को समर्थन दिया। मुरादाबाद में उन्होंने कांग्रेस के मुसलिम उम्मीदवार को हराकर स्वतंत्र मुसलमान को चुनकर भेजा। भोपाल में विधानसभा के लिए उन्होंने कम्युनिस्ट का समर्थन किया तो लोकसभा के लिए कांग्रेस का। हर स्थान पर उन्होंने अपना स्वतंत्र निर्णय लिया। फलतः उक्त तीनों दलों में मुसलमानों का समर्थन प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा और भी तीव्र हो गई। जबलपुर की घटनाओं को लेकर इनमें जो होड़ चली है, उसका परिचय सबको मिल चुका है। इन सबका परिणाम मुसलिम संप्रदायवादियों की साहस वृद्धि तथा अपनी कुत्सित भावनाओं को निर्लज्जना तथा निर्भयता के साथ प्रकट करने में न होता तो आश्चर्य होता।

मुसलमानों की अराष्ट्रीय माँगों की प्रतिक्रिया, कांग्रेस में दबने और तुष्टीकरण की हुई है, तो हिंदूसभा में विरोध और बहिष्कार की। किंतु प्रतिक्रियात्मक रूप में काम करने के कारण दोनों ही अपना विवेक और संयम खोकर चले हैं। साथ ही जिन कारणों से इन बुराइयों को बल मिलता हो उनको न देखना अथवा उनका निराकरण न करना भी सरासर भूल है। राष्ट्र वृत्ति-पराङ मुख शक्तियों को सही रास्ते पर लाने के लिए राष्ट्र में शक्ति, सत्य को निर्भयतापूर्वक कहने का साहस तथा भटके हुओं को सुधारने की सहानुभूति एवं अपनाने की उदारता भी चाहिए। इन सबके स्वर्ण-संयोग के बिना यह काम पूरा नहीं हो सकता। न तो उदारता के नाम पर शक्तिहीनता को छुपाया जा सकता है और न शक्ति का ढोंग करने के लिए अनुदार एवं विवेकहीन बनकर ही काम चल सकता है। कांग्रेस यदि एक का उदाहरण है तो हिंदू महासभा दूसरी का। दोनों ने हिंदू को उसके राष्ट्रीय धरातल से नीचे लाकर मुसलमान के समकक्ष एक संप्रदाय के रूप में लाकर खड़ा कर दिया है। मुसलमान को भी न तो हिंदू महासभाई मनोवृत्ति का मुक़ाबला करने में लज्जा मालूम होती है और न कांग्रेस का साथ देने में सात्त्विक आनंद। मुसलिम लीग ने उसे झूठी ही क्यों न हो, पाखंड एवं राष्ट्रीयता के लिए जीने और मरने का पाठ पढ़ाकर उसकी भावनाओं को आंदोलित किया था। यदि उसके कुसंस्कार दूर करने हैं, तो उससे अधिक वेगवान सच्ची राष्ट्रीयता, उससे अधिक मनमोहक वेगवान सच्चा स्वरूप उसके सामने रखना होगा। उसे अपने पतन पर लज्जा एवं उत्थान के प्रयत्नों पर गर्व का अनुभव कराना होगा।

विशुद्ध राष्ट्रभक्ति के प्रयास के बिना यह संभव नहीं। हिंदू महासभा ने इस अवसर पर हिंदू सम्मेलन का निर्णय लेकर कम-से-कम इस बात का परिचय नहीं दिया है। उसके अध्यक्ष ने कहा है। यह सम्मेलन हिंदू सभा का दलीय सम्मेलन न होकर सभी

राष्ट्रीय विचार के लोगों का विचार मंच होगा। जिन लोगों को आमंत्रण दिया गया है, उनमें कम्युनिस्टों का भी समावेश है। क्या कोई भी समझदार व्यक्ति एक क्षण को भी यह मान सकता है कि कम्युनिस्ट राष्ट्रवादी हो सकता है? किंतु हिंदू महासभा राष्ट्रविरोधी साम्यवादियों को लेकर अराष्ट्रवादी सांप्रदायिक मुसलमानों का विरोध करना चाहती है। पाकिस्तान के इशारे पर चलने वाली पंचमांगी शक्ति का सामना करने के लिए यह रूस और चीन के एजेंट का काम करनेवाली ताक़त का आश्रय लेना चाहती है।

क्या भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के राष्ट्र विरोधी कार्य-कलाप हिंदू सभा को ज्ञात नहीं? चीनी आक्रमण का खुला समर्थन कर उसकी आक्रामक सेनाओं को मुक्ति सेना घोषित करनेवाले लोगों को राष्ट्रीय रंगमंच पर सम्मान का स्थान प्रदान करना क्या उचित है? साम्यवादी दल देश की दुरवस्था का लाभ उठाकर सर्वत्र अशांति उत्पन्न करने का भरसक प्रयत्न कर रहा है। बंगाल के खाद्य आंदोलन[1] से लेकर गोवा मुक्ति तक के अनेक प्रश्नों को लेकर उसने जनमत का प्रवाह बदलने की कोशिश की है। जबलपुर की घटनाओं का भी उसने सर्वाधिक दुरुपयोग किया है। कांगो के प्रश्न, लुमुंबा की मृत्यु आदि प्रश्नों को लेकर वह भारत के राष्ट्रीय वातावरण को अंतरराष्ट्रीयता के घनांधकार तक आच्छन्न करना चाहता है। मेजर गागरिन[2] को भारत में बुलाकर एक बार पुनः वह जनता के सामने खड़ा होना चाहता है। दूध की मक्खी की तरह जिसको सभी राजनीतिक दलों ने निकालकर बाहर फेंक दिया उसको हिंदू महासभा का सहारा है। सांप्रदायिकता का हौवा करके कम्युनिस्ट राष्ट्रवादी दलों की पंक्ति में बैठना चाहता है। हिंदुत्व का नाम लेकर चलने वाली हिंदू महासभा को यह समझ नहीं आता?

आज हिंदू सम्मेलन की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता राष्ट्रीयता की भावात्मक एकता को लेकर रचनात्मक कार्य करने की है। अच्छा हो कि हिंदू महासभा तथा मुसलिम लीग आदि संस्थाएँ अंग्रेज़ों के समय को भुलाकर स्वतंत्र भारत की स्वतंत्र एवं राष्ट्रवादी राजनीति का निर्माण करें। जिन परिभाषाओं एवं कल्पनाओं को लेकर 1947 से प्रतिस्पर्धी राजनीतिक गतिविधि चलती थी, अब उनके लिए स्थान नहीं बचा। अब न तो सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व है और न स्वतंत्रता प्राप्ति की लालसा में जैसे-तैसे कुछ भी पा लेने की जल्दबाज़ी ही आवश्यक है। अब संविधान प्रदत्त समान अधिकार के आधार

---

1. प. बंगाल में जनता ने बाजार में खाद्यान्नों की कमी, बढ़ी हुई क़ीमतों, ज़मींदारों-जखीरेबाज़ों और कांग्रेस शासन के विरुद्ध 1959 में व्यापक खाद्य आंदोलन छेड़ दिया था। 31 अगस्त के दिन कोलकाता के शहीद मीनार मैदान में लगभग तीन लाख लोगों की एक विशाल सभा हुई। जुलूस पर हुए पुलिस दमन से 80 लोगों की जानें गईं, तीन हज़ार से ज़्यादा लोग ज़ख्मी हुए थे।
2. यूरी गागरिन (1934-1968) सोवियत संघ के अंतरिक्ष यात्री, 12 अप्रैल 1961 को अंतरिक्ष में जाने वाले प्रथम मानव थे। 29 नवंबर, 1961 को इन्होंने भारत की यात्रा की थी, इनकी यात्रा पर भारत सरकार ने 2 दिसंबर को विशेष आवरण डाक टिकट का अनावरण किया था।

पर देश की राजनीति चलाना होगा। वह भारत की पुरातन संस्कृति की अभिव्यक्ति करे, यही सबका लक्ष्य होना चाहिए। यही लक्ष्य देश के सभी लोगों को अनुप्राणित कर सकेगा और इस आधार पर ही राष्ट्र के विकास एवं समृद्धि की नीति बन सकेगी। राजनीति की दृष्टि से यह स्थायी आधार अंततः लाभकर सिद्ध होगा।

—पाञ्चजन्य, जुलाई 17, 1961

□

41

पाकिस्तान को अमरीकी सैन्य-सहायता

यह आलेख पुनः 'पोलिटिकल डायरी' (पुस्तक) 1971 में प्रकाशित हुआ तथा पाञ्चजन्य में भी दि. 24 जुलाई को ही इसका हिंदी अनुवाद 'अमरीका के लिए निर्णय की घड़ी' शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

यह कह सकना कठिन है कि पाकिस्तान के राष्ट्राध्यक्ष जनरल अयूब ख़ान की अमरीकी-यात्रा[1] का उद्देश्य सफल हुआ है या नहीं। फिर भी, यह स्पष्ट है कि अपने जन्म-काल से पाकिस्तान भारत के विरुद्ध जो कट्टर द्वेष की भावना रखता आया है, वह ज्यों की त्यों चल रही हैं। अयूब ख़ान की अमरीका-यात्रा का एक उद्देश्य भारत के विरुद्ध विष-वमन करना था, और इस उद्देश्य को उन्होंने तहेदिल से पूरा किया है। प्रेसीडेंट केनेडी और जनरल अयूब ने वार्ता के बाद जो संयुक्त विज्ञप्ति ज़ारी की है, उससे इस बात का आभास मिल जाता है कि पाक राष्ट्राध्यक्ष के भारत-विरोधी अभियान का अमरीकी सरकार एवं अमरीकी जनता के मानस-पटल पर कितना प्रभाव पड़ा है। स्पष्ट है कि अयूब ख़ान अमरीका के साथ अपनी मैत्री का प्रयोग इस प्रकार करना चाहते हैं कि अमरीका भारत के प्रति शत्रुभाव रखने लगे। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेसीडेंट केनेडी ने इस दिशा में उन्हें उपकृत नहीं किया है। कश्मीर के प्रश्न पर भी केनेडी ने शीघ्र और शांतिपूर्ण समाधान की आशा व्यक्त की है। स्पष्टतः वर्तमान परिस्थितियों में अमरीका पाकिस्तान को इसकी अनुमति नहीं दे सकता कि वह कश्मीर के प्रश्न का बहाना लेकर भारत के विरुद्ध युद्धक अभियान करे।

संयुक्त विज्ञप्ति में उल्लिखित सैनिक सहायता के संदर्भ में दो भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ

---

1. पाकिस्तान ने अमरीका के साथ 1954 में परस्पर रक्षा सहयोग समझौता (म्युचुअल डिफेंस असिस्टेंस एग्रीमेंट) पर हस्ताक्षर किया, जिसके तहत पाक सैनिक प्रशिक्षण के लिए अमरीका गए तथा अमरीका ने रावलपिंडी में सैन्य सहायता सलाहकार समूह (एम.ए.ए.जी) की स्थापना की थी।

प्रस्तुत की जा रही हैं। सहायता के 'विस्तार' का एक अर्थ यह हो सकता है, समय का विस्तार, अर्थात् अधिक समय तक सहायता जारी रखी जाए और दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि सहायता की मात्रा में विस्तार किया जाए। यदि उसमें पहला अर्थ अभिप्रेत है तो इसका अर्थ केवल इतना है कि अमरीका-पाक संधि जारी रहेगी। फिर भी यदि विज्ञप्ति का अर्थ पाकिस्तान को अधिक मात्रा में सैनिक सहायता है, तो निश्चय ही भारत के लिए यह चिंता का कारण है। अमरीका में अयूब ख़ान ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वर्तमान में भारत और पाकिस्तान के बीच शक्ति-असंतुलन विद्यमान है और पाकिस्तान की सैनिक शक्ति को भारत की अपेक्षा ऊँचे स्तर पर भले ही न ले जाया जाए, किंतु यदि भारत के समकक्ष नहीं पहुँचा दिया जाता तो पाकिस्तान के अस्तित्व को सदैव ख़तरा बना रहेगा। अब एक ऐसी सरकार, जिसने भारत के विरुद्ध सतत जेहाद का उन्माद बनाए रखा है और जिसने भारत में असंख्य पंचमांगियों की फ़ौज बना रखी है, और जो उनके माध्यम से सदा ही भारत की सुरक्षा और शांति में बाधा पहुँचाने के लिए प्रयत्नरत रही है, अपने अस्तित्व के ख़तरे के बारे में यदि इतना शोर मचाती है तो वह इस बात का संकेत है कि पाकिस्तान के शासक न केवल भारतद्रोही हैं, अपितु काँइयाँ भी हैं।

यदि भारत वास्तव में पाकिस्तान का अस्तित्व समाप्त करने का इच्छुक होता तो 1947 के बाद से ऐसे अवसरों की कमी नहीं रही, जब भारत ने वैसा सरलता से कर दिया होता। किंतु भारत के शासकों ने उस प्रत्येक अवसर पर क्रुद्ध जनमत की घोर अवहेलना की, और इतना ही नहीं, वे पाकिस्तान को प्रसन्न करने के लिए उसे रियायतों के बाद रियायतें प्रदान करते रहे। अब इतने पर भी यदि पाकिस्तान अपने अस्तित्व के बारे में सचमुच आशंकित है तो निश्चय ही ये उसके मन के पाप हैं, जो उसे त्रस्त बना रहे हैं।

अमरीकी जनता की कम्युनिस्ट-विरोधी भावना का लाभ उठाने की नीयत से पाकिस्तान के राष्ट्राध्यक्ष उससे यह कहते रहे हैं कि चीनी सीमा पर भारतीय सेना की एक अत्यंत छोटी टुकड़ी तैनात है। वे जो कुछ कहते हैं, उसमें सच्चाई हो सकती है, किंतु क्या वे इस बात की उपेक्षा कर सकते हैं कि स्वयं पाकिस्तान का रवैया ही इसके लिए उत्तरदायी है? हम चीनी आक्रमण को रोकना तो चाहते हैं, पर पाकिस्तान की नीयत की ओर से आँख मूँदे रखकर नहीं। यदि पाकिस्तान की नीयत शांतिपूर्ण होती तो भारत आश्वस्त रहकर अपनी पूरी शक्ति को चीन का समाना करने के लिए केंद्रित कर सकता था। किंतु जैसी स्थिति है, हमें दो मोरचों पर लड़ना है।

वस्तुस्थिति यह है कि पाकिस्तान के साथ सैनिक संधि करके अमरीका ने कम्युनिस्ट चीन के विरुद्ध युद्ध में भारत के हाथ को दुर्बल कर दिया है। अब आज यदि पाकिस्तान को सैनिक सहायता की मात्रा बढ़ा दी जाती है, तो उसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि भारत को अपनी पाकिस्तानी सीमाओं की ओर अधिक ध्यान देने के लिए विवश

होना पड़ेगा। अमरीका को यह निर्णय करना पड़ेगा कि उसकी इच्छा क्या है—क्या वह गुटविहीन स्वतंत्र भारत को पाकिस्तानी ख़तरे से मुक्त रखते हुए इस स्थिति में देखना पसंद करता है कि वह लाल ख़तरे के विरुद्ध पूरी शक्ति लगा सके? या वह इस बात का इच्छुक है कि भारत का ध्यान कई मोरचों पर बँटा रहे? 'स्वतंत्र विश्व' के लिए कौन अधिक उपयोगी होगा—जनतंत्र की क़ब्र पर स्थापित सैनिक तानाशाहीवाला देश पाकिस्तान या जनतांत्रिक भारत? आज भारत की सेनाएँ दो बड़े मोरचों पर विभक्त हैं, जबकि पाकिस्तानी सेनाएँ भारत या अफगानिस्तान की सीमाओं पर तैनात हैं। पाकिस्तान कहाँ और कैसे कम्युनिस्टों से लड़ रहा है?

सच्चाई यह है कि जिस क़ानून के अंतर्गत अमरीका ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता दी है, उसका उद्देश्य कम्युनिस्ट शक्तियों का दमन करना है। केवल इसी उद्देश्य के लिए ऐसी सहायता की अनुमति है। अभी तक तो पाकिस्तान के संबंध में इस उद्देश्य की पूर्ति के बारे में पूरा ध्यान नहीं दिया गया है, और यदि अमरीका द्वारा उसे दी जाने वाली सैनिक सहायता में और वृद्धि की जाती है तो उसका यह कार्य स्वयं उसी के विधान के विपरीत होगा।

भारत की राष्ट्रीय भावना को पाक-अमरीका-सैनिक-सहायता-संधि से गहरा आघात लगा है और उसके परिणामस्वरूप भारत-अमरीका-संबंधों में तीव्र कटुता उत्पन्न हो गई है। कालांतर में, और चूँकि अमरीका सरकार ने भारत की तटस्थता की नीति को धीरे-धीरे पसंद करना आरंभ कर दिया था, दोनों देशों की जनता के बीच तनाव में कमी आ गई थी। यदि अमरीका अपनी पूर्व भूल को दुहराता है तो निश्चय है कि अमरीका विरोधी भावना पुनः उमड़ पड़ेगी। यहाँ के कम्युनिस्ट, चीन और रूस के हित में, इस स्थिति से लाभ उठाने में तनिक भी नहीं चूकेंगे। कम्युनिस्ट देशों के साथ भारत के संबंधों से यहाँ के कम्युनिस्ट पहले से ही राजनीतिक लाभ उठाते आ रहे हैं। प्रधानमंत्री अमरीका जाते समय रूस जाने का विचार कर रहे हैं। यदि अमरीका इस बात का इच्छुक है कि भारत में कम्युनिस्टों की प्रगति को सशक्त ढंग से रोका जाए, तो उसके लिए आवश्यक है कि वह भारत की राष्ट्रीय भावनाओं को समझे। पाकिस्तान किसी अन्य देश का पिछलग्गू बनने के लिए अपने स्वाभिमान को दबा सकता है, पर गौरवशाली और स्वाभिमानी भारत वैसा कदापि नहीं कर सकता। इसलिए कम्युनिस्ट के विरुद्ध संघर्ष करते समय अमरीका को भारत की स्वतंत्रता एवं उसके राष्ट्रीय स्वाभिमान का आदर करना पड़ेगा।

—ऑर्गनाइज़र, जुलाई 24, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

42

सन् 1962 के चुनाव में राजधानी में जनसंघ कांग्रेस को पराजित करेगा

दिल्ली के मंडल-पदाधिकारियों के सम्मेलन में दीनदयालजी का भाषण ।

"हमारे लिए यह गौरव का विषय है कि भारत की राजधानी में जनसंघ कांग्रेस के प्रमुख प्रतिद्वंद्वी के रूप में प्रकट हुआ है। पर हम तो सन् 62 के उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जब राजधानी में जनसंघ केवल कॉरपोरेशन ही नहीं, दिल्ली से लोकसभा के प्रतिनिधित्व में भी प्रथम पार्टी के रूप में प्रगट होगा। मुझे यह विश्वास है कि सन् 62 में राजधानी में जनसंघ सत्तारूढ़ दल को अवश्यमेव पराभूत करेगा। जो लोग सन् 52 या 57 के चुनावों के आधार पर 62 के चुनावों का निष्कर्ष निकालने की कोशिश करते हैं, आगामी आम चुनावों के परिणाम उनके निष्कर्षों को ग़लत सिद्ध करेंगे। हालाँकि घटनाओं ने भारत की राजनीतिक धारा में एक ज़बरदस्त मोड़ पैदा किया है। कांग्रेस और कम्युनिस्टों का बढ़ता हुआ मेल-जोल और विशेष रूप में भारी प्रमाण में कम्युनिस्टों की कांग्रेस में घुस-पैठ ही इस मोड़ के लिए ज़िम्मेदार है। चारों ओर जनसंघ को भारतीय जनता का जो अपूर्व सहयोग मिल रहा है, वह भी इस परिवर्तन का संकेत है।

जनसंघ की इस सफलता का प्रमुख कारण है हमारे कार्यकर्ताओं की ध्येय-निष्ठा। सिद्धांत और व्यवहार की एकरूपता तथा किसी भी मूल्य पर सिद्धातों के साथ समझौता न करने की वृत्ति सचमुच ही हमारे लिए अभिमान की वस्तु है।

जनसंघ भावात्मक अधिष्ठान पर कार्य करता है, जबकि कई बार लोग कांग्रेस को हराने के उद्‌देश्य से एकत्र हो जाते हैं। हम भी कांग्रेस को हराना अवश्य चाहते हैं, पर उसके लिए हम केवल यह निषेधात्मक आधार लेकर ही नहीं चलते। देश की राजनीति को सही दिशा देने का भावात्मक अधिष्ठान ही हमारी प्रेरणा का स्रोत है।

चुनाव की तैयारी के संबंध में हम लोग परिश्रमपूर्वक सक्रिय हैं। फिलहाल आप लोग चुनाव की योजनाओं को अंतिम रूप देने एवं अपने सभी साधनों को बटोरने में व्यस्त हैं। मुझे आपसे केवल एक ही आग्रह करना है कि अपने लक्ष्य निर्धारित करते समय आप कृपणता का आश्रय न लें। हमारी योजनाएँ साहसी एवं महत्त्वाकांक्षी होनी चाहिए। आप विश्वास रखें कि जनता उस कल्पतरु के समान है, जिससे आप जो भी माँगेंगे, आपको अवश्य प्राप्त होगा।''

—पाञ्चजन्य, अगस्त 7, 1961

□

43

संघ शिक्षा वर्ग, बौद्धिक वर्ग : नई दिल्ली

हम लोग हिंदू समाज का संगठन करने का उद्देश्य रखकर काम कर रहे हैं। जब यह विचार करते हैं तो कुछ विचार सहज रूप में हमारे सामने आते हैं। वह मानव समूह जो हिंदू नाम से विख्यात है, उसमें एकता, परस्पर प्रेम, विश्वास और सद्भावना पैदा करना है। संगठन के माने ही अनेक लोगों को इकट्ठे रखना है। यदि वह अलग रहें तो हम कहते हैं कि उनमें फूट है, भेद अथवा विघटन है। संगठन को दिशा देनेवाली एक कहानी सबने पढ़ी होगी।

एक बाप ने मरने से पहले अपने पुत्रों को एकता की महत्ता समझानी चाही। उसने अपने पुत्रों के हाथ में एक-एक लकड़ी देकर उसे तोड़ने को कहा। सबने उसे तोड़ दिया। तब उसने उन लकड़ियों को इकट्ठा रखकर एक धागे से बाँध दिया। उसने इसे तोड़ने के लिए पुत्रों से कहा, पर इसे कोई भी तोड़ न सका। तो बाप ने कहा कि लकड़ियों की तरह अलग-अलग रहने पर कोई किसी को कभी भी नुक़सान पहुँचा सकता है। सो हमें भी हिंदू समाज को संगठित रखने का महत्त्व पता है। ऐसा कौन-सा सूत का धागा कश्मीर से कन्याकुमारी तक फैले हिंदू लोगों को बाँध सकेगा? इतना बड़ा रस्सा भी नहीं हो सकता, पर रस्से जैसी बाहर की वस्तुएँ तो जड़ चीज़ों को ही बाँध सकती हैं। चैतन्य प्राणियों के लिए अंदर की चीज़ ही बाँधने को चाहिए। तो विचारों का रस्सा ही हमें आपस में बाँध सकता है। घनिष्ठ मित्रों के बारे में एक कहावत है—'दो शरीर और एक आत्मा', यह कहावत बहुत बड़े सत्य का प्रतिपादन करती है। यदि अनेक मित्र हों तो अनेक शरीर होंगे परंतु उनकी आत्मा एक होगी। ऐसे ही एक जन-समूह या समाज संगठित होता है। यह बात अनेक प्रकार से बताई गई है। भगवान् के अनेक बाहु, आँखें, पैर, सिर कहे जाते हैं पर उसकी आत्माएँ अनेक नहीं होतीं। समाज के भी हज़ारों हाथ, पैर, नाक-कान हो

सकते हैं, पर आत्मा एक होने पर ही उस समाज को संगठित किया जा सकेगा।

हिंदू समाज का संगठन यानी हिंदू नामधारी व्यक्तियों को केवल एक साथ बाँध देने का काम ही अपना नहीं है, बल्कि जब उनकी प्रेरणाशक्ति एक हो जाएगी, तब समाज संगठित हो गया, ऐसा मान सकते हैं। जब हम हिंदू समाज के संगठन की बात सोचते हैं, तो आज के ही समाज की बात नहीं सोचते। समाज का बाह्य स्वरूप तो स्थायी नहीं होता। संख्या घटती-बढ़ती रहती है। संख्यात्मक आकार कम-अधिक होता रहता है।

हमारा ध्यान भूतकाल की ओर जाता है। हम हिंदू हैं, भगवान् राम भी हिंदू थे। उनसे भी हमारा संगठन होना चाहिए। हज़ारों वर्ष पहले के अपने पुरखों से भी अपना नाता-रिश्ता स्थापित होना चाहिए, अन्यथा हमारे जीवन में कल और आज के बीच एक दीवार खड़ी जो जाएगी, यानी हम संपूर्ण प्राचीन अतीत को भूलकर आगे चलेंगे जो कि संभव नहीं है। जब हम संगठन का विचार करते हैं तो देश और काल को व्याप्त करनेवाले मानव समूह को एकता के सूत्र में बाँधने का विचार आता है। आज का अथवा भूतकाल का ही नहीं, तो जो आगे आवेंगे, वह भी इस संगठन में बँधे आएँगे, संगठन का यह आधार रहता है। जिस आधार पर मानव संगठन होता है और जिससे वह मानव समूह जाना जाता है, वह वस्तु है आत्मा।

उस आत्मा को संस्कृति नाम दिया गया है। संस्कृति माने उस मानव समूह की आत्मा, जिसे राष्ट्र कहा जाता है। एक सा काम करनेवालों को एक नाम मिलता है, जैसे लुहार, विद्यार्थी, व्यवसायी आदि। इसी प्रकार से उस मानव समूह को राष्ट्र कहा जाता है, जिसकी एक संस्कृति हो। जितनी संस्कृतियाँ होंगी, उतने ही राष्ट्र कहे जाएँगे। वास्तव में यह संस्कृति ही है जो करोड़ों लोगों को आपस में मिला देती है। यही बाक़ी के लोगों में भेद पैदा करती है। इसी के कारण एक देश में रहनेवाले लोग भी अलग-अलग हो जाते हैं, जैसे पाकिस्तान में रहनेवाला हिंदू वहाँ का नागरिक होता है, पर राष्ट्रीय नहीं। उसकी संस्कृति उसे हमारे साथ जोड़ती है। एक देश में रहने मात्र से लोग नहीं जुड़ते। जब तक संस्कृति का भाव उनमें नहीं आएगा, तब तक जुड़ेंगे भी नहीं। जोड़ने वाली चीज़ है संस्कृति।

जोड़ने वाली चीज़ है यह तो कह दिया, पर प्रश्न पैदा होता है कि संस्कृति है क्या? इसक स्वरूप क्या है? भारतीय अथवा हिंदू संस्कृति कौन सी है? यह समझना बड़ा आवश्यक है। संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा का शब्द है। इसका भाव यह है कि किसी भी चीज़ पर जो संस्कार किया जाता है और संस्कार करने के बाद जो बनती है, उसे संस्कृति कहते हैं। संस्कृति के साथ हम प्रकृति का भी विचार कर लें तो ठीक रहेगा। जो दिखता है अथवा जो मूल रूप में अपने को मिलता है, वह प्रकृति होती है। उस पर संस्कार करने से संस्कृति बन जाती है। जैसा कि करेले की एक प्राकृत अवस्था है। उस अवस्था में उसे कितने लोग खाना चाहेंगे? वह कड़वा होता है। पर उसे छीलकर, नमक लगाकर, मसाला

उसमें भरकर जब तला जाता है तो वह बहुत मज़ेदार बन जाता है। उसको संस्कृत करने पर वह काम की चीज़ बन गया। कपास को संस्कारित करके कपड़ा तैयार किया जाता है। उसे काटा जाता है, सिया जाता है, तब वह पहनने के काम आता है। कपास तो शरीर ढकने के काम नहीं आएगी। ऐसे ही ऊँची-नीची ज़मीन को कूट-काटकर सड़क बना ली जाती है। मानव के अतिरिक्त हम सब चीज़ों पर परिवर्तन-संस्कार करके उन्हें प्रयोग में लाते हैं।

मनुष्य भी प्राकृत अवस्था में पैदा होता है। जैसा पैदा हुआ उसे उसी अवस्था में नहीं रहने देते। मानव को मानव के उपयोग योग्य तैयार करते हैं। जन्म से बच्चा रोना छोड़कर कुछ नहीं जानता। भूख लगने पर, पीड़ा होने पर अथवा कुछ माँगने के लिए वह केवल रोने लगता है। उसे हम मन की बात व्यक्त करने के अनेक तरीक़े सिखाते हैं। नाराज़ होने पर चुप रहना भी मन को व्यक्त करने का एक तरीक़ा है। बच्चे को बोलना, खाना, पीना, उठना, बैठना सिखाते हैं। उसके शरीर पर तरह-तरह के संस्कार डालते हैं। उसे इस योग्य बना देते हैं कि वह चार लोगों में बैठ सके। मन तथा शरीर पर संस्कार डालने से प्राकृत अवस्था में और रोज़ के व्यवहार में अंतर आ जाता है। तो मानव के ऊपर जो उससे परिवर्तन होते हैं, संस्कार आता है, स्वभाव और ध्येयवाद बनता है। उन सबका समुच्चयवाचक शब्द समाज की संस्कृति कहलाता है। मानव को छोड़ अन्य चीज़ों की प्रकृति में ऐसा परिवर्तन करना कि मानव उनसे अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण कर सके, यह सभ्यता है। शिक्षा व दीक्षा के द्वारा मानव अपने लिए अपने अंदर जो परिवर्तन करता है, वह संस्कृति है। दोनों में ही प्राकृत अवस्था परिवर्तित होती है।

क्या केवल पविर्तन मात्र मनुष्य में संस्कृति मानी जाएगी? नहीं! प्रकृति, संस्कृति के समान ही एक और शब्द है विकृति। प्राकृत अवस्था से दोनों ओर बढ़ सकते हैं। संस्कृति की ओर भी और तथा विकृति की ओर भी। करेले में कुचला मिलाकर उसे और कड़वा कर दें तो वह उसकी विकृत अवस्था है। उसे पकाकर खाना संस्कृति है। एक ही चीज़ में परिवर्तन करने से संस्कृति भी हो सकती है विकृति भी। अच्छाई भी हो सकती है और बुराई भी। इसका निर्णय कैसे हो? प्रकृति में शरीर की धारणा न होकर रोग पैदा हो तो विकृति है। संस्कृति का निर्धारण परिवर्तन से नहीं होता, दिशा से होता है। अतः दिशा का ज्ञान होना चाहिए। यदि दिशा का पता लग जाए तो हम स्पष्ट कह सकते हैं कि यह संस्कृति है और यह विकृति।

—अगस्त 9, 1961

□

44

संघ शिक्षा वर्ग, बौद्धिक वर्ग : नई दिल्ली

सामान्य प्रकृति में योग्य दिशा के लिए परिवर्तन किए जाते हैं। वह योग्य दिशा कौन-सी है? इसका हमें विचार करना है। मनुष्य ने जन्म लिया तो जन्म लेने के बाद उसे क्या करना चाहिए? उसके लिए सुखकारक वस्तुएँ कौन सी हो सकती हैं? सुख की अभिलाषा अत्यंत सामान्य अभिलाषा है। सुख की अभिलाषा क्यों है? वह ठीक है या ग़लत, इसका विवेचन करना कठिन है। इसे स्वयंसिद्ध, स्वयंभू मानकर विचार करते हैं। यह सत्य है कि सब सुख चाहते हैं। सुख कहाँ है, इस दृष्टि से जिन्होंने जिस दिशा का विचार किया, वही दिशा उनकी संस्कृति बन गई। पश्चिम में भौतिक आवश्यकताओं की सिद्धि में ही सुख माना है। संपूर्ण जीवन रचना इसी के आधार पर की गई। उसकी प्राप्ति के लिए सब शिक्षा-दीक्षा और प्राकृतिक संपदा पर विचार किया गया। पर हमारे यहाँ भौतिक सुख का विचार हुआ और इससे आगे भी मनुष्य के सुख का विचार किया गया। रोटी मिल जाने के बाद मन की भूख भी पूरी करनी होती है। मनुष्य को बुद्धि का सुख भी चाहिए। उससे भी आगे आत्मा का सुख चाहिए। इसलिए जिससे भौतिक व आत्मिक दोनों सुख प्राप्त हो सकें, वह साधन ही हमारे लिए योग्य है। एकांगी विचार करना ग़लत समझा गया, यानी न अकेला भौतिकवाद और न ही आत्मवाद का विचार ठीक है। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है, जो केवल भौतिकवाद का विचार करते हैं, वे अंधकार को प्राप्त करते हैं और जो केवल आत्मवाद का ही विचार करते हैं, वे घोर अंधकार को प्राप्त होते हैं। पहले से मृत्यु को जीतना चाहिए और दूसरे से अमरता प्राप्त करनी चाहिए।

जीवित रहने के लिए रोटी चाहिए, क्योंकि शरीर के रहने से ही मृत्यु को जीत सकते हैं। शरीर को बनाए रखने के लिए भौतिक सुख पाने चाहिए। जीवन को सार्थक

करने के लिए आत्मिक सुख के लिए प्रयत्न करना चाहिए। हमने भौतिक और आत्मिक दोनों सुखों को अलग न किया जा सकने वाला तत्त्व माना है। दोनों कपड़े के ताने और बाने की तरह हैं। ताने या बाने किसी एक को अलग कर देने से कपड़ा नहीं रह जाता। जीवन में ऐसे ही भौतिक और आत्मिक दोनों का सम्मिश्रण नहीं हो सकता। मानो थोड़ा यह कर लें, थोड़ा वह कर लें। इसीलिए अपनी प्रार्थना में 'समुत्कर्ष-निश्रेयस' की कामना के शब्द प्रयोग किए हैं, दोनों को अन्य समान करके एक वचन में रखा है। कुछ लोगों का सुझाव है कि पश्चिम में भौतिकवाद और पूर्व के आत्मवाद को मिला लेना चाहिए। पर यह संभव नहीं है, क्योंकि हमारे यहाँ तो दोनों का विचार किया गया है। भौतिक प्रयत्नों में भी जब आत्मवाद को लेकर चलेंगे तभी भारतीयता के जीवन में सुख के विचार पूरे हो सकेंगे। दोनों अलग-अलग भाग नहीं हैं। हमने यह पहली चीज़ दिशा के रूप में रखी है।

सब सुख चाहते हैं, पर किसका सुख चाहते हैं? एक विचार है कि प्राणी अपना सुख चाहता है। 'मैं' को ही सत्य मानते हैं। उनका मत है कि एक-एक व्यक्ति को मिलाकर सब चीज़ें बनती हैं, पर यह ठीक नहीं। जैसे व्यक्ति एक इकाई है, वैसे ही संपूर्ण समष्टि भी एक इकाई है। समाज का अपना एक अस्तित्व है। लोगों को मिला देने मात्र से समाज नहीं बनता। समाज टुकड़ों का समूह नहीं है। कुछ अपने हितों को इकट्ठा करके कंपनी बनाते हैं। परंतु क़ानून की दृष्टि से उस कंपनी का एक अलग अस्तित्व है। परंतु पश्चिम यहाँ तक विचार नहीं कर सका। वह समाज को एक समझौता मानता है, जो सबने अपने भले के लिए किया। इसलिए वह हमें कहते हैं कि भारत में बाहर से आर्य, द्रविड़ आदि आए और सब मिलकर एक राष्ट्र बन गए। पर मानव समूहों, व्यक्तियों को ही मिलाकर राष्ट्र नहीं बनता। राष्ट्र एक जीवमान शक्ति, चैतन्य रूप, अपनी आत्मा वाली एक चीज़ है, जो स्वयं पैदा होती है। पुर्ज़े इकट्ठे करके घड़ी बन सकती है। यह मेकैनिकल अरेंजमेंट है। प्राणी चैतन्य है, उसके हाथ, पैर, कान, नाक जोड़कर व्यक्ति नहीं बन सकता। प्रकृति से चैतन्य वस्तु पैदा होती है। राष्ट्र भगवती प्रकृति की एक कृपा है। राष्ट्र के आगे सृष्टि और सृष्टि को व्याप्त करनेवाली परमेष्टि इन सबकी अलग सत्ता है, वैसे ही जैसे कि व्यक्ति की होती है।

दुनिया में ऐसे बहुत लोग हैं, जो केवल एक का, व्यक्ति का विचार करते हैं। पश्चिम के इसी व्यक्तिवाद में से प्रजातंत्र का वर्तमान स्वरूप, पूँजीवाद आदि खड़े हुए हैं। दूसरी ओर समाज का सबकुछ मानकर चलने वाले समाजवादी जैसे साम्यवादी हैं। पर अभी तक साम्यवादी समाज के एक भाग राज्य को ही सबकुछ मानते हैं। हमारा तो विश्वास है कि एक को लेकर चलने वाले अंधकार की ओर बढ़ते हैं। व्यक्ति के विचार से मृत्यु को जीतना और समाज के विचार से अमरत्व को पाना हमारी दिशा है। जैसे एक

व्यक्ति कविता करता है, हमने उस पर रोक लगा दी, इसमें उसकी मृत्यु है। शरीर से भले ही वह जीवित रहे, पर उसके जीवन में रस न रहेगा। इसलिए व्यक्ति का विचार करना आवश्यक है। पर व्यक्ति को अमरता पाने के लिए समाज का विचार करना परमावश्यक है। यदि व्यक्ति के विचार से राम का स्मरण करें तो राम ज़िंदा है, सिर्फ़ इसलिए कि वह समाज अभी जिंदा है, जिसके वह अंग थे। उन्होंने मेल बिठाया कि व्यक्ति काम करे, अपने गुणों का विचार करे, ताकि समाज के लिए लाभदायक हो। गीदड़ को 'हू-हू' करने में आनंद आता है, भले ही उसका औरों को लाभ न हो। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कविता 'स्वान्तः सुखाय' लिखी, पर समाज में उसने चैतन्य फूँका, मार्गदर्शन किया, जीवन श्रद्धाओं के प्रति निष्ठा जगाई। इसलिए हमारे यहाँ कहा जाता है कि काम अपने लिए करो, पर समाज का उसमें हित हो। तुम्हारा अस्तित्व समाज के अस्तित्व से अलग नहीं। हृदय का अस्तित्व इसमें है कि वह धड़कता रहे और ख़ून साफ़ करता रहे, तभी शरीर जीवित रहता है। शरीर के बिना हृदय कहाँ जीवित रहेगा? हाथ को काम करने की स्वतंत्रता है। हाथ लाठी से अपना सिर भी फोड़ सकता है, पर उसका कल्याण इसी में है कि वह शत्रु का सिर फोड़े। पैरों को भी स्वतंत्रता है, पर वह मदिरालय भी जा सकते हैं और मंदिर भी। पर मंदिर की ओर जाने में ही श्रेय है। व्यक्ति के अमरत्व पाने में समाज का कल्याण है।

हमारी संस्कृति को आध्यात्मवादी कहा गया है, यह पूर्ण सत्य नहीं। बाक़ियों की संस्कृतियाँ केवल भौतिकवादी हैं। तब हम कहते हैं कि हम उनसे आगे अध्यात्मवाद भी लेकर चलते हैं। जो केवल व्यक्तिवाद को लेकर चलते हैं, हम उन्हें कहते हैं कि हमारी संस्कृति समष्टिवादी है। दूसरों के मुक़ाबले में ही हमारी संस्कृति को अध्यात्मवादी अथवा समष्टिवादी इत्यादि कहा जा सकता है। वस्तुतः यह भौतिकवादी-अध्यात्मवादी संस्कृति है, पूर्णत्व की संस्कृति है। इसमें सर्वांगीण विचार किया गया है। एक अंग के विचार को तो हम विकृति कहते हैं। विकृति से हमारा सदैव संघर्ष हुआ। देवासुर संग्राम, महाभारत, रामायण आदि के युद्ध संस्कृति के आधार पर हुए हैं। यह राजाओं के, भाइयों के घर के अथवा वैभव के लिए युद्ध न थे। यह भी हम नहीं कहते कि ऐसे घरेलू युद्ध हमारे यहाँ नहीं हुए, परंतु उनका इतिहास में कोई महत्त्व नहीं। रावण भौतिक दृष्टि से बहुत आगे था, सब देवता उसके वश में थे। सारी भौतिक शक्ति उसके हाथ में थी। राम का उससे संघर्ष इसी आधार पर हुआ।

हमारी स्वतंत्र सत्ता है। इस स्वतंत्रता में से समाज का विचार करते हैं। भौतिकता को प्राप्त करते हुए आत्मा का भी साक्षात्कार करना है और इन दोनों का मेल बिठाने के प्रयत्न में हमारी संस्कृति का रूप निखरा है। आत्मा का विचार करते समय भी कर्म तो होता ही है। कर्म करने पर उसका फल भी भोगना पड़ता है। इस जन्म-मरण के चक्कर

में से कैसे ऊपर उठेंगे? निर्वाण पाना, परम सत्य के साथ एकाकार करना हमारे परम सुख की कल्पना है। तब रोज़ का काम इस सुख में बाधा बनकर खड़ा हो जाता है। इसका क्या समाधान है? गीता में कहा है कि कर्म सब करो, कर्म छोड़कर मत चलो, जो कर्म छोड़ते हैं वे पापी हैं। लोकमान्य तिलक लिखते हैं कि लोकसंग्रह और समाज संरक्षण के लिए स्वयं भगवान् ने जन्म लिया। उसी कार्य को छोड़कर यदि हम चलें तो हमारा जीवन कैसा होगा? एक संन्यासी भी संसार को छोड़ नहीं सकता। उसका संसार भी लोट, लँगोट, तूंबे में है। एक कहानी है कि संन्यासी के कोपीन को एक चुहिया काट रही थी। उसे हटाने के लिए संन्यासी ने बिल्ली पाल ली। बिल्ली को दूध पिलाने के लिए गाय रखी। गाय के चारे के लिए खेती कर ली। ऐसे व्याप बढ़ता गया और संसार इकट्ठा हो गया। तो संन्यासी का व्याप कोपीन लँगोट में ही है। कर्म तो प्रत्येक को करना पड़ता है पर अपने व्याप के अनुसार ही। गीता में कहा है कि संसार में तो रहो, पर निष्काम भाव से। बाक़ी लोग इसका विचार नहीं कर सकते। वह तो यही विचार करते हैं कि भोजन करो या मत करो। भोजन करो और उसमें आसक्ति न रखो, यह बात परायों और कुछ अपनों की भी समझ में नहीं आती।

व्यक्ति को समाज की अनिवार्य अपेक्षा है। रॉबिन्सन क्रूसो एक ही टापू में अकेला रहा। वहाँ उसने सबकुछ निर्माण किया, पर अकेले को डर लगता था। 'फ्राइडे' को देखकर उसे प्रसन्नता हुई। मनुष्य को दूसरों की आवश्यकता रहती है। कवि कविता लिखता है, पर उसे सुनने वाला भी चाहिए। कहानी कहते समय सुनने वाला भी चाहिए। व्यक्ति और समाज के इतने परस्परावलंबन के बावजूद दोनों की स्वतंत्र सत्ता है। पश्चिम के दृष्टिकोण से व्यक्ति अपने सुख के लिए समाज के साथ समझौता करता है। वह अपने को केंद्र बनाकर चलता है। उसमें संग्रह की वृत्ति पैदा होती है। ऐसे परस्परावलंबन, परावलंबन में स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है। हमारा दृष्टिकोण दूसरा है। व्यक्ति समाज के लिए कार्य करे, उस पर निर्भर न रहे। परस्परानुकूल रहे। दोनों दृष्टिकोणों के परिणाम एक हैं, पर दूरगामी परिणाम में भिन्नता हो जाती है। जैसे पिता पुत्र के अनुकूल बनना चाहता है, उसकी आवश्यकताएँ पूरी करता है। पुत्र भी पिता के अनुकूल रहकर कर्तव्य पालन करता है। यदि दोनों में परस्परावलंबन भाव न रहे तो पिता पुत्र से और पुत्र पिता से अधिक-से-अधिक छीनने का प्रयत्न करेगा। हमारे दृष्टिकोण में अपनी शक्ति को विकसित करने के अधिक अवसर हैं। दूसरे के साथ एक रूप होने में, दूसरे की प्रसन्नता व सुख से हम स्वयं सुख लेते हैं। मेहमान को प्रेम, आदर से खिलाते हैं। खाता वह है, पर आनंद हमें मिलता है। माँ खीर पकाती है। अपना हिस्सा भी पुत्रों को खिला देने में अधिक प्रसन्न होती है। समाज में इस प्रवृत्ति से स्वावलंबन बढ़ता है। पश्चिम ने व्यक्ति के ही सुख का विचार किया, जैसे अन्य सब व्यक्ति का सुख छीनने के लिए

मानो चोर डाकू बनकर खड़े हों। हमारे यहाँ अधिकार की लड़ाई नहीं कर्तव्य का भाव है। इसी में से सेवा, त्याग का भाव पैदा होता है। अपने 'व्यक्ति' की स्वतंत्रता को मानते हुए भी समाज के साथ एकाकार अनुभव करें, तभी हमारी स्वतंत्रता सार्थक होती है और गुणों का विकास होता है। इसी विचार से हमारी संस्कृति पैदा हुई, इसी से अपना सर्वस्व बलिदान कर देनेवाले लोग पैदा हुए।

हिंदू संस्कृति को मानकर चलने से अनेक व्यावहारिक रास्ते स्वयं मिलते हैं। उन रास्तों में हमने समन्वय किया है, लड़ाई नहीं। आत्म-साक्षात्कार के लिए सब संप्रदायों को छुट्टी दी जैसे पेड़ के फल-फूल पत्ते होते हैं। वैसे ही संस्कृति के बहुविध रूप हो सकते हैं। वह संस्कृति का विकास है। ज्यों-ज्यों हम समन्वय करते गए, त्यों-त्यों राष्ट्र की एकात्मता प्रकट होती गई। पर विरोधी चीज़ों का समन्वय भी संभव है। रावण से संघर्ष आया। मुसलमान आए तो अल्लाह और राम के एक होने का प्रचार भी हुआ हमने उसे माना। अनेक संतों ने उसका प्रचार किया, परंतु जब वही मुसलमान हमारे समाज, इतिहास परंपरा की एकात्मकता में बाधा बने तो संघर्ष हुआ। हमारे यहाँ तमिल, तेलुगू, गुजराती, मराठी अनेक भाषाएँ हैं, पर उनमें संघर्ष नहीं आया। परंतु सबसे निकट की भाषाओं हिंदी और उर्दू में संघर्ष हुआ। उर्दू ने एक विदेशीपन लाकर खड़ा कर दिया था। भोजन में हम खट्टा-मीठा खाते हैं, सब हज़म हो जाता है, पर धतूरा नहीं खाया जा सकता। वह विजातीय है, हमारी प्रकृति से मेल नहीं खाता। यदि विजातीयता अंदर भी पैदा हो जाए तो उस ज़हर को बाहर फेंकते हैं। विकार चाहे अंदर से हो, चाहे बाहर से, उसके साथ संघर्ष होता है। यह राष्ट्र के चैतन्य के लिए आवश्यक है। जितनी राष्ट्र की शक्ति होगी उतना संघर्ष तेज़ी से और सफलता से होगा। संस्कृति के आधार पर चलने से अपने आप बल पैदा होता है। पथ्य पालन और शरीर ठीक होना दोनों साथ-साथ चलते हैं।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इस संस्कृति के व्यष्टि-समष्टि विवेचन को लेकर चला है। सुलभ और सरल पद्धति, एकात्मकता का बोध, परस्परानुकूलता का भाव लेकर चला है।

—पाञ्चजन्य, अगस्त 10, 1961

□

45

दीनदयालजी के साथ एक घंटा
हमारा नियोजित भ्रम

प्रश्न : **क्या आप देश के आर्थिक विकास से संतुष्ट हैं?**

उत्तर : नहीं। मैं समझता हूँ कि हम प्राथमिकताओं को बदलकर बेहतर विकास कर सकते हैं, जिसमें कृषि पहले स्थान पर हो, उसके बाद लघु उद्योगों से प्राप्त उपभोक्ता वस्तुएँ हों और फिर मेकैनाइज़्ड उद्योग, परिवहन और ऊर्जा हों।

प्रश्न : **लेकिन सरकार कृषि के लिए कुछ कर रही है।**

उत्तर : वह पर्याप्त नहीं है। बड़े सिंचाई कार्यों में सैकड़ों करोड़ों रुपए ख़र्च कर देना, और फिर यह पता चलना कि लोग पानी की ऊँची दरों का या समुन्नति लेवी (बेटमेंट लेवी) का भुगतान नहीं कर सकते हैं। जब सरकार ज़मीन के किसी भूखंड को अपने किसी कार्य से किसी तरह 'समुन्नत' बना देती है, तो यह टैक्स लिया जाता है। जैसे अग़र जनता के पैसे से इमारतें, सड़कें, हवाई अड्डे कोई अन्य परियोजना से आसपास के क्षेत्र में ज़मीन की क़ीमतों में वृद्धि होती है, तो ज़मीन मालिकों को हुए अप्रत्याशित लाभ पर टैक्स लिया जाता है। इसे समझदारी नहीं कहा जा सकता। समाजवाद का विभाजनकारी नारा लगाने के बजाय अगर हमारे किसानों के कानों में यह कह दिया जाए कि सभी को खिलाने के लिए पर्याप्त उत्पादन करना उनका कृषि धर्म है, तो वे ज़्यादा उत्पादन करेंगे। हमारे लोग पारिवारिक समाजवाद और ग्रामीण समाजवाद समझते हैं। जो समाजवाद वर्ग के आधार पर लोगों को बाँटता है, वह न केवल अपने

आप में ही अवांछनीय है, बल्कि हमारे लोगों को भी बड़े पैमाने पर अपील नहीं करता है। समाजवाद के इस नारे के परिणामों में से एक परिणाम यह है कि इसने कृषि के क्षेत्र में निवेश को मंदा कर दिया है। इसने हमारे कृषि उद्योग में अनिश्चितता पैदा कर दी है। अब पर्याप्त भूमि ही नहीं है। लेकिन भूमिहीन श्रमिक को यह विश्वास करने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है कि उसकी अपनी ख़ुद की ज़मीन हो सकती है और होनी चाहिए। ग़रीब भूमिहीन श्रमिकों को न केवल निराशा हाथ लगनी है, बल्कि किसान नफ़रत भरे नए नारों से डर रहे हैं। अब जो भी कुछ किए जाने की आवश्यकता होती है, उसके लिए हर कोई सरकार की ओर देखता है—चाहे वह गाँव का कुआँ हो या गाँव की सड़क। समाजवादी नारे ने पहल को जड़ से समाप्त कर दिया है।

प्रश्न : लेकिन समाजवादी नारे की शुरुआत से पहले भी हम कोई बहुत अच्छी तरह से विकसित नहीं हो रहे थे ?

उत्तर : ब्रिटिश राज में खाद्य पदार्थों की क़ीमतें कम थीं। किसान जीवनयापन के लिए, उनका भू राजस्व नकद में चुकाने के लिए और उनके ऋणों को चुकाने के लिए तथा अधिक उत्पादन करने के लिए मजबूर थे। अब सौभाग्य से स्थिति बदल गई है। लेकिन ऊँची क़ीमतें उत्पादन के लिए बड़ा प्रोत्साहन साबित नहीं हुई हैं। एक बात तो यह कि ऊँची क़ीमतों का लाभ उत्पादक की तुलना में बिचौलियों को अधिक मिलता है। दूसरी बात यह कि चावल या गेहूँ की तरह खाद्य फ़सल की तुलना में गन्ने जैसी नक़दी फ़सल में बहुत अधिक लाभ है। नक़दी फ़सल में श्रम भी कम लगता है; उनकी आसानी से और तुरंत बिक्री हो जाती है। ज़रा भी आश्चर्य की बात नहीं है कि अकेले उत्तर प्रदेश में पिछले 18 महीनों 4 लाख एकड़ धान का क्षेत्र गन्ने में परिवर्तित कर दिया गया है। इसका परिणाम यह है कि हमारे पास चावल की कमी है और चीनी आवश्यकता से अधिक है। क्या आप इसे 'योजना' कह सकते हैं। अगर ऐसा है, तो यह योजना भ्रम की स्थिति के लिए बनाई है।

प्रश्न : आपको क्या लगता है कि इस स्थिति से मुक़ाबला कैसे किया जाना चाहिए ?

उत्तर : अनाज के लिए सरकार समर्थित मूल्य अवश्य होने चाहिए, ताकि किसानों के समक्ष अपने उत्पाद के लिए कम मूल्य मिलने या बहुत लंबे समय तक अनाज को सुरक्षित रखने भर का कोई विकल्प न रहे।

प्रश्न : आप उपभोक्ता वस्तुओं पर इतना अधिक ज़ोर क्यों देते हैं ?

उत्तर : क्योंकि क़ीमतों को नियंत्रित करने का कोई अन्य तरीक़ा नहीं है। उदाहरण के लिए, आवास की उपेक्षा विस्मयकारी है। यहाँ तक कि सभी केंद्रीय सरकारी कर्मचारियों को भी आवास नहीं दिए गए हैं। और न ही रेलकर्मियों को दिए गए हैं। आवास ऋण अपर्याप्त हैं। और लाल फीताशाही उनके पूर्ण उपयोग को रोक रही है।

प्रश्न : और आप छोटे मेकैनाइज़्ड उद्योगों के पक्ष में इतने अधिक क्यों हैं ?

उत्तर : क्योंकि मुझे लगता है कि पूर्ण रोज़गार और बड़े पैमाने पर उत्पादन की हमारी उम्मीदें उनमें निहित हैं। प्रचार को छोड़ दें, तो लघु उद्योगों को अपने पैरों पर खड़े होने का मौका ही नहीं दिया जा रहा है। सिर्फ़ इतना विचार करें कि तीसरी योजना बड़े उद्योगों के लिए लगभग 4000 करोड़ रुपए का आबंटन करती है, और लघु उद्योगों के लिए केवल इसका लगभग दसवाँ हिस्सा आबंटित किया जाता है। परमिट और लाइसेंस कांग्रेसियों को और अन्य पसंदीदा लोगों को दिए जाते हैं, जिनके पास उसे काले बाज़ार में बेचने के अलावा कोई अन्य उपयोग नहीं होता है। लेकिन वास्तविक छोटे विनिर्माताओं को या तो कच्चा माल पाना, या बिजली पाना या यहाँ तक कि एक टेलीफोन कनेक्शन मुश्किल लगता है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि राज्य का पूरा तंत्र बड़े निर्माताओं की पक्षधरता करता है। बैंक उसे सस्ता ऋण और अधिक-से-अधिक गुंजाइश देते हैं। बड़ी इकाइयाँ पूरी रेलगाड़ी प्राप्त कर सकती हैं, वहीं छोटी इकाइयों को एक वैगन भी आसानी से नहीं मिल सकती।

प्रश्न : लेकिन बड़े पैमाने की बचत महत्त्वपूर्ण होती है।

उत्तर : कैसी बचत? आप लाखों श्रमिकों को उनके घरों से बड़े शहरों में खींच लाते हैं। वहाँ उनके पास एक छत भी नहीं होती, जिसे वे अपना कह सकते हों। बच्चों की उपेक्षा की जाती है। इस भयानक सामाजिक लागत के बारे में क्या कहेंगे? वैसे भी एक बिंदु होता है, जिसके आगे आकार का लाभ नहीं रहता है, वहाँ से वास्तव में अक्षमता की पूर्ति की जाती है।

प्रश्न : क्या आप किसी ऐसे बड़े उद्योग के बारे में बता सकते हैं, जो आपको लगता हो कि छोटे उद्योग में उपयोगी ढंग से बदला जा सकता हो ?

उत्तर : जी हाँ। उदाहरण के लिए कपड़े, जूतों और साइकिलों को देखिए। फिर रेलवे ने सड़क परिवहन को कुचलने की कोशिश की है। अगर सड़क परिवहन अभी भी बचा हुआ है तो यह रेलवे द्वारा दिखाई गई दुश्मनी के बावजूद है।

प्रश्न : लेकिन मिल में बने कपड़े ज़ाहिर तौर पर लघु उद्योगों या हथकरघे या पावरलूम पर उत्पादित कपड़े की तुलना में किफ़ायती होते हैं।

उत्तर : ऐसा नहीं है। एक बात तो यह कि गुणवत्ता से गुणवत्ता की तुलना में हथकरघे का कपड़ा मिल के कपड़े से महँगा नहीं है। दूसरे हथकरघों को तागा मिलों से मिलता है, जो एक अच्छे-खासे मुनाफ़े पर उन्हें बेचती हैं। मिलें अपने तागे का उत्पादन स्वयं करती हैं। बुनकरों की सहकारी समितियों को उनकी अपनी कताई इकाइयाँ तैयार करने के लिए मदद की जानी चाहिए। इसके अलावा वे रँगाई और कपड़ों को दबाकर चमकाने की उचित सुविधाओं की कमी से भी लाचार हैं।

प्रश्न : क्या आप इस संबंध में जापान को मॉडल मानने पर विचार कर सकते हैं?

उत्तर : जापान से भी बढ़कर, स्कैंडिनेविया इस संबंध में हमारा मॉडल हो सकता है। जापान में कुटीर उद्योग बड़े उद्योग से जुड़ा हुआ भी है और उसका अधीनस्थ भी है। नॉर्वे, स्वीडन और स्विट्जरलैंड में छोटे उद्योग अपना स्वयं का एक स्वतंत्र और स्वायत्त जीवन जीते हैं।

प्रश्न : लेकिन क्या ये (लघु उद्योग) हमें छोटा और कमज़ोर नहीं बनाए रखेंगे ?

उत्तर : निश्चित रूप से नहीं। छोटे पैमाने पर उत्पादन का अर्थ कम उत्पादन नहीं होता है और न ऐसा होने की ज़रूरत है। मैं पूरी तरह विशाल उत्पादन के पक्ष में हूँ, लेकिन मैं विशाल पैमाने पर उत्पादन के लिए पक्ष में नहीं हूँ। जैसा कि श्री सी.एन. वकील[1] ने अपनी पुस्तक 'प्लानिंग फॉर एन एक्सपैंडिंग इकॉनोमी' (विस्तृत होती अर्थव्यवस्था के लिए योजना) में कहा है, 'बड़ा उत्पादन, न कि बड़े पैमाने पर उत्पादन ही बढ़ता हुआ लाभ देता है और लागत वक्र को क्रमिक ढंग से नीचे लाता है।'

प्रश्न : क्या आपको लगता है कि जाति हमारी आर्थिक प्रगति पर एक बोझ है?

उत्तर : मैं नहीं समझता कि ऐसा किस प्रकार हो सकता है।

---

1. सी.एन. वकील (1895-1979) अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर और दिग्गज अर्थविद्, जिन्होंने भारतीय परिस्थितियों में उधार के विचारों के अविवेकी प्रयोग के प्रति लगातार सचेत किया। उन्होंने न सिर्फ़ महलनोबिस मॉडल की आलोचना की बल्कि प्रोफ़ेसर पी.आर. ब्रह्मानंद के साथ मिलकर एक लोकप्रिय वैकल्पिक वेज-गुड्स मॉडल (आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं की आपूर्ति बढ़ाने संबंधी, ताकि वे सस्ती हो सकें और देश में फैली ग़रीबी का उन्मूलन हो सके) का सुझाव भी दिया। इस मॉडल को अकादमिक क्षेत्र में भारी समर्थन प्राप्त हुआ।

प्रश्न : एक मध्यमवर्गीय मैट्रिक पास व्यक्ति एक अच्छा फोरमैन बन सकता है, लेकिन वह एक क्लर्क बनना पसंद करता है।

उत्तर : मुझे लगता है कि इस तरह की बात हो रही है। लेकिन मैं इसे दूसरे तरीक़े से देखता हूँ। जब हमारे पास एक पारंपरिक कारीगर वर्ग है, तो क्यों हम अपने फोरमैन इस वर्ग से नहीं ले सकते? अगर आप बाबुओं को फोरमैन बना देंगे, तो इतने सारे कारीगर कहाँ जाएँगे?

प्रश्न : क्या आपको लगता है कि हमारे लोग इतने अधिक महत्त्वाकांक्षी नहीं हैं कि विकास के लिए तेज़ी से प्रयास करें?

उत्तर : मध्यम वर्ग महत्त्वाकांक्षी है। उसकी महत्त्वाकांक्षा अन्य वर्गों में भी फैल रही है।

प्रश्न : क्या आपको लगता है कि हमारी जलवायु आर्थिक विकास में एक गंभीर बाधा है? हम इस गरम या उमस भरे माहौल में कठोर मेहनत नहीं करते हैं, और नहीं कर सकते हैं।

उत्तर : मुझे ऐसा नहीं लगता। हम अतीत में भी महान्, संपन्न और शक्तिशाली रहे हैं। तब तो हमारी जलवायु ने हमें परेशान नहीं किया। तो अब इसे क्यों हमें परेशान करना चाहिए? इसके अलावा, फिर हम अपने ठंडे पहाड़ी क्षेत्रों के पिछड़ेपन की व्याख्या कैसे कर सकते हैं। किसी भी स्थिति में हम अपनी जलवायु में बहुत ज़्यादा फेरबदल नहीं कर सकते। इसलिए इस प्रकार की समझदारी अपने उद्योगों को हमारी जलवायु के अनुकूल समायोजित करने में निहित है। और मैं समझता हूँ कि यह छोटे और विकेंद्रीकृत उद्योगों के पक्ष में एक अतिरिक्त तर्क है।

प्रश्न : क्या संयुक्त परिवार एक बाधा है?

उत्तर : संयुक्त परिवार हमारे यहाँ हमेशा था। इसके कारण संभवतः अधिशेष कम बचता है, लेकिन इससे अधिक-से-अधिक सामाजिक सुरक्षा होती है। हम अपने बुजुर्ग माता-पिता को गो-सदन जैसे विशेष घरों में नहीं रख सकते। हमारी सामाजिक संस्थाएँ सब ठीक हैं। लघु उद्योग उनके साथ बहुत अच्छी तरह तालमेल बैठा लेंगे।

—ऑर्गनाइज़र, अगस्त 15, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

46

अकालियों का तुष्टीकरण बरदाश्त नहीं किया जाएगा*

नई दिल्ली में दीनदयालजी का प्रेस वक्तव्य।

इस तथ्य के बावजूद कि आम लोगों को और प्रधानमंत्री को, पंजाबी सूबे के गठन के लिए अकाली माँग के सांप्रदायिक, अलगाववादी और एक राष्ट्र विरोधी चरित्र का अहसास हो गया है, यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि कुछ अवसरवादी और स्वयंभू नेता पराई आग में हाथ सेंकने की कोशिश कर रहे हैं और स्वयं को मध्यस्थों के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं, प्रस्ताव पेश कर रहे हैं, जो न केवल काल्पनिक हैं, बल्कि राष्ट्र की एकता और अखंडता के लिए ख़तरनाक हैं और (इनसे) पंजाब की समस्या हल नहीं होगी।

ऐसा ज्ञात हुआ है कि लगभग अप्रचलित और अप्रतिष्ठित क्षेत्रीय समितियों को उप-विधायिका की हैसियत तक उन्नत किया जाएगा, ताकि इस प्रकार अकालियों को एक पंजाबी सूबा जैसा दिखने वाला कुछ दिया जा सके। यह व्यवस्था अनशन कर रहे अकाली नेता को एक लाज बचाने वाला मौका देगी, लेकिन न तो राज्य में राष्ट्रवादी तत्त्वों को संतुष्ट करेगी और न ही अलगाववाद की बुराई पर हमेशा के लिए अंकुश लगाएगी। इसके विपरीत यह देश भर में अलगाववादी माँगें शुरू करा देनेवाली होगी और भारत के संविधान की हैसियत घटकर एक पहेली जैसी रह जाएगी। इस सबका अर्थ विघटन और जो काम स्व. सरदार वल्लभभाई पटेल ने इतनी योग्यता से पूरा किया था, उस पर पानी फेरना होगा।

---

* देखें परिशिष्ट-VII, पृष्ठ संख्या 265।

दृढता समय की माँग है। एक अटल राष्ट्रीय निश्चित निर्णय मात्र ही जनता को अकाली दल के गुमराह नेतृत्व से विमुख करेगा। सिख मूल रूप से राष्ट्रवादी हैं और यदि सरकार तुष्टीकरण से इनकार कर दे, तो वे एक बार फिर एकात्म भारत में संयुक्त पंजाब के लिए काम करके मातृभूमि के प्रति अपने प्रेम का प्रदर्शन करेंगे।

जनसंघ की ओर से मैं सरकार को चेतावनी दूंगा कि अगर उन्होंने किसी भी ढंग से अकालियों का तुष्टीकरण करने के प्रयास में पंजाब में यथास्थिति के साथ छेड़छाड़ की, तो वे सिर्फ़ पंजाब में ही नहीं बल्कि देश भर में राष्ट्रवादी शक्तियों के कठोर और निरंतर प्रतिरोध को निमंत्रित कर रहे होंगे।

—ऑर्गनाइज़र, अगस्त 28, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

47

दादरा और नगर हवेली भारतीय संघ में

दादरा और नगर हवेली का भारतीय संघ में विलय[1] सही दिशा में एक क़दम है। यह कि भारत सरकार को यह सरल सा निर्णय करने में सात वर्ष लग गए, केवल शासकों के अनिर्णय की मानसिक स्थिति दरशाता है। जो कार्य सरदार पटेल जूनागढ़[2] के प्रकरण में चंद दिनों के भीतर कर सकते थे, उसे पूरा करने में पंडित नेहरू ने कई वर्ष लगा दिए हैं। इस अत्यधिक विलंब के अतिरिक्त, घेरे के बाहर के क्षेत्रों को मुक्त कराने, और उनका एकीकरण करने के मुद्दे पर एक मूलभूत अंतर है। सरदार पटेल ने उनकी स्वतंत्रता और विलय के लिए सक्रिय रूप से काम करने को सरकार का कर्तव्य माना था और उनके उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उनके अपने अस्त्र-शस्त्र थे। ऐसा प्रतीत होता है

---

1. संघ शासित राज्य दादरा और नगर हवेली बनाने के लिए 11 अगस्त, 1961 को दादरा और नगर हवेली के पुर्तगाली आधिपत्य वाले क्षेत्रों का विलय कर दिया गया। इससे पहले दादरा और नगर हवेली पुर्तगालियों के छोटे विदेशी उपनिवेश थे जो 1779 से 1954 तक पुर्तगाली भारत के अंग रहे। लंबे स्वाधीनता संघर्ष के बाद 22 जुलाई, 1954 को दादरा और 2 अगस्त, 1954 को नगर हवेली स्वतंत्र हो गए। 1954 से 1961 तक यह क्षेत्र स्वतंत्र दादरा और नगर हवेली की वरिष्ठ पंचायत द्वारा प्रशासित रहा।
2. जूनागढ़ भारतीय भू-भाग से घिरे सौराष्ट्र के समुद्री किनारे का एक छोटा राज्य था और इसलिए पाकिस्तान से उसकी कोई भौगोलिक समीपता नहीं थी। इसके बावजूद 15 अगस्त, 1947 को वहाँ के नवाब ने राज्य के पाकिस्तान में विलय की घोषणा की। यद्यपि वहाँ की जनता अधिकांश रूप से हिंदू थी, उसने भारत में शामिल होने की इच्छा व्यक्त की। पाकिस्तान ने जूनागढ़ के विलय को स्वीकार कर लिया। दूसरी ओर राज्य की जनता ने शासक के निर्णय को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने एक लोकप्रिय आंदोलन शुरू किया, नवाब को भागने के लिए विवश किया और एक अस्थायी सरकार स्थापित की। जूनागढ़ के दीवान शाह नवाज भुट्टो, (प्रसिद्ध राजनीतिक जुल्फिकार अली भुट्टो के पिता) ने हस्तक्षेप करने के लिए भारत सरकार को आमंत्रित किया। इसलिए भारतीय सेनाएँ राज्य में पहुँची। फरवरी 1948 को राज्य में जनमत संग्रह कराया गया, जिसमें अधिकांश ने इसके भारत में विलय के पक्ष में मत दिया। नवाब और उसका दीवान जूनागढ़ छोड़कर पाकिस्तान चला गया। सरदार पटेल ने इस जटिल समस्या का समाधान अपने अद्वितीय तरीक़े से कर दिया था।

कि पंडित नेहरू इस ज़िम्मेदारी को उठाने के लिए तैयार नहीं हैं। न ही वह उस हद तक जाने के लिए तैयार हैं, जिस हद तक सरदार पटेल हैदराबाद के मामले में गए थे।

तुनक मिज़ाज कमज़ोरियों और अनिश्चय के अलावा प्रधानमंत्री की सोच में एक मौलिक त्रुटि है। वह भारत सरकार अधिनियम 1935 के या भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1946 के दायरे के भीतर ही सोचते हैं। जिसके अनुसार भारत की संप्रभुता उन क्षेत्रों तक ही सीमित है, जो क्षेत्र अंग्रेज़ों द्वारा भारत को सौंपे गए थे, या जो प्रांत भारत डोमिनियन में शामिल हुए थे। अन्य सभी मामलों में, विभिन्न इलाक़ों के लोगों को अपने हश्र और अपने भविष्य का निर्माता होना होगा। अगर वे स्वतंत्र होना चाहते हैं, तो उन्हें संघर्ष करना होगा। वे जो हैसियत प्राप्त करना चाहते हैं, वह भी उनके द्वारा ही निर्धारित किया जाएगा। सोच की यह दिशा इस मूलभूत तथ्य की अनदेखी कर देती है कि भारत एक है। यह एक भारतीय राष्ट्र के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती है, जो एक ऐतिहासिक दुर्घटनावश अनेक पश्चिमी शक्तियों के प्रभुत्व में आ गया था। अगर एक छोटे से क्षेत्र के गोवा पर पुर्तगाल का शासन था, और है, जबकि देश के बाक़ी हिस्से ब्रिटिश शासन के अधीन थे और अब स्वतंत्र हैं, तो यह किसी भी तरह से एक अलग गोवा के लोगों की व्युत्पत्ति नहीं करता। गोवा के लोग भारतीय राष्ट्र के अभिन्न हिस्सा हैं। इसलिए इन प्रदेशों की मुक्ति का संघर्ष हमारे स्वतंत्रता संग्राम का एक अभिन्न हिस्सा है। जो लोग कहते हैं कि गोवा के लोगों को अपनी आज़ादी के लिए ख़ुद लड़ना चाहिए, वे एक ऐसा सिद्धांत प्रस्तुत कर रहे हैं, जो ख़तरनाक और अराष्ट्रीय है।

दादरा और नगर हवेली का विलय इन क्षेत्रों के लोगों की इच्छाओं के अनुरूप किया गया है । यह अच्छा है और स्वाभाविक है कि इन लोगों ने देश के राजनीतिक ढाँचे का हिस्सा बनना पसंद किया है। लेकिन इन लोगों को अपने भविष्य का चयन करने देने के अधिकार का ज़रा भी आग्रह भारत के लोगों को इस समूचे क्षेत्र पर उनकी मौलिक संप्रभुता से वंचित करेगा। यही कारण है कि फ्रांसीसी परिक्षेत्र भारत में अपने वास्तविक हस्तांतरण के बावजूद अभी तक भारतीय संघ का हिस्सा नहीं बन सके हैं। भारत सरकार फ्रांस सरकार द्वारा एक क़ानूनी वचन दिए जाने का इंतज़ार कर रही है। हमें हस्तांतरण को वैध बनाने के लिए फ्रांसीसियों का मुंह क्यों ताकना चाहिए? क्षेत्र हमारा है और अगर फ्रांसीसियों ने इसे शांतिपूर्ण ढंग से दे दिया है, तो इसका श्रेय उनकी अच्छी समझ को या सहज बुद्धि को दिया सकता है, लेकिन इससे उन्हें इन क्षेत्रों को तकनीकी रूप से भी अपने पास रखने का कोई भी क़ानूनी अधिकार प्रदान नहीं किया जा सकता है। हमारा संविधान हमें इलाक़ों को प्राप्त करने का अधिकार देता है और हमें उसी के अनुसार कार्य करना चाहिए। फ्रांसीसी अपने संविधान का ध्यान रखें। वे उसमें संशोधन करें या उसे सुधारें, उनकी इच्छा है। लेकिन हम अपने राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया में देरी नहीं कर सकते।

फ्रांसीसी परिक्षेत्रों की तरह दादरा और नगर हवेली को एक पृथक् इकाई के रूप में रखा गया था। उनको विदेश मंत्रालय के तहत प्रशासित किया जाना है। यह ग़लत है। इन क्षेत्रों का तुरंत आसपास के ज़िलों के साथ विलय कर दिया जाना चाहिए। इससे ही यहाँ के लोगों के साथ हमारी एकजुटता का प्रदर्शन होगा।

गोवा के संबंध में भारतीय जनसंघ का लगातार मानना रहा है कि समस्या पुलिस कार्रवाई से ही हल की जा सकती है। यह संतोष की बात है कि देश में राजनीतिक राय इस दृष्टिकोण की दिशा में हो चुकी है। यहाँ तक कि प्रधानमंत्री ने भी, जो इतने सारे वर्षों से लगातार सैन्य बल का सहारा लेने से इनकार करते रहे हैं, कहा है कि सैन्य कार्रवाई की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता है। यह सरकार की नीति में एक बड़ा परिवर्तन है और सही दिशा में है। सरदार पटेल के बाद पहली बार, सरकार के प्रवक्ताओं ने कहा है, सेना को उस उद्देश्य के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है, जिसके लिए उसे रखा जा रहा है। लेकिन यहाँ लोगों में यह भावना है कि ये सारी बातें मतदाताओं को ख़ुश करने के लिए की जा रही हैं।

गोवा के मुद्दे पर कठोरता का प्रदर्शन अन्य मोर्चों पर सरकार की विफलता से लोगों का ध्यान हटाने के लिए भी है, विशेष तौर पर चीन और पाकिस्तान के मोर्चों पर। यही कारण हैं कि जो कम्युनिस्ट व्यावहारिक तौर पर गोवा को भूल गए थे, फिर से सक्रिय हो गए हैं और श्रीमती अरुणा आसफ अली की अध्यक्षता में एक नई समिति का गठन किया गया है।

मकसद चाहे जो भी हो, गोवा की मुक्ति सभी चाहते हैं। लेकिन सरकार यह कब करेगी? वे कुछ सक्रिय क़दम उठाएँगे या बस मौखिक लड़ाई लड़ते रहेंगे? लोग, जो ऐसी घोषणाओं के आदी हो चुके हैं, किसी व्यावहारिक क़दम के बिना संतुष्ट महसूस नहीं करेंगे। अगर पंडित नेहरू सोचते हैं कि वह मात्र मौखिक आश्वासनों से राष्ट्र को धोखा दे सकते हैं, तो वह ग़लती पर हैं। उन्हें अपने जीवनकाल के भीतर ही नहीं, बल्कि अगर वह अपनी पार्टी के लिए फायदा उठाना चाहते हैं, तो वह चुनाव से पहले अपने आश्वासनों को पूरा करें।

इन प्रदेशों की मुक्ति के लिए क़दम उठाए जाने से भी पहले यह वांछनीय होगा कि गोवा के जो लोग भारतीय संघ में रह रहे हैं, उन्हें नागरिकता और मताधिकार का अधिकार प्रदान किया जाए। इससे हमारी प्रामाणिकता स्थापित होगी और यह प्रदर्शित होगा कि ये लोग हमारे देश का अभिन्न अंग हैं।

—ऑर्गनाइज़र, अगस्त 28, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

☐

48

तृतीय योजना का भारी-भरकम होना अवांछनीय*

लघु उद्योगों को प्राथमिकता देना श्रेयस्कर

जब संसद् का वर्षाकालीन अधिवेशन सोमवार 7 अगस्त को पुन: प्रारंभ हुआ तब तीसरी पंचवर्षीय योजना सदन के सम्मुख प्रस्तुत की गई। योजना की मुख्य रूपरेखा और प्रस्तावित योजना की रूपरेखाएँ भिन्न नहीं है। कुछ कार्यक्रम अधिक विस्तृत कर दिए गए हैं, लेकिन रोज़गार और मूल्य-नीति जैसी बातें, जो कि अंतिम योजना में विशेष रूप से बदली हुई हैं, को स्पष्ट करने में योजना बनाने वाले असफल रहे हैं। उद्देश्य, प्राथमिकता और व्यूह-रचना किसी भी प्रकार से तीसरी योजना द्वितीय योजना से भिन्न नहीं है। हाँ, केवल अन्न में आत्मनिर्भर और कृषि उत्पादन में वृद्धि होने की बात ही सूची में और जोड़ी गई है। योजना निर्माताओं ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना से यदि कोई शिक्षा ग्रहण की है तो वह यही है कि उन्होंने देश की आर्थिक उन्नति में कृषि के महत्त्व को समझ लिया है। फिर भी जैसा कि हम बाद में देखेंगे, यह बात दुर्भाग्यपूर्ण है कि योजना के अंतर्गत कार्यक्रम में उद्देश्य और प्राथमिकताओं को उचित स्थान नहीं दिया गया है।

योजना से निराशा ही उत्पन्न होगी

योजना के अंतर्गत लिये गए भौतिक कार्यक्रम पर सार्वजनिक क्षेत्र में लगभग 8,000 करोड़ रुपया और व्यक्तिगत क्षेत्र में 4,100 करोड़ रुपया व्यय करना है। परंतु इस समय सार्वजनिक क्षेत्र के लिए वित्तीय साधन के रूप में 7,500 करोड़ रुपया ही

---

* देखें परिशिष्ट VI, पृष्ठ संख्या 250।

रखा गया है। इस प्रकार योजना के भौतिक और वित्तीय क्षेत्र में 500 करोड़ रुपए का अंतर है और यदि भत्तों को कम आँका गया है, जो कि साधारणतः योजनाओं में होता है, तो यह अंतर और भी बढ़ जाएगा। चुनाव से कुछ समय पूर्व राजनीतिक उद्‌देश्यों की पूर्ति के लिए नवीन योजनाओं के आविर्भाव की आवश्यकता पड़ती है, जिनको फिर समाप्त किया जा सकता है। यह किसी प्रकार, पूर्ण न होने वाली झूठी आकांक्षाओं को उत्पन्न करेगा, जिससे व्यक्तियों में निराशा ही उत्पन्न होगी।

13 हज़ार करोड़ रुपए का भार

7,500 करोड़ रुपया व्यय का केवल वह भाग है, जो कि केंद्रीय और राज्य-सरकारों द्वारा जुटाया जाएगा। इसके अतिरिक्त स्थानीय संस्थाओं के अंतर्गत नगरपालिकाओं, ग्राम-पंचायतों, नगर महापालिकाओं और अंतरिम ज़िला-परिषदों से, जो कि सत्ता के विकेंद्रीकरण के नाम पर निकट भूत में स्थापित की गई है, यह आशा की जाती है कि वह अपने साधनों को जुटाते हुए समान अनुदानों को परिपूर्ण कर योजनांतर्गत स्थानीय योजनाओं को कार्यान्वित करेंगी। इसके लिए द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंत तक विकास सेवाओं एवं संस्थाओं के स्थापन का व्यय भी लगभग 3,000 करोड़ रुपया पाँच साल के लिए आँका गया है। इस प्रकार जनता को वर्तमान सरकारी व्यय के साथ, जो कि बड़ी तेज़ी के साथ बढ़ रहा है, 11,000 करोड़ रुपए से अधिक योजना के सार्वजनिक क्षेत्र के लिए जुटाना पड़ेगा। तत्पश्चात् सरकार की आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर जनता को योजना के व्यक्तिगत क्षेत्र की पूर्ति के लिए 4,100 करोड़ रुपए और विभिन्न साधनों से संगृहीत करने पड़ेंगे। इस रीति से 2,200 करोड़ रुपया, जो कि विदेशी आयात पूँजी का अनुमान है, को घटाने के पश्चात् जनता पर 12,900 करोड़ रुपए का भार योजना के लिए पड़ेगा।

जनता की आवश्यकताओं की ओर दुर्लक्ष्य

प्रथम व द्वितीय योजना में कुल व्यय क्रमशः 3,760 करोड़ और 7,700 करोड़ रुपए का था। इस कुल व्यय-राशि में व्यक्तिगत क्षेत्र ने 4,900 करोड़ रुपए की सहायता प्रदान की है। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र में दोनों योजनाओं के काल में 6,560 करोड़ रुपयों का व्यय हुआ। इस रीति से दस वर्षों में 6,560 करोड़ रुपए और आगामी पाँच वर्षों में 12,000 करोड़ रुपए व्यय करने की योजना एक ऊँची छलाँग है और यदि भारी प्रतिरक्षा और राष्ट्र द्वारा किए गए अन्य वायदों, अभिवचनों की ओर देखें तो कोई भी विचारशील व्यक्ति हमारे इन भारों को उठाने की शक्ति पर संदेह करेगा अथवा आर्थिक स्थिरता नष्ट होने की आशंका व्यक्त करेगा। किंतु इस समय हमारे योजना निर्माता

केवल एक ही तर्क हमारे सामने रख रहे हैं कि योजना जनता की अनंत आवश्यकताओं के मुक़ाबले बहुत छोटी है। परंतु जब वह निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों का निर्धारण करते समय योजना में प्राथमिकता को निश्चित करते हैं, तब वह अपने तर्क को आसानी से भूल जाते हैं। मूलभूत और बड़े उद्योगों पर अनावश्यक बल दे कर और निर्यात के नाम पर उपभोक्ता वस्तुओं पर कर लगाकर उन वस्तुओं को जो कि सर्वसाधारण के दैनंदिन जीवन के लिए आवश्यक है, योजना निर्माता जनता की आवश्यकताओं को और दुर्लक्ष्य कर रहे हैं, यही हमें कहना पड़ेगा। वास्तव में आज हमें विकास की दीर्घकालीन आवश्यकता और व्यक्तियों के रहन-सहन के अच्छे स्तर की आकांक्षा, जो कि अल्पकालीन आवश्यकताओं द्वारा संभव है, को संतुलित करना है।

योजना का ढंग, जो कि हमने रूसी ढंग की नक़ल करके ग्रहण किया है, इस संतुलन को निकालने में असफल सिद्ध हुआ है। तृतीय योजना केवल भार को और अधिक गुरुतर बना रही है, जोकि भारतीय अर्थव्यवस्था पिछले वर्षों में अनुभव करती रही है।

संतुलन का अभाव

कृषि को तृतीय योजना में प्राथमिकता देने का अनुमान है कृषि के उत्पादन कार्यक्रम पर, जिनमें छोटी व बड़ी सिंचाई योजनाएँ, मिट्टी सरंक्षण और सहकारिता भी सम्मिलित है, तृतीय योजना में 1,200 करोड़ रुपया व्यय करना है, जबकि द्वितीय योजना में 667 करोड़ रुपया था। लेकिन यदि हम औद्योगिक वितरण के कुल जोड़ को देखें, जो कि विनियोग करने के लिए प्रस्तावित किया गया है, तो वह यातायात और परिवहन पर होने वाले 1,486 करोड़ रुपए के व्यय को मिलाकर 2,990 करोड़ रुपए हो जाता है। वास्तव में, कृषि के लिए निश्चित किए गए व्यय में से 226 करोड़ रुपए उत्पादन कार्यक्रम पर व्यय किए जाएँगे। व्यय का अधिकांश भाग प्रमुख एवं माध्यमिक सिंचाई और नलकूप आदि पर, जिसको औद्योगिक मिश्रण कहते हैं, व्यय किया जाएगा। इस प्रकार जब कि 450 करोड़ रुपए से अधिक उद्योगों पर विनियोग किया जाएगा, परंतु यदि हम सहकारिता को मिलने वाली रकम को भी लें, तब कृषि पर केवल 500 करोड़ रुपया विनियोजित होगा। यह मानते हुए कि उद्योगों को पूँजी की और अधिक आवश्यकता पड़ेगी—यह महान् अंतर दूसरी योजना काल में पैदा हुए असंतुलन को दूर नहीं कर सकेगा।

सहकारी खेती बाधक

कृषि-विकास, सामुदायिक विकास के कार्यकर्ता और सहकारिता ही वह माध्यम है, जिनके द्वारा सरकार योजनाओं को कार्यान्वित करती है। किंतु यह कार्य को पूर्ण

करने में उपयुक्त सिद्ध नहीं हुए हैं। किसान में आज न तो जोश है और न विश्वास ही। जिस प्रकार भूमि सुधार किया जा रहा है, वह कृषि, अर्थव्यवस्था में बाधा ही पहुँचा रहा है। अनिश्चित परिवर्तन की स्थिति का अंत आता दिखाई नहीं देता। सहकारी खेती की ग़लत अनुमानित योजना भी कृषि उत्पादन को अस्त-व्यस्त करने में सहायक हुई है।

किसान के लिए ऋण जुटाने की व्यवस्था नहीं

खेती की पूँजी विषयक आवश्यकताओं को साधारणतः उपेक्षित किया जाता है। रिज़र्व बैंक द्वारा बैठाए गए ग्राम्य-सर्वेक्षण ने ग्रामीणों की ऋण संबंधी आवश्यकताओं की सहकारी समितियों और अन्य नई संस्थाओं द्वारा संतुष्ट न कर पाने की अक्षमता की ओर ही संकेत किया है। पुराने प्रबंध समाप्त होते जा रहे हैं और उनका स्थान नए नहीं ले पा रहे हैं। काश्तकारी अधिकार और भूमि के प्रभुत्व संबंधी प्रत्येक सुधार ग्राम्य व्यवस्था को उलट देते हैं। जबकि उद्योगों एवं व्यापार में लगे रहनेवालों के लिए आधिकारिक ऋण सुविधाओं की वृद्धि की जा रही है, ग्रामीण को उसके चले आनेवाले ऋण प्राप्त करनेवाले साधनों से वंचित रखा जा रहा है और यदि सिंचाई एवं अन्य सुविधाएँ उपलब्ध भी हैं, तब भी ग्रामीण-जनता कृषि में विनियोग के लिए धन के अभाव में उनका प्रयोग नहीं कर सकती। यदि सरकार वास्तव में कृषि को उन्नत करना चाहती है, तब उसको ऋण सुविधाओं और बाज़ार जैसी संस्थाओं में धन का एक बड़ा भाग विनियोजित करना पड़ेगा। सहकारी समितियाँ एक आदर्शवादी आधार पर आश्रित हैं, लेकिन उनको जीने योग्य और कुशल होने देना चाहिए।

औद्योगिक कार्यक्रम की प्राथमिकताओं में संशोधन की आवश्यकता है। तीसरी योजना निम्न प्राथमिकताओं को प्रस्तुत करती है :

1. द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में विचारणीय योजनाओं की पूर्ति जो कि चल रही है, अथवा विदेशी विनिमय की कठिनाई के कारण 1957-58 में स्थगित कर दी गई थी।
2. भारी आर्थिक व्यापार और लघु निर्माण उद्योगों, मिट्टी द्वारा धातु को गलाकर ढलाई, कम मूल्य की धातुओं की मिलावट करना, औज़ार और निर्माण करके लोहे के छड़, लोहा और पक्का लोहा और कम मूल्य की धातुओं से मिला हुआ लोहा और खाद तथा पेट्रोलियम उत्पादों के उत्पादन का विस्तार।
3. मुख्य प्रारंभिक अच्छे उद्योगों और एल्युमिनियम, धातु तेल, कार्बनिक व अकार्बनिक रसायन और पेट्रो रसायन उत्पादों से मिलाकर बने मध्यवर्ती उत्पादों आदि वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि।
4. गृह उद्योगों की आवश्यक आवश्यकताओं, जैसे औषधि, क़ाग़ज, कपड़ा,

चीनी, वनस्पति तेल और जलाने की वस्तुओं को पूरा करने के लिए ज़रूरी वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि।

लघु उद्योगों को बढ़ावा दिया जाए

प्रमाण के रूप में यह कहा जा सकता है कि इन प्राथमिकताओं को निश्चित करते समय देश में मूल्य-वृद्धि और बेकारी की बढ़ोतरी का कोई ध्यान नहीं रखा गया है। यह तो सत्य ही है कि देश को दीर्घकाल में अपनी समस्त आवश्यकताओं को ध्यान रखते हुए आत्म-निर्भर रहना चाहिए, लेकिन हम मूल्यों की स्थिरता के लिए अधिक समय तक उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन भी स्थगित नहीं कर सकते। यदि सरकार यह मान ले कि अधिक अन्न उत्पादन अकेला क़ीमतों को नीचे गिरा देगा तो सरकार ग़लत रास्ते पर चली जाएगी। जनता का उपभोग स्तर तेज़ी से बदल रहा है और उसकी माँगों को बहुत-सी वस्तुओं के द्वारा संतुष्ट करना है। इसी प्रकर यदि बेकारी को जड़ से उखाड़ना है तो हमको अत्यधिक पूँजी केंद्रित उद्योगों पर से दबाव हटाकर श्रम बहुल उद्योगों पर डालना पड़ेगा। घने बसे क्षेत्रों में से बेकारी को हटाने के लिए तृतीय योजना में प्रस्तावित जाँच कार्य का कार्यक्रम समस्या की जड़ पर कोई प्रभाव नहीं डालता। खादी और अंबर चरखे को सरकार द्वारा दी जा रही सहायता सार्वजनिक धन का दुरुपयोग है। आवश्यकता के समय श्रमदान आवश्यक हो सकते हैं, लेकिन यह एक साधारण नियमित कार्यक्रम की भाँति नहीं होना चाहिए। यदि जनता को लाभदायक रोज़गार प्रदान करना है तो योजना को अपने औद्योगिक कार्यक्रम को बदलना होगा। लघुस्तरीय यांत्रिक उद्योग, जिसको केवल 84 करोड़ रुपया दिया गया है, को हमारे औद्योगीकरण के कार्यक्रम के तौर पर बढ़ाना चाहिए। औद्योगिक कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए विदेशी साधनों के तौर पर अत्यधिक निर्भरता रखी गई है। उद्योगों और खनिज उन्नति में होने वाले कुल 2,993 करोड़ रुपया में से 1,335 रुपए तो विदेशी विनिमय द्वारा ही प्राप्त होंगे। इस रीति से इसे भी कम आँका गया है, क्योंकि तृतीय योजना में कहा गया है— 'विदेशी विनिमय की आवश्यकताओं का अनुमान इस मान्यता पर आधारित है कि भुगतान नकद होने और मुख्यतः यंत्र और सामग्री सस्ते साधनों से प्राप्त की जाएगी।' किंतु जैसा कि हम जानते हैं, शायद यह मान्यताएँ सत्य न हों। स्मरण रहे, द्वितीय योजना में हमारे समस्त अनुमान ग़लत हो गए थे।

जनता पर अधिक भार

विदेशी शासनों पर इसकी अधिक निर्भरता योजना पर इसके समस्त उत्पादन-कार्यक्रम को निर्यात द्वारा धनोपार्जन बढ़ाने के लिए दबाव डालता है। इस कार्यक्रम की

समस्त आवश्यकताएँ आंतरिक बाज़ार के विकास की आवश्यकता, मूल्यों में स्थिरता, उद्योगों का फैलाव और उत्पादन में श्रम की प्रचुरता के विपरीत जाने के लिए कहती हैं। ये आवश्यकताएँ जनता पर बोझ और भी बढ़ा देती हैं।

जनता की परेशानियाँ पूर्ववत्

इस प्रकार स्वयं को हम एक अजीब घेरे के फंदे में फँसा पाते हैं। तृतीय योजना इसको तोड़ने के लिए कोई साधन नहीं अपनाती है। योजना निर्माताओं में बातों को छोड़कर इस संकट से निकलने योग्य आवश्यक उपाय का अभाव है। शायद वे बुरी तरह से इसमें फँस गए हैं कि वह अपने सत्य स्वरूप में चीज़ों को देख भी नहीं सकते। वह इस बात को अनुभव करने में असफल हो गए हैं कि प्रत्येक देश की औद्योगिक उन्नति उस देश की अपनी दशाओं की पिछली बातों के आधार पर ही होती है। अधिकतम उत्पादन विभिन्न उत्पादनों के साधनों की मात्रा के विभिन्न उपयोग द्वारा ही संभव है। प्रत्येक देश का आदर्श उस देश के इन साधनों की सीमांत उपयोगिता पर निर्भर है। योजना-निर्माता विचारहीनता के साथ पश्चिमी तरीक़ों की नक़ल कर रहे हैं, जिसके फलस्वरूप इतना खर्च करने के बाद भी यहाँ जनता की परेशानियों में कोई सुधार नहीं हुआ है।

समाजवादी नारे का दुष्परिणाम

पश्चिमवाद के अतिरिक्त, योजना-निर्माता समाजवादी युग में प्रवेश करने के विचार से भी पीड़ित हैं। समाजवाद के अंतिम लक्ष्य अर्थात् प्रत्येक नागरिक और उनके कार्यों में व्यक्तिगत लाभ के विरुद्ध सामाजिक कारण से प्रभावित करना आर्थिक असमानता में कमी और सभी को सामाजिक न्याय की स्वीकृति में कठिनाई से ही कोई भेद होगा। परंतु समाजवादी देशों द्वारा इन उद्‌देश्यों को पाने के लिए अपनाए गए साधन कठिनाई से ही इसके लिए उपयुक्त होंगे। राज्य समस्त उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व के लिए आगे आता है और छोटे व बड़े सभी नागरिक अपनी पहचान खो देते हैं। इन रूढिवादी तरीक़ों का अनुसरण करते हुए भारत अपनी सामर्थ्य से ऊपर अपने कार्य-क्षेत्र का विस्तार कर रहा है। वह केवल इस आधार पर है कि सार्वजनिक क्षेत्र को प्राथमिकता दी जा रही है और अन्य समस्त क्षेत्रों को गौण स्वरूप प्रदान किया जा रहा है। तृतीय योजना भी इस समाजवाद की दिशा में आगे की ओर एक बड़ी छलाँग लगाने का प्रयास है।

क्षेत्रों का कृत्रिम विभाजन घातक

एक नियोजित अर्थव्यवस्था में सरकार के क्रियाकलापों का एक निश्चित क्षेत्र होता है, किंतु राष्ट्र की उत्पादन-शक्ति को कृत्रिम विभाजन से बाँधने की चेष्टा, जो

परस्पर विरोधी हो, सिद्धांततः ठीक नहीं है। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र के विकास में अच्छे से अच्छा योग देने की स्वीकृति होनी चाहिए। गत दस वर्षों का इतिहास बताता है कि व्यक्तिगत क्षेत्र ने धन का विनियोग एवं अधिक उत्पादन करने की अपनी क्षमता दिखाई है। फिर क्यों नहीं इन सेवाओं का उपयोग किया जाता है? यदि हम बिड़ला और टाटा को सहन कर सकते हैं, तब कुछ और को सहन करने में क्या हानि है? सामाजिक न्याय की आवश्यकता राजकोषीय उपायों द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। तृतीय योजना को क़ीमतों की स्थिरता के लिए सार्वजनिक क्षेत्र को संगठित करने की ओर अधिक ध्यान देना पड़ेगा। यदि उन्हें उत्पादन की क़ीमतों पर बिना किसी प्रकार के कर के कुशलतापूर्वक लाभ लाभदायक स्थिति में सम्मलित करना है तो उनको कुशल व्यक्तियों द्वारा पुनः संगठित और कार्यान्वित करना पड़ेगा। तृतीय योजना में इस विषय पर एक अध्याय भी लिया गया है, परंतु इस दिशा में कोई विधिवत् कार्य नहीं दिया है। विभिन्न सरकारी मंत्रालय और कार्यालयों में समन्वय की समस्याएँ भी हैं। यह सत्य है कि पर्याप्त प्रबंधकीय एवं यांत्रिक गुणों का विकास होना चाहिए। कुशल सरकारी कर्मचारी कठिनाई से ही औद्योगिक विकास कार्यक्रम की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। द्वितीय योजना की बहुत सी समस्याएँ केवल उपयुक्त कार्यकर्ताओं के अभाव के कारण ही थीं। अतः पुनः इस ग़लती को कर बैठना बुद्धिहीनता होगी।

सुरक्षा का ध्यान आवश्यक

योजना का सबसे बड़ा दोष न तो नीतियों एवं कार्यक्रम के निर्माण में है और न ही इसके साधनों के अनुमान में, अपितु यह देश की रक्षा की नित्य-नवीन आवश्यकता की ओर संकेत करता है। ऐसे समय जब कि देश की संभावित रक्षा में अनिवार्य रूप से वृद्धि की आवश्यकता है, ऐसे उस समय विभागों में महत्त्वाकांक्षी स्तर की योजना निर्माण करना बुद्धिहीनता होगी। योजना की अविभाज्यता और विभिन्न योजनाओं की भौतिक आवश्यकताओं को परिपूरक विनियोगों की आवश्यकता है। अतः इसका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य और मुद्रा में सब प्रकार का प्रभाव जो कि कुछ योजनाओं को स्थगित करना आवश्यक बना रहा है, पहले से ही चालू योजनाओं पर विपरीत प्रभाव डाल सकता है।

अतः ऐसे स्तर पर एक आंतरिक योजना का निर्माण, जो कि साधनों के अनुमानों, समय विलंब और उपलब्धियों का ध्यान रखते हुए निर्धारित की गई हो, आवश्यक है। योजना को यदि अज्ञात डर के कारण स्थगित नहीं कर सकते, तब हमको अवश्य ही योजना इस प्रकार बनानी चाहिए कि पूर्वानुमान से परे कोई आपात स्थिति हमको हमारे क़दम से दूर न फेंक दे।

संक्षेप में तृतीय पंचवर्षीय योजना के प्रति अयथार्थपरक और अव्यावहारिक दृष्टिकोण, साधनों के संबंध में अपनाए अधिक अनुमान, योजना के संबंध में अमानवीय शक्ति की अपेक्षा किसान, मज़दूर, व्यापारी एवं उद्योगपति वर्गों के प्रति अविश्वास, सरकारी क्षेत्र एवं सरकारी एजेंसियों पर आशा से अधिक निर्भरता तथा अनावश्यक एवं अवांछनीय विश्वास, जनता की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति की निरंतर अवहेलना, विदेशी व्यापार के संतुलन तथा मूल्यों की स्थिरता संबंधी निश्चित एवं प्रभावी नीति-निर्धारण में असफलता, सरकारी उद्योगों की कठिनाइयों को दूर करने और उनकी वृद्धि करने में सफलता का अभाव, सभी स्वस्थ व्यक्तियों को काम दिलाने के दृष्टिकोण से संपूर्ण औद्योगिक कार्यक्रम के पुनर्नवीकरण तथा कार्यक्रम में परिवर्तन की आवश्यकता के प्रति घोर उपेक्षा, अवांछनीय एवं अनुचित रूप से विदेशी सहायता पर निर्भरता, तृतीय योजना की कुछ प्रमुख खामियाँ हैं। यदि प्रजातंत्र में योजना के संबंध में जनता के विश्वास को क़ायम रखना है और एक-दूसरे के प्रति की जाने वाली उपेक्षा को दूर करना है तो तृतीय पंचवर्षीय योजना में तदनुरूप परिवर्तन करना अपरिहार्य है।

—पाञ्चजन्य, सितंबर 4, 1961

□

49

राजनीतिक दलों के लिए आचार-संहिता

भारत में राजनीतिक दलों के लिए एक आचरण संहिता बनाने की दीर्घकाल से अनुभूत आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक सम्मेलन आयोजित किए जा चुके हैं। इन सम्मेलनों में कुछ प्रायोगिक निर्णय भी किए गए हैं। वहाँ हुए विचार-विमर्शों के वृत्तों (रिपोर्ट) से ऐसा प्रतीत होता है कि संहिता के व्याप्तिक्षेत्र और स्वरूप का निर्धारण होना अभी भी शेष है। लिये जा रहे विभिन्न निर्णयों का पालन करने के लिए नैतिक बंधन के अतिरिक्त और कोई बंधन नहीं है। फिर भी यदि लोगों को समुचित शिक्षा प्राप्त हो, तो वे निश्चित रूप से राजनीतिक दलों पर प्रभाव डालेंगे, और इस प्रकार संहिता के जानबूझकर उल्लंघन के अवसर कम कर देने में सहायक होंगे।

जनता तथा अन्य राजनीतिक दलों के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत करने का मुख्य दायित्व कांग्रेस पर है, क्योंकि वह न केवल सबसे पुराना दल है, अपितु सबसे बड़ा दल है और सत्तारूढ़ भी है। दुर्भाग्यवश, गत कुछ वर्षों से कांग्रेसियों का राजनीतिक आचरण कुछ श्लाघ्य नहीं रहा है। कांग्रेस का परित्याग करनेवालों के जो दल गठित हुए हैं, वे भी उसी रोग से ग्रस्त हैं, विशेषकर इसलिए कि जो लोग कांग्रेस का परित्याग करते हैं, वे शायद ही कभी सैद्धांतिक आधार पर वैसा करते हैं। इसलिए ग़ैर-कांग्रेसी दलों के लिए यह आवश्यक है कि वे एक ऐसी संहिता का निर्माण करने की जागरूक चेष्टा करें, जो स्वस्थ हो और जिससे इस देश में राजनीतिक जनतंत्र का सुगठन हो सके। उन्हें बहुत सी बुराइयों को दूर करना होगा, जिन्हें कांग्रेस और कांग्रेसियों ने पैदा किया है। इन बैठकों में किए गए कुछ निर्णयों से केवल कांग्रेस और उसके सदस्यों को ही लाभ होगा। उदाहरण के लिए उस व्यक्ति को टिकट नहीं देना, जिसे टिकट देने से किसी अन्य दल ने इनकार कर दिया हो या व्यक्तिगत तथा निजी त्रुटियों की चर्चा न करते हुए

केवल राजनीतिक बातों तक ही आलोचना को सीमित रखना। फिर भी, इन बातों में कांग्रेस को अनुगृहीत करना ही अधिक अच्छा होगा, क्योंकि यदि इसके द्वारा वह अपने घर को सुव्यवस्थित करने में सक्षम हो सके, तो उसका परिणाम राष्ट्र के सामान्य राजनीतिक स्वास्थ्य पर भी अच्छा ही पड़ेगा।

आवेदन देने से लेकर सामूहिक सत्याग्रह तक, और धरना से लेकर विवश करनेवाले अनशनों तक, ये सभी आज की सामान्य बातें हो गई हैं। प्राय: जनमत-संग्रह करने (Plebiscite) और लोकेच्छा जानने (Referendum) तक की बातें की जाने लगी हैं। कुछ लोग, विशेषत: कम्युनिस्ट, हिंसात्मक उपायों की भी चर्चा करते हैं।

सरकार के निर्णयों को प्रभावित करने के लिए राजनीतिक दलों द्वारा व्यवहार में लाए जाने वाले साधनों के बारे में भी एक आचरण-संहिता का विकास करने की आवश्यकता है। आज हमारा राजनीतिक और सार्वजनिक जीवन स्वातंत्र्य-संघर्ष का ही एक विस्तार मात्र रह गया है। इसलिए लोग सामान्यतया उन सारे साधनों का सहारा लेना उचित समझते हैं, जिनका उपयोग हम विदेशी शासकों के विरुद्ध करते थे। अपने अभाव-अभियोगों को दूर कराने के लिए आंदोलन करनेवाली जनता के प्रति प्रशासन के दृष्टिकोण में भी कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आया है। प्रशासन जनता द्वारा चलाए जाने वाले किसी भी आंदोलन को कुचल देने के लिए, बिना हिचकिचाहट के तत्क्षण अपनी पूरी शक्ति लगा देता है और जब सरकार जनता को दबा देने में विफल हो जाती है, तभी वह उनकी माँगें सुनने के बारे में विचार करती है। इस प्रकार आंदोलन एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है, जहाँ सरकार की स्थिति दुर्बल पड़ जाती है। दलीय सरकार होने के कारण दल के स्वार्थ भी बीच में आ जाते हैं और इस प्रकार उन प्रसंगों में भी, जिनमें जनता अपनी माँगें सरकार से मनवा लेती है, शालीनता नहीं रहती। कटुता की भावना रह जाती है। इस प्रकार जनता की दृष्टि में सरकार धीरे-धीरे एक भयजनक पिशाच का प्रतीक बन जाती है। दोनों के बीच खाई बढ़ती जाती है। यह सुखकर स्थिति नहीं है।

जनतंत्र में विश्वास करनेवाले सभी राजनीतिक दलों और सरकार को विशिष्ट प्रश्नों के बारे में जनता के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति संबंधी एक समान संहिता मान्य करनी चाहिए। सरकार को प्रस्तावों और आवेदनों के प्रति अधिक उत्तरदायी बनना चाहिए। यदि सरकार गोहत्या पर प्रतिबंध लगाने की माँग करनेवाले दो करोड़ से भी अधिक लोगों के हस्ताक्षरों को रद्दी की टोकरी में फेंक देती है, किंतु उसी प्रश्न पर सत्याग्रह के सामने झुक जाती है, तो इसे सरकार की जनतांत्रिक भावना का परिचायक नहीं कहा जा सकता। प्रधानमंत्री चाहे जो कह सकते हैं, परंतु यह सर्वसामान्य भावना है कि आंध्र प्रदेश का निर्माण पोत्ती श्रीरामुलु के अनशन और उनकी मृत्यु के बाद व्यापक

पैमाने पर घटित तोड़फोड़ एवं हिंसात्मक घटनाओं का प्रत्यक्ष परिणाम था। इस भावना को दूर किया जाना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रधानमंत्री अब अकाली नेता के अनशन के प्रति कठोर रुख़ अपनाकर शायद वही कर रहे हैं। परंतु यदि मास्टर तारासिंह की मृत्यु हो जाती है, तो जनता की उस भावना को दूर करने का सरकारी प्रयास बहुत महँगा पड़ेगा। वस्तुतः कुछ ठोस कार्य होना चाहिए, ताकि ऐसे अनशनों तथा सत्याग्रहों के अवसर ही न आने पाएँ। हम सब यह निश्चय करें कि दो चुनावों के बीच किन प्रश्नों पर आंदोलन किया जा सकता है।

दो आम चुनावों के बीच केवल छोटे प्रश्नों के लिए सरकार पर दबाव डालना चाहिए और बड़े प्रश्नों को चुनाव के समय जनता के निर्णय के लिए छोड़ देना चाहिए। चुनाव में सरकार को बदल देने के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से सरकारी नीति में बड़े परिवर्तन के लिए हठपूर्ण आग्रह करना अप्रजातांत्रिक होगा।

—ऑर्गनाइज़र, सितंबर 4, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

50

सांप्रदायिकता के ख़िलाफ़ लड़ाई अधूरे मन से नहीं लड़ी जा सकती*

एक प्रेस सम्मेलन को दीनदयालजी का संबोधन

यदि सांप्रदायिकता से लड़ा जाना है, तो इस बारे में कोई आधा-अधूरा मन नहीं होना चाहिए। अकाली अलगाववाद का तुष्टीकरण और नियंत्रण दोनों एक साथ नहीं हो सकते।

यह आश्चर्यजनक है कि जहाँ प्रधानमंत्री ने अकाली सूबे की सांप्रदायिक माँग दृढतापूर्वक ख़ारिज कर दी थी, वहीं उसी के साथ उन्होंने क्षेत्रीय समितियों[1] की शक्तियों को बढ़ाने की बात कही, जो राज्य के सांप्रदायिक सीमांकन पर आधारित हैं।

समय आ गया है, जब पिछली ग़लतियों को सुधारा जाना चाहिए, इन· क्षेत्रीय

---

* देखें परिशिष्ट VII, पृष्ठ संख्या 265।

1. क्षेत्रीय फॉर्मूला उन अनेक योजनाओं में एक था, जो भाषाई आधार पर राज्य के पुनर्निर्धारण के बग़ैर पंजाब में भाषा समस्या के हल के लिए तैयार की गई थी। केंद्र सरकार और अकाली दल नेताओं के मध्य बैठकों के बाद भारत सरकार ने मार्च 1956 में इसकी घोषणा की थी। इसमें पंजाब में पटियाला के पार्ट बी क्षेत्र और ईस्ट पंजाब स्टेट्स यूनियन का विलय करने और पूरे राज्य को दो क्षेत्रों-हिंदी और पंजाबी में बाँटने का प्रस्ताव था। हरेक की अलग क्षेत्र परिषद् बनाने और इसमें संबंधित ज़ोनों के प्रतिनिधित्व करनेवाले विधायकों को शामिल करने का भी प्रस्ताव किया गया। फॉर्मूले को अनिच्छापूर्वक स्वीकार किया गया और आधे-अधूरे मन से कार्यान्वित किया गया। लगभग एक दशक तक अप्रभावी रूप से लागू रहा और 1 नवंबर, 1966 को राज्य का विभाजन पंजाब और हरियाणा के रूप में कर दिया गया।

समितियों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए, सच्चर[2] और पैप्सू फॉर्मूले ख़त्म कर दिए जाने चाहिए, और पूरे पंजाब का प्रशासन किसी भी अन्य राज्य की तरह एक समान आधार पर होना चाहिए।

—ऑर्गनाइज़र, सितंबर 18, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

2. अक्तूबर 1949 में पंजाब सरकार ने भाषा विवाद के हल के लिए सच्चर फॉर्मूला (भीम सेन सच्चर, राज्य के तत्कालीन मुख्यमंत्री) घोषित किया। इसमें यह स्वीकार किया गया कि हिंदी और पंजाबी दोनों ही पंजाब की क्षेत्रीय भाषाएँ हैं। हाई स्कूल तक शिक्षण के माध्यम के उद्देश्य से राज्य को हिंदी और पंजाबी ज़ोनों में बाँटने का निर्णय हुआ। फॉर्मूले में हिंदी क्षेत्रों में शिक्षण का माध्यम हिंदी को बनाया गया और चौथी कक्षा से आगे के लिए पंजाबी शिक्षण अनिवार्य कर दिया गया। इसी प्रकार पंजाबी ज़ोनों में स्कूलों में शिक्षण का माध्यम पंजाबी रखी गई और चौथी कक्षा से हिंदी को अनिवार्य विषय बनाया गया। इसमें क्षेत्रीय भाषा को बालकों के स्कूलों में चौथी कक्षा से और बालिकाओं के स्कूलों में छठवीं कक्षा से पढ़ाए जाने का प्रावधान निर्धारित किया गया। ग़ैर सरकारी वित्तीय सहायता वाले, लेकिन मान्यता प्राप्त स्कूलों में शिक्षण माध्यम निर्धारित करने का अधिकार संबंधित प्रबंधतंत्र को दिया गया, लेकिन उनके लिए यह क़ानूनी तौर पर आवश्यक था कि वे हिंदी अथवा पंजाबी को द्वितीय भाषा के रूप में अनिवार्य तौर पर पढ़वाएँ।

51

जनसंघ विजयादशमी पर चुनाव अभियान शुरू करेगा

दीनदयालजी ने 21 सितंबर को जयपुर में संवाददाता सम्मेलन को संबोधित किया।

जनसंघ 19 अक्तूबर को विजयादशमी दिवस से अपना चुनावी अभियान शुरू करेगा। जनसंघ उड़ीसा को छोड़कर सभी राज्यों में उम्मीदवार खड़े कर रहा है। उन्होंने कहा कि पार्टी के लगभग 200 उम्मीदवारों के नाम पहले से ही तय कर दिए गए हैं, जबकि शेष नामों की 15 नवंबर तक घोषणा किए जाने की संभावना है।

जहाँ तक चीनी समस्या का संबंध है, भारतीय जनसंघ के नेता ने कहा कि चीन के साथ शांतिपूर्ण वार्ता का दौर समाप्त हो गया है और भारत सरकार को चीनी आक्रमण से अपना क्षेत्र बलपूर्वक खाली कराने के लिए मनोवैज्ञानिक तौर पर तैयार रहना चाहिए। जनसंघ का यह सुविचारित मत है कि भारतीय क्षेत्र से चीनी हमलावरों को बाहर निकालने के लिए सैन्य कार्रवाई की जानी चाहिए। इसी तरह की कार्रवाई गोवा को मुक्त कराने के लिए भी ज़रूरी है।

—ऑर्गनाइज़र, सितंबर 25, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

52

अंग्रेज़ी धारण का परिणाम शासक और शासित के बीच वर्गीकरण में निकलेगा

एक संवाददाता सम्मेलन में दीनदयालजी का बयान।

श्री के.एम. मुंशी[1] द्वारा अंग्रेज़ी की वकालत आश्चर्य की बात है। उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन के कारणों को समझना असंभव है। जो लोग अंग्रेज़ी को भारत की राष्ट्रीय चेतना का कारण और साधन मानते हैं, वे हमारे राष्ट्रवाद के सकारात्मक पक्ष की उपेक्षा करते प्रतीत होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मैकाले की भविष्यवाणी सच हो गई है और भारत के अंग्रेज़ी शिक्षित लोग केवल नाम में भारतीय रह गए हैं। इस प्रकार के लोग न तो भारत की आत्मा का अहसास कर सकते हैं और न ही वे किसी भी सकारात्मक आदर्श की प्राप्ति के लिए लोगों को प्रेरित करने का प्रयास कर सकते हैं। जब तक अंग्रेज़ी जारी रहेगी, तब तक नेताओं और रहनुमाई किए जाने वाले लोगों के बीच हमेशा एक न भरने वाली खाई होगी। इसके परिणामस्वरूप या तो लोग दमन और अधीनता की भावना के साथ निष्क्रिय बने रहेंगे या नेतृत्व के ख़िलाफ़ विद्रोह करना ज़ारी रखेंगे। ये दोनों स्थितियाँ देश के एक शांतिपूर्ण, व्यवस्थित और लोकतांत्रिक विकास के लिए वांछनीय नहीं हैं। यदि हम इस तबाही से बचना चाहते हैं, तो हमें जितनी जल्दी हो सके, अंग्रेज़ी को हिंदी और क्षेत्रीय भाषाओं से प्रतिस्थापित कर देना चाहिए।

---

1. कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी 'कुलपति' (1887-1971) गुजरात राज्य के शिक्षाविद्, लेखक, राजनीतिज्ञ थे, जिन्होंने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय हिस्सेदारी निभाई। उन्होंने 1938 में भारतीय विद्या भवन स्थापित किया। वह 1952 से 1957 तक उत्तर प्रदेश के राज्यपाल रहे। 1959 में मुंशी नेहरू के वर्चस्व वाली कांग्रेस पार्टी से अलग हो गए और अखंड हिंदुस्तान आंदोलन शुरू कर दिया। वह मज़बूत प्रतिपक्ष में विश्वास रखते थे, उन्होंने चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के साथ मिलकर स्वतंत्र पार्टी बनाई। बाद में मुंशी जनसंघ में शामिल हो गए थे।

तीसरी योजना में कृषि पर दिया गया ज़ोर भ्रामक

तीसरी पंचवर्षीय योजना उन कारणों का समाधान करने का प्रयास नहीं करती है, जिनके परिणामस्वरूप दूसरी योजना की अवधि के दौरान देश की अर्थव्यवस्था दबाव और बोझग्रस्त हुई। यह (योजना) भी दूसरी योजना की तरह पूँजी-प्रधान और आयात उन्मुख बनी हुई है। कृषि को प्राथमिकता केवल शब्दों में दी गई है। प्रस्तावित कार्यक्रमों का परिणाम कृषि उत्पादन में वृद्धि में निकलने की संभावना नहीं है। क़ीमतों में स्थिरता के लिए कोई प्रभावी और सकारात्मक नीति का सुझाव नहीं दिया गया है। तीसरी योजना की अवधि की समाप्ति के बाद बेरोज़गारी में कमी के बजाय वृद्धि होगी।

जनसंघ का मानना है नियोजन की तकनीक और अवधारणा में क्रांतिकारी परिवर्तन किए जाने चाहिए। योजना मुख्य रूप से ऐन कच्चे माल की ख़रीद से लेकर अंततः बाज़ार में उनके निपटान तक देश के संसाधनों पर आधारित होनी चाहिए। विदेशी पूँजी का अत्यधिक आयात न केवल हम पर ऋणों का बोझ लाद देता है, बल्कि हमारी अर्थव्यवस्था के आंतरिक विकास में भी बाधा उत्पन्न करता है। उन देशों की विशिष्ट कारक उपलब्धता में विकसित की गई विदेशी प्रौद्योगिकी मुख्य रूप से पूँजी प्रधान और श्रम को न्यून करनेवाली है। इसके विपरीत हमें एक ऐसी प्रौद्योगिकी की आवश्यकता है, जो श्रम प्रधान और अल्प-पूँजी आधारित हो। यदि ऐसी तकनीक अपनाई जाती है, तो वह भारत के आर्थिक विकास की दर को गति देगी। हमें अपने आप को विदेशी विचारधाराओं और विदेशी प्रौद्योगिकियों से मुक्त करना होगा और हमारे आर्थिक विकास की अवधारणा को यथार्थवाद और राष्ट्रवाद पर आधारित करना होगा। हम स्वदेशी की भावना को पुनर्जीवित करें। एकमात्र वही हमें संयमित खपत और अधिक-से-अधिक उत्पादन की ओर ले जाएगी। यदि हम विकेंद्रीकृत मेकैनाइज़्ड लघु उद्योगों के आधार पर सभी को काम उपलब्ध करा सकते हैं, तो वितरण में समानता की आवश्यकताएँ अधिकांशतः स्वयमेव पूरी हो जाएँगी। शेष चीजें सरकार द्वारा अपनाए गए राजकोषीय उपायों के माध्यम से प्राप्त की जा सकती हैं।

अलीगढ़

अलीगढ़ विश्वविद्यालय की घटनाओं से यह स्पष्ट है कि यह सांप्रदायिक और राष्ट्र विरोधी गतिविधियों जैसी बुराइयों के पनपने का अड्डा बना हुआ है। यह पता चला है कि न केवल छात्र, बल्कि विश्वविद्यालय के कुछ अधिकारी भी इस घटना के साथ जुड़े रहे हैं। ग़ैर-मुसलिम छात्रों को मात्र यह सबक सिखाने के लिए इतनी बुरी तरह पीटा गया, ताकि वे भविष्य में छात्र संघ चुनाव लड़ने की हिम्मत न कर सकें। लोकसभा में हुई बहस में विश्वविद्यालय के मामलों की वास्तविक स्थिति सार्वजनिक

की गई थी, इसके बावजूद केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय आत्मतुष्ट और उदासीन बना हुआ है। उनकी आपराधिक लापरवाही के कारण ही यह वर्तमान घृणित स्थिति उत्पन्न हुई है। मैं आग्रह करता हूँ कि विश्वविद्यालय के मामलों की जाँच स्थापित की जाए और इसे सांप्रदायिक और राष्ट्र-विरोधी तत्त्वों से मुक्त कराने के लिए क़दम उठाए जाएँ।

—ऑर्गनाइज़र, अक्तूबर 23, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

☐

53

कम्युनिस्ट पार्टीजनों और कम्युनिस्ट कांग्रेसियों के अपवित्र गठजोड़ को हराओ

भारतीय जनसंघ ने चुनाव से पहले दिल्ली में एक जनसभा आयोजित की। इस विशाल जनसभा को संबोधित करने वाले मुख्य नेता थे प्रो. मधोक, डॉ. महावीर और श्री केदारनाथ साहनी। विशाल जनसमूह को संबोधित करते हुए दीनदयालजी ने कहा :

आदर्शवाद का अभाव, अनिश्चित नीतियाँ, अनुशासनहीनता, अवसरवाद और गुटबंदी 'कांग्रेस और उसी नस्ल या उसी प्रकार के अन्य दलों का विनाश करेगी।' जनसंघ इन खेदजनक परिस्थितियों का अंत करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ है। एकमात्र जनसंघ ही देश को वर्तमान राजनीतिक अराजक स्थिति से बाहर निकालकर एक व्यवस्था का निर्माण करेगा।

राष्ट्रवाद बनाम साम्यवाद

आज असली लड़ाई राष्ट्रवाद और साम्यवाद की शक्तियों के बीच है। चीनी आक्रमण के संबंध में अपने रुख़ से बेनक़ाब हो चुके कम्युनिस्ट अब कांग्रेस में घुसपैठ की कोशिश कर रहे हैं और कांग्रेस में जो लोग कम्युनिस्टों के साथ वैचारिक समानता रखते हैं, वे देशहित की नितांत अनदेखी करते हुए उनका स्वागत कर रहे हैं। ज़ाहिर है, वर्तमान कांग्रेस सरदार पटेल और बाबू पुरुषोत्तम दास टंडन की कांग्रेस नहीं है, बल्कि यह मेनन और मालवीय की कांग्रेस है। यदि राष्ट्रवाद और लोकतंत्र को जीवित रहना है, तो इस तरह की कांग्रेस को सत्ता में बने रहने की अनुमति नहीं दी जा सकती है। जनसंघ ने कांग्रेस में कम्युनिस्टों और छद्म कम्युनिस्टों के अपवित्र गठजोड़ से लड़ने के लिए लोगों को एकजुट

करने और सभी राष्ट्रीय लोकतांत्रिक ताक़तों को ध्रुवीकृत करने का निर्णय किया है। जनसंघ सभी देशभक्त ताक़तों से अपील करता है कि इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए एक साथ आएँ।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जहाँ हमें लोगों के सहयोग की आवश्यकता है, वहीं हमें यह सुनिश्चित करना है कि हम अवसरवादी, स्वार्थ-केंद्रित, असंतुष्ट और कलंकित नेताओं के शिकार न हो जाएँ, जो अपने स्वार्थ के लिए लोगों की वर्तमान कांग्रेस विरोधी भावना का शोषण करना पसंद कर सकते हैं। यदि लोकतंत्र को सफल होना है, तो ऐसे लोगों को ज़रा भी प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए। मुझे आशा है कि लोग संघर्ष की वास्तविक प्रकृति को पहचानेंगे और यहाँ-वहाँ व्यक्तियों और अलग-थलग पड़े समूहों के विघटनकारी और बाँटने वाले हथकंडों का शिकार हुए बिना जनसंघ के पीछे मज़बूती से खड़े होंगे। अगर कांग्रेस का स्थान लिया जाना है, तो हमें व्यापक आधार पर एक संगठन का निर्माण करना होगा और एकल निर्वाचन क्षेत्र या एकल क्षेत्र की सीमाओं तक स्वयं को सीमित नहीं रखना होगा। इसी प्रकार, हमें मात्र तात्कालिक उद्देश्यों की सुविधा के लिए की जाने वाली सभी प्रकार की सौदेबाज़ी से बचना होगा। इस प्रकार के हथकंडे कांग्रेस के पतन के लिए ज़िम्मेदार हैं। कांग्रेस के नक्शेक़दम पर चलने वाला कोई संगठन लोगों की सेवा नहीं कर सकता है।

गोवा के बारे में यह दोहरी बातें बंद करो

कम्युनिस्टों को उपकृत करने भर के लिए गोवा मुक्ति के मुद्दे पर एक शर्मनाक भूमिका निभाने के लिए कांग्रेस शासकों पर कड़ा प्रहार करते हुए भारतीय जनसंघ के नेता ने प्रधानमंत्री और वित्त मंत्री के भाषणों में खुले विरोधाभास का सीधा हवाला दिया। उन्होंने कहा, 'राज्यों में ही नहीं, बल्कि केंद्र में भी गुट हैं। वे गुट किस प्रकार भिन्न ढंग से सोचते हैं और काम करते हैं, यह गोवा की मुक्ति के संबंध में प्रधानमंत्री और वित्त मंत्री के हाल के भाषणों से स्पष्ट है। जहाँ प्रधानमंत्री ने पुर्तगाली पराधीनता से मुक्ति के लिए सैन्य उपायों की बात की थी, वहीं वित्त मंत्री ने सपाट तौर पर गांधीवादी तरीक़ों का सहारा लेने की वकालत की है। राष्ट्र हैरानी महसूस कर रहा है। सरकार की वास्तविक नीति क्या है? सरकार के पक्ष को अनुचित ढंग से प्रस्तुत कौन कर रहा है? सैन्य कार्रवाई एक प्रमुख नीतिगत मामला होता है और इस संबंध में निर्णय सिर्फ़ कैबिनेट स्तर पर ही लिया जा सकता है। तथ्य यह है कि प्रधानमंत्री ने सैन्य उपायों की बात इसलिए नहीं की है, क्योंकि वह वास्तव में अपने शब्दों पर अमल करने का इरादा रखते हैं, बल्कि सिर्फ़ इसलिए की है, क्योंकि वह कॉमरेड कृष्णा मेनन और उन्हीं की तरह के दूसरे उन लोगों को उपकृत करने की इच्छा रखते हैं, जिन्होंने कम्युनिस्ट चीन के अमित्रवत् कर्मों से जनता का ध्यान हटाने के लिए

गोवा मुद्दे को पुनर्जीवित किया है। वे गोवा की मुक्ति के बारे में चिंतित महसूस नहीं करते हैं, बल्कि श्री कृष्ण मेनन के पक्ष में उत्तरी बंबई के मतदाताओं को पटाने के बारे में चिंतित हैं। वित्त मंत्री ने सीधा सच कह दिया है, क्योंकि वह केवल कम्युनिस्टों की मदद करने के लिए झूठी उम्मीदें बनाने में रुचि रखते प्रतीत नहीं होते हैं। जहाँ तक जनसंघ का संबंध है, वह लगातार गोवा में पुलिस कार्रवाई की माँग करता रहा है, और अगर प्रधानमंत्री वास्तव में गंभीर हैं, तो हम इसे अपनी दृढ बात का एक प्रमाण मानते हैं।'

हाल के अनेक चुनावों में दिखी जनसंघ की नीतियों और कार्यक्रमों में लोगों के बढ़ते विश्वास का ज़िक्र करते हुए उन्होंने कहा कि एक वैकल्पिक पार्टी बनने के जनसंघ के प्रयास राजधानी में और अनेक अन्य प्रांतों में सफल हुए हैं। राजधानी में और अन्य स्थानों पर जनसंघ ने कांग्रेस को सफलतापूर्वक चुनौती दी है और लोगों का बढ़ता हुआ विश्वास तथा सहयोग प्राप्त किया है। जहाँ हम लोगों द्वारा हम पर जताए गए विश्वास पर उचित ही विश्वास कर सकते हैं, वहीं चुनाव के संबंध में हमारे समक्ष दोहरे कर्तव्य हैं। एक ओर तो हमें लोगों की उम्मीदों को पूरा करने के लिए सभी प्रयास करने हैं, वहीं दूसरी ओर हमें यह सुनिश्चित करना है कि हम देश की वर्तमान मनोदशा को सकारात्मक दिशा दें।

कांग्रेस को पराजित किया ही जाना है, लेकिन यह कार्य सकारात्मक अपील और कार्यक्रमों के आधार पर किया जाना चाहिए, न कि मात्र प्रतिक्रिया के आधार पर किया जाना चाहिए।

लड़ाई सत्ता के लिए नहीं, बल्कि सिद्धांतों के लिए

जनसंघ ने अपने स्वयं के कार्यक्रमों और नीतियों के साथ मतदाताओं के बीच जाने और अवसरवादी गठबंधनों और संयुक्त मोर्चों से बचने का फ़ैसला किया है। संयुक्त मोर्चे उन लोगों के लिए आवश्यक हो सकते हैं, जिनमें सकारात्मक दृष्टिकोण की कमी है या जिन्हें उनकी असली पहचान और इरादों को छिपाने के लिए एक बहाने की आवश्यकता होती है। हम नहीं मानते हैं कि यह तकनीक उचित हो सकती है, या उपयोगी भी हो सकती है। हम चुनावों को भी सत्ता के लिए एक लड़ाई के रूप में नहीं देखते हैं, बल्कि जनसंघ के लिए यह सिद्धांतों का एक संघर्ष है, जिसके लिए हम खड़े हैं और जिसके लिए हम प्रयास करते हैं। लोकतंत्र को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि लोग उन पार्टियों में संगठित हों, जिनके सुपरिभाषित सिद्धांत, सुनिश्चित नीतियाँ और जिनमें उच्च स्तर का अनुशासन हो।

—ऑर्गनाइज़र, अक्तूबर 30, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

54

जनसंघ का उद्देश्य है एकात्मक स्वरूप की सरकार

अनंतपुर, 5 नवंबर। जनसंघ के महासचिव श्री दीनदयाल उपाध्याय ने कल यहाँ कहा कि उनकी पार्टी ने पिछले दस वर्षों के दौरान शक्ति प्राप्त की है और अब यह अपनी उपस्थिति को व्यापक रूप से महसूस करा रही है।

उन्होंने कहा कि जनसंघ के उद्देश्यों में से एक उद्देश्य सरकार का एकात्मक रूप है, जिसमें राज्य सिर्फ़ प्रांत के रूप में होंगे। जाति या समुदाय को वरीयता दिए बिना सभी नागरिकों के लिए समान अवसर सुनिश्चित किए जाएँगे, जबकि रोज़गार दृढता से योग्यता के आधार पर होगा।

—द टाइम्स ऑफ इंडिया, नवंबर 6, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

55

चीनी आक्रमण : कारण और निराकरण

तीर्थयात्रियों, सैलानियों और पर्वतारोहियों का आकर्षण-केंद्र हिमालय आज एशिया की राजनीति का निर्णायक बन गया है। चीन द्वारा भारत की सीमा का अतिक्रमण, लोंग्जू और लद्दाख के भूभागों पर बलात् और हठात अधिकार तथा हिमालय की गोद में अवस्थित राज्यों के प्रति उसकी नीति इस बात के प्रमाण हैं कि चीन अपनी विस्तारवादी एवं एंशिया में कम्युनिज़्म के प्रसार की अपनी आकांक्षा को पूर्ण करने के लिए एक सुनिश्चित योजना के आधार पर काम कर रहा है। चीन का आक्रमण केवल भारत की ही प्रभुता को चुनौती नहीं है, अपितु संपूर्ण एशिया में स्वतंत्र जीवन-पद्धति और प्रजातंत्र को तथा भारत की अस्मिता को विश्व से मिटाने का एक षड्यंत्र है। हमें उसका प्रतिरोध प्रत्येक मोर्चे पर करना होगा।

चीन के आक्रमण के लिए आज उसे बुरा-भला कहने से काम नहीं चलेगा। वह तो अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील है तथा हमारी गाली-गलौज का उस पर कोई परिणाम नहीं होता। हमें उसका मुक़ाबला करने के लिए गंभीरता के साथ कुछ मौलिक नीतियों का विचार करना होगा और अपने आपको तदनुसार मानसिक एवं भौतिक दृष्टि से सुसज्ज करना होगा।

क्या सहअस्तित्व संभव है?

प्रथम विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या चीन के साथ सह अस्तित्व अथवा मित्रता संभव है? पंचशील[1] के जिन तत्त्वों की हमारे प्रधानमंत्री ने चीन के प्रधानमंत्री के साथ

1. 29 अप्रैल, 1954 को पेकिंग में भारत और चीन ने पंचशील (ऐतिहासिक बौद्ध अभिलेखों से लिया गया शब्द) सिद्धांत पर हस्ताक्षर किया, जिसके अंतर्गत पाँच सिद्धांत निहित थे-
(i) एक दूसरे की प्रादेशिक अखंडता और प्रभुसत्ता का सम्मान करना, (ii) एक-दूसरे के विरुद्ध आक्रामक कार्रवाई न करना, (iii) एक-दूसरे के आंतरिक विषयों में हस्तक्षेप न करना, (iv) समानता और परस्पर लाभ की नीति का पालन करना तथा (v) शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति में विश्वास रखना।

मिलकर घोषणा की, उनमें इस संभावना को स्वीकार किया गया है। किंतु यह राजनीति के ककहरे तथा कम्युनिस्ट आक्रांताओं के बारे में अज्ञान का ही परिचायक है।

दो आदर्शों का संघर्ष

आज एशिया में चीन और भारत के बीच नेतृत्व का संघर्ष है। दोनों ही बड़े देश हैं तथा एशिया के बहुत बड़े भूभाग के साथ उनके पुराने काल से ऐतिहासिक संबंध रहे हैं। दक्षिण-पूर्व एशिया और मध्य एशिया के देश (नेपाल, तिब्बत, सीक्यांग) दोनों के बीच में अवस्थित हैं। चीन उन पर अपनी गिद्धदृष्टि लेकर चलता है। भारत ने जिस जीवन-पद्धति को स्वीकार किया है, उसकी इन देशों पर गहरी छाप है। आध्यात्मिक नेतृत्व के लिए वे सदैव भारत की ओर देखते रहे हैं। प्रजातंत्र और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के जिन आदर्शों को लेकर भारत चला है, उससे इन देशों को अपना निजी अस्तित्व बनाए रखने की भारी प्रेरणा मिलती रही है। किंतु चीन को वह पसंद नहीं। भारत का नेतृत्व बिना किसी देश को राजनीतिक अधिकार में लिए भी चल सकता है। किंतु चीन के लिए वह संभव नहीं। चीन की संस्कृति चाहे जितनी पुरानी रही हो, किंतु उसमें वह प्रभावोत्पादकता तथा विशेषता नहीं आ पाई, जिससे वह भारतीय संस्कृति के समान राजनीति से अलिप्त रहकर भी अपनी छाप बिठा सके। प्राचीन इतिहास इस बात का प्रमाण है कि चीन का राष्ट्र-मानस प्रारंभ से ही विस्तारवादी रहा है। उसके साथ सहअस्तित्व बिना उसका ग़ुलाम बने संभव नहीं।

कम्युनिज़्म सहअस्तित्व का विरोधी

आज भी 'लाल'-चीन ने जिस तत्त्वज्ञान को स्वीकार किया है, वह सहअस्तित्व के सिद्धांत को तो मानता ही नहीं अपितु अपनी सफलता के लिए राज्य शक्ति को अनिवार्य मानता है। कम्युनिस्ट अपने आपको संपूर्ण विश्व का एकमात्र सिद्धांत मानता है और संपूर्ण जगत् पर छा जाने की आकांक्षा लेकर चला है। अतः कम्युनिस्ट चीन सिद्धांततः सहअस्तित्व को कभी नहीं मान सकता।

हमारे शासकों की ग़लती इस नीति को न समझने के कारण हुई है। वे उसे सिद्धांत मानकर चले और यह विश्वास कर बैठे कि चीन भी उसे सिद्धांत ही मानता है। हमने चीन के इतिहास, उसकी आज की राजनीति और भविष्य की संभावनाओं पर भी विचार नहीं किया।

भारत-चीन मित्रता के नारे लाल-चीन के संकट पर परदा डालने की कोशिश है। दुनिया के देशों को उसने यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि वह उनकी स्वतंत्रता को स्वीकार करके चलेगा। किंतु दूसरी ओर उसने अंदर-ही-अंदर अपना जाल फैलाने

की कोशिश की। एशिया के देश उससे टक्कर लेते रहे। इन देशों ने सामरिक दृष्टि से चाहे पाश्चात्य देशों से सहायता ली हो किंतु तात्त्विक दृष्टि से वे भारत से ही प्रेरणा लेते रहे। पर भारत ने उन देशों का समर्थन भी नहीं किया। उल्टे उसने अपनी विदेश नीति का निर्धारण इस प्रकार किया कि जिससे चीन की कठपुतली सत्ताओं को ही बल मिले। फिर भी चीन यह नहीं चाहता कि भारत तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में उसका प्रतिद्वंद्वी बनकर चले। भारत की इस प्रतिष्ठा को समाप्त करने के लिए ही उसने इतना आक्रामक और कठोर रुख़ अपनाया है।

उत्तरी सीमाओं की ओर दुर्लक्ष्य

भारत सरकार ने चीन के संकट को कभी सही रूप में नहीं समझा और इसलिए उत्तरी सीमाओं की ओर सदैव ही दुर्लक्ष्य किया गया। वास्तव में तो जब चीन ने तिब्बत पर आक्रमण किया, तभी हमें सतर्क होना चाहिए था तथा तिब्बत की स्वतंत्रता को भारत की सुरक्षा के लिए आवश्यक मानकर उसके लिए संघर्ष करना चाहिए था। उस समय हमारे पास तिब्बत की सेना भी थी तथा डाक-तार विभाग हमारे हाथ में था। हम यदि थोड़ी भी सहायता करते तो तिब्बत के लोग अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए जी-जान से जूझ जाते। परंतु हमने उनको धोखा दिया। हम चुप रहे। बाक़ी दुनिया तो हमारे बिना कुछ कर ही नहीं सकती थी।

जब संयुक्त राष्ट्र संघ में तिब्बत का प्रश्न उठाया गया[2] तो हमने उसे स्थगित करवा दिया। हमने तिब्बत की अपेक्षा चीन की ही वकालत की और बाद में तो तिब्बत पर चीन का आधिपत्य स्वीकार करके हमने अपने संपूर्ण अधिकार चीन के हवाले कर दिए। उस समय हमने इस बात की भी चिंता नहीं की कि कम-से-कम भारत और तिब्बत के बीच की सीमाओं और संधियों की तो पुष्टि कर ही लेते। हम यह भी भूल गए कि जो चीन तिब्बत आ सकता है, वह अपनी सीमा पर बढ़ने का भी विचार कर सकता है। अतः हम अपनी सीमा पर चौकियाँ तो बना लेते। हम उसके भुलावे में आ गए।

कम्युनिस्ट प्रचार के शिकार

श्री दलाई लामा के तिब्बत से भागने पर हमने उन्हें आश्रय अवश्य दिया। किंतु तिब्बत की स्वतंत्रता के लिए उनके संघर्ष में कोई सहयोग नहीं दिया। हम कम्युनिस्टों

---

2. 1959 में ल्हासा में चीनी सेनाओं द्वारा तिब्बती राष्ट्रीय आंदोलन को बेरहमी से कुचले जाने और तिब्बत पर चीन के हमले के बाद दलाई लामा ने संयुक्त राष्ट्र से तिब्बत मुद्दे को सुलझाने की अपील की। संयुक्त राष्ट्र महासभा ने इस संबंध में संज्ञान लेते हुए 1959 में तिब्बती लोगों की रक्षा के लिए चीन के विरुद्ध प्रस्ताव पारित किया, लेकिन चीन पर इसका कोई असर नहीं हुआ और उसने बड़ी संख्या में ल्हासा सहित पूरे तिब्बत में चीनी लोगों को बसाने एवं तिब्बतियों के उत्पीड़न का सिलसिला जारी रखा।

के इस प्रचार का शिकार बन गए कि चीन हमसे दलाई लामा के कारण नाराज़ है। हमारे दलाई लामा के साथ किए गए व्यवहार का परिणाम उल्टा हुआ है। एक ओर तो हमने उनको आश्रय देकर तिब्बत की जन-भावनाओं को उनके प्रति चीन के दुर्व्यवहार के कारण पहुँचने वाली ठेस से बचा दिया। उस ठेस में से विद्रोह की ज्वाला और भी बलवती हो सकती थी। दूसरी ओर हमने उनको तिब्बत की स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न करने में पंगु बना दिया। इधर चीन ने भारत के भू-भागों पर दावा करके अपने आपको तिब्बत की राष्ट्रीय सीमाओं के परिवर्द्धन का प्रयत्नकारी सिद्ध करने का ही प्रयत्न किया है। हमें अपनी इस भूल का परिशोध करना होगा।

चीन के हौसले हमने बढ़ाए

सीमाओं की अवहेलना का सबसे आश्यर्चजनक उदाहरण तो यह है कि चीन द्वारा भारत की भूमि में सड़क बनाने का हमें तब तक पता नहीं चला, जब तक कि उसने पेकिंग रेडियो से इसकी घोषणा नहीं की। इसका दायित्व भारत सरकार के साथ-साथ कश्मीर सरकार पर भी है। कश्मीर के मंत्रिमंडल में कम्युनिस्टों का अस्तित्व तथा भारत सरकार की कश्मीर नीति दोनों ही इसके ज़िम्मेदार हैं। आक्रमण का पता लगने के बाद भी भारत सरकार ने किसी भी समय प्रतिरोधात्मक उपायों का अवलंबन नहीं लिया। बाराहोती में हमने अपना स्थान त्याग दिया, लोंग्जू से हम पीछे हट आए तथा लद्‌दाख में अपने सैनिकों के मारे जाने पर भी हम विरोध-पत्र के अलावा कुछ भी करने को तैयार नहीं हुए। निश्चित है कि ये सब घटनाएँ चीन का हौसला बढ़ाने वाली ही साबित हुईं।

चीन के आक्रमण के संबंध में हमने चाऊ-एन-लाई से बातें करके एक ओर तो आक्रमण को सीमाई-विवाद का रूप देने का प्रयत्न किया और दूसरी ओर संपूर्ण सीमा पर चर्चा करके उसे विवाद का विषय बना दिया। आक्रमण को समाप्त किए बिना चर्चा करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं ठहराया जा सकता। प्रधानमंत्रियों की चर्चा के निष्फल होने के बाद भी हमने दोनों देशों के अधिकारियों द्वारा तथ्यों की गवेषणा के लिए बैठक का प्रस्ताव मान लिया। उनका प्रतिवेदन आने के बाद हमने अपनी ओर से विदेश विभाग के महासचिव को पेकिंग भेजकर फिर कमज़ोरी का प्रदर्शन किया है। हमारी शांति की लोलुपता तथा किसी-न-किसी प्रकार समझौते की उत्सुकता ने चीन की हिम्मत और उसकी धृष्टता को बढ़ावा ही दिया है।

गृह नीति भी उत्तरदायी

भारतीय शासन की विदेश-नीति ही नहीं, गृह नीति भी चीन के आक्रमण के लिए

ज़िम्मेदार है। पंडित नेहरू ने कम्युनिस्टों को सब प्रकार की स्वतंत्रता ही नहीं, प्रतिष्ठा भी प्रदान कर रखी है। निश्चित है कि उनकी पंचमांगी कार्रवाइयों में वृद्धि कम्युनिस्ट चीन को आक्रमण का न्योता ही दे सकती हैं।

ऐसा लगता है कि प्रधानमंत्री ने, अपने मन को इस बात के लिए तैयार किया है कि वे चीन के साथ यथास्थिति समझौता कर लें। यदि जनभावनाएँ उसके विरुद्ध इतनी प्रबल न होतीं तो वे पिछली बार जब चाऊ एन लाई आए थे, तभी यह समझौता कर लेते। उन्होंने जिस प्रकार जनता से आक्रमण के समाचार को छिपाया, बाद में उसकी गंभीरता को कम करने के लिए लद्दाख की अनुर्वरता आदि का उल्लेख किया तथा सैनिक कार्रवाई की कठिनाइयों की चर्चा की, उससे यह स्पष्ट है कि वे कोई भी प्रभावी पग नहीं उठाना चाहते। सैनिक कार्रवाई तो अलग रही, उन्होंने राजनीतिक दबाव लाने के लिए भी कोई पग नहीं उठाए हैं।

चीन टिक नहीं सकता

शासन और कम्युनिस्टों ने चीन के विरुद्ध कार्रवाई न करने तथा जनता का ध्यान बँटाने के लिए योजनाबद्ध प्रयास किया है। एक ओर तो चीन की प्रबल सैनिक शक्ति और हमारी दुर्बलता का बढ़ा-चढ़ा कर ढिंढोरा पीटा गया है, दूसरी ओर यह भावना लोगों में भर दी गई है कि यदि हमने युद्ध किया तो हमारी हार निश्चित है। यह विचार किसी भी स्वतंत्र और स्वाभिमानी देश के लिए लज्जास्पद और अनुचित ही नहीं, बल्कि असत्य भी है। चीन का ढोल कितना भी पीटा जाए, पर हमारी सेना के मुक़ाबले में वह लद्दाख में कतई नहीं टिक सकता। आज की अंतरराष्ट्रीय स्थिति में यह भी निश्चित है कि रूस भारत को विरोधी बनाकर चीन की सहायता नहीं करेगा। किंतु भारत के चुप रहने पर वह 'मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त' की नीति का पालन नहीं कर सकता। हमारे सैनिक-बल की वृद्धि आवश्यक हो सकती है किंतु वह इतना अपर्याप्त नहीं कि हम लद्दाख के 12,000 वर्ग मील को भी मुक्त न कर सकें। सच्चाई तो यह है कि एक बार हमने विश्व को यह बता दिया कि हम सैनिक शक्ति का भी उपयोग कर सकते हैं तो सभी देश हमारे साथ व्यवहार करते समय बहुत संयम और बुद्धिमानी से काम लेंगे। पर इस प्रकार की कोई कठोर कार्रवाई करने के स्थान पर हमारी सरकार पंचमांगी कम्युनिस्टों का साथ देकर देश की जनता का ध्यान चीनी आक्रमण से हटाने का प्रयास कर रही है। चीन के आक्रमण का समर्थन करने के कारण जिन कम्युनिस्टों का असली देशद्रोही रूप जनता के सामने प्रकट हो गया था, आज उसे पुनः राजनीतिक प्रतिष्ठा प्राप्त कराने का कार्य हमारी सरकार कर रही है।

एकमेव उपाय

चीन के साथ ही देश के अंदर काम करनेवाले पंचमांगी तत्त्वों से निपटने का एकमेव मार्ग यह है कि जनता को विशुद्ध राष्ट्रवादी आधार पर संगठित कर उसके आत्मविश्वास और पुरुषार्थ को जगाया जाए। आज का शासन मानसिक एवं राजनीतिक दृष्टि से इसके लिए तैयार नहीं। इसीलिए न यह आक्रमण को रोक पाया, न उसका सफलतापूर्वक प्रतिकार ही कर पा रहा है। शासन की जो भी असफलताएँ रही हों, पर वह दिन दूर नहीं जब राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए स्वयमेव आगे बढ़कर शासन को ग़लत नीतियों और धारणाओं को बदलने के लिए बाध्य कर देगा।

—पाञ्चजन्य, नवंबर 7, 1961

□

56

जनसंघ घोषणा-पत्र में वर्णित वादों को पूर्ण करने में समर्थ*

सभी मानते हैं कि भारतीय जनसंघ के चुनाव घोषणा-पत्र ने जनता और समाचार पत्रों का ध्यान अपनी ओर विगत निर्वाचन की अपेक्षा अधिक आकृष्ट किया है। वह सत्य इस बात का परिचायक है कि जहाँ दल की शक्ति में वृद्धि हुई है, वहीं जनतंत्र में जनता अपने कर्तव्यों को पहचानने लगी है। सन् 1957 के निर्वाचन के समय लोगों को यह भ्रम था कि डॉक्टर श्यामाप्रसाद मुखर्जी का निधन हो जाने के पश्चात् दल की शक्ति क्षीण हो गई है और इसलिए अब यह धीरे-धीरे समाप्त हो जाएगा। किंतु वे यह भूल गए कि भारत माता के अमर सपूत का आत्म-बलिदान उसके अनुयायियों को अपनी कार्यवृद्धि की सतत प्रेरणा देता रहेगा। इतना ही नहीं, वे यह भी विस्मरण कर बैठे कि भारतीय जनसंघ को डॉ. मुखर्जी जैसे श्रेष्ठ नेता का मार्गदर्शन प्राप्त होने के साथ ही उसकी जड़ें भारतीय जन-समाज में गड़ी हुई हैं और वह भारतीय संस्कृति से प्रेरणा ग्रहण करता है। अत: भारतीय जनसंघ तभी समाप्त हो सकता था, जबकि परमेश्वर ने भारतीय जीवनादर्शों की समाप्ति की इच्छा की होती। ख़ैर, कारण कुछ भी हो, जनसंघ ने विरोधियों की उक्त आकांक्षाओं के विपरीत भारतीय जनता के दृढ संबल के सहारे न केवल अपने को जीवित रखा अपितु कांग्रेस और कम्युनिस्ट दलों के नेताओं को तो अब उसका प्रभावी स्वरूप विष तुल्य प्रतीत होने लगा है। वास्तव में यही एक तथ्य है, जिससे प्रेरित होकर कतिपय नेताओं और लेखकों ने जनसंघ के चुनाव लोकसभा पत्र में विसंगतियाँ ढूँढ़ने का प्रयास किया है। किंतु आलोचकों का हेतु कुछ भी रहा हो, हमारा यह कर्तव्य है कि उन निराधार विसंगतियों की व्यर्थता सिद्ध कर दें।

---

* देखें परिशिष्ट VI, पृष्ठ संख्या 250।

एकात्मक बनाम संघात्मक

साधारणतः आज लोग जनसंघ द्वारा एकात्मक शासन के साथ ही सत्ता के विकेंद्रीकरण किए जाने के सुझाव पर चौंक उठते हैं। उनका मत है कि दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। परंतु वास्तविकता यह है कि विकेंद्रीकरण तभी संभव है, जबकि सत्ता कहीं एक ही केंद्र में समाहित हो। लेकिन यदि इसके विपरीत सिद्धांत अथवा व्यवहार में सत्ता कई केंद्रों में निहित होगी तो वैसी परिस्थिति में तो विकेंद्रीकरण के स्थान पर सत्ता के केंद्रीकरण की ही आवश्यकता प्रतीत होगी। आज अपने देश में भी हम अपना शासन संघात्मक संविधान द्वारा चलाते हैं, जिसमें राज्यों को स्वायत्तता प्रदान की गई है। इस रीति से विभिन्न राज्य शासन की मूल वे इकाइयाँ हैं, जिन्होंने भारतीय संघ की प्रस्थापना की है।

संघीय सरकार की कल्पना अभारतीय

यद्यपि यह सत्य है कि हमारा संविधान संघीय सरकार को राज्य सरकारों की अपेक्षा अधिक अधिकार प्रदान करता है और राज्य की अवशिष्ट शक्तियाँ भी उसी में सन्निहित है। किंतु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि राज्य की शक्तियों का निर्धारण किसी भी प्रकार से क्यों न किया गया हो, संविधान का प्रथम अनुच्छेद राज्यों की सत्ता पहले स्वीकार करने के पश्चात् ही संघ सरकार को मान्यता देता है। शासन का यह वर्तमान स्वरूप हिंदू जीवन की संयुक्त परिवार प्रणाली का अथवा दोनों के समान भागीदार होने का न होकर राज्यों के एक निगम के प्रकार का है, जिसमें राज्यों के केंद्र के प्रति निश्चित उत्तरदायित्व हैं। परंतु भारतवर्ष तो हमारे लिए एक अविभाज्य इकाई है। सौभाग्य से हमारे प्रधानमंत्री को मदुरा में जाकर इस सत्य का साक्षात्कार अब हुआ है और उन्होंने घोषणा की है कि भारतीय संघ से पृथक् होने वालों का सामना गृहयुद्ध का ख़तरा मोल लेकर भी किया जाएगा और हम उनके सम्मुख झुकने को कदापि तैयार नहीं हैं। प्रधानमंत्री का उपर्युक्त कथन निश्चय सराहनीय हो सकता है, पर स्मरण रखना चाहिए कि हमारे यहाँ एकात्मक शासन होता तो, देश में पृथक राज्य की उक्त भावना न केवल असंवैधानिक कही जाती अपितु वह राष्ट्रद्रोहपूर्ण भी कहलाती। उस अवस्था में कोई भी व्यक्ति अथवा दल संविधान में संशोधन करने की माँग तो कर सकता था, परंतु राष्ट्र को छिन्न-विच्छिन्न करने की कतई गुंजाइश शेष नहीं रहती। इसलिए आज आवश्यकता इस बात की है कि हमारा संविधान एक राष्ट्र की कल्पना के सत्य का समावेश अपने में करे। कुछ लोगों को हमारी यह एक राष्ट्र और एक संस्कृति की माँग विचित्र मालूम देती होगी, लेकिन यह एक सत्य है। संभव है पाश्चात्य दर्शन से ही अपने आदर्श और सिद्धांत निश्चित करनेवाले कुछ व्यक्ति और दल भारतवर्ष की इस

मौलिक एकता का साक्षात्कार न कर सकें और कुछ राजनीतिक दल देश में विभेदना की ही बात सोचें, पर यह निर्विवाद है कि सभ्यता, संस्कृति परंपरा, इतिहास, दर्शन, कला और साहित्य सभी दृष्टियों से भारतवर्ष एक अखंड, अविभाज्य राष्ट्र है और केवल कुछ आत्मप्रवंचकों को छोड़कर सभी उस सत्य को स्वीकार करते हैं।

सिद्धांत और व्यवहार का भेद समाप्त करो

कुछ व्यक्तियों की यह धारणा है कि देश में एकात्मक शासन की प्रस्थापना से प्रादेशिक विधानसभाएँ समाप्त हो जाएगी। पर यह आवश्यक नहीं है। सत्य तो यह है कि यदि हमें सत्ता का विकेंद्रीकरण निम्नस्तर तक करना है तो जनता द्वारा निर्वाचित संस्थाओं की, जो कि कार्यपालिका को निर्देश दे सकें, आवश्यकता सदैव बनी रहेगी। अपने देश में संघात्मक शासन की प्रस्थापना के पूर्व प्रांतीय विधानसभाएँ रही भी हैं। आज भी भारत सरकार, जिसे एकात्मक शासन की अभ्यासी राजकीय मशीनरी विरासत में मिली है, एकात्मक सरकार के रूप में ही कार्य कर रही है। किंतु सिद्धांत और व्यवहार का यह भेद अविलंब समाप्त होना चाहिए, क्योंकि संघात्मक शासन का विचार मुसलिम लीग की पृथकतावादी नीति और भारतीय नरेशों द्वारा सत्ता बनाए रखने के निश्चय से साम्य बिठाने के लिए प्रतिपादित किया गया था। परंतु अब वह परिस्थिति नहीं रही है, अत: पृथकतावादी तत्त्वों के साथ न तो सामंजस्य बिठाने का प्रश्न है, और न उनका तुष्टीकरण उचित ही है।

आर्थिक स्रोतों का विभाजन आवश्यक

विकेंद्रीकरण का पुरस्कर्ता होने के कारण जनसंघ की यह भी माँग है कि आर्थिक स्रोतों का विभाजन भी स्थानीय संस्थाओं तक होना आवश्यक हैं। इसका कारण यह है कि स्वतंत्र आर्थिक स्रोतों के अभाव में सदैव केंद्रीय अथवा प्रादेशिक सरकारों की ओर अनुदानों के लिए ताका करती है, जो कि कदापि उचित नहीं है। ये स्वायत्त संस्थाएँ अपने उत्तरदायित्व का उचित रीति से निर्वाह कर सकें, इसके लिए बहुत आवश्यक है कि उन्हें आय के स्वतंत्र साधन उपलब्ध हों।

संविधान में संशोधन किया जाए

यदि हम देश में एकात्मक शासन प्रस्थापित करना चाहते हैं, तो हमें मुख्यत: संविधान के प्रथम अनुच्छेद के अतिरिक्त उन अनुच्छेदों में भी संशोधन करना होगा, जिसमें प्रथम अनुच्छेद का उल्लेख किया गया हो। इस रीति से संशोधन के द्वारा संविधान के प्रथम अनुच्छेद से 'राज्य' शब्द के स्थान पर 'प्रदेश' शब्द सम्मिलित कर दिया

जाएगा और राज्य-सूची के किसी विषय को संघ सूची में सम्मिलित करने के लिए राज्यसभा की संपुष्टि की अनिवार्यता नहीं रह जाएगी। यद्यपि ये संशोधन ऊपर से साधारण प्रतीत होते हैं, परंतु इससे देश की भावात्मक एकता प्रस्थापित करने की दिशा में बहुत बल मिल सकेगा।

घोषणा-पत्र के आर्थिक प्रस्तावों की आलोचना

जनसंघ के घोषणा-पत्र से संबंधित विसंगति का दूसरा प्रमुख मुद्दा उसके आर्थिक सुझावों का है। जनसंघ के चुनाव घोषण-पत्र में करों में कमी करने के साथ ही राज्य द्वारा लोक-कल्याणकारी कार्यों की संख्या में वृद्धि करने को कहा गया है। अतः स्वाभाविक रीति से प्रश्न यह उठता है कि इन योजनाओं को पूर्ण करने के लिए धन कहाँ से आएगा? यदि निम्नतम वेतन में वृद्धि, माध्यमिक स्तर तक निःशुल्क शिक्षा, जीवनोपयोगी वस्तुओं को कर से मुक्त किया जाना एवं देश की सुरक्षा की दृष्टि से सैनिक सामग्री में वृद्धि करना स्वीकार किया जाता है तो स्वाभाविक रूप से अधिक धन की आवश्यकता पड़ेगी। अतः लोग प्रश्न करते हैं कि क्या जनसंघ ने इस पहलू पर ध्यान दिया है? कुछ लोगों का यह भी मत है कि चूँकि चुनाव घोषणा-पत्र मतदाताओं को आकर्षित करने के लिए है, इसलिए उसमें लंबे चौड़े वादों का समावेश करना ही पड़ता है। इसके विपरीत कुछ लोगों ने जनसंघ पर देश को दिवालियापन की ओर पग बढ़ाने वाला बताया है। किंतु यह वस्तुस्थिति नहीं है, क्योंकि जनसंघ के घोषणा-पत्र में एक प्रस्ताव भी ऐसा नहीं है, जिसे कार्यान्वित एवं पूर्ण न किया जा सके।

योजना में आमूल परिवर्तन ज़रूरी

इसके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि हम जनसंघ के घोषणा-पत्र पर विचार करते समय उसके संपूर्ण सुझावों को ध्यान में रखें, तभी हम उसके साथ न्याय कर सकेंगे। जनसंघ का घोषणा-पत्र वर्तमान भारतीय अर्थनिति के संपूर्ण ढाँचे में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव करता है और इसी भूमिका के आधार पर उसके प्रस्ताव कार्यान्वित किए जा सकते हैं। पर यदि इसके विपरीत योजनाओं का वर्तमान विशालकाय ढाँचा स्थिर रहा और सरकारी मशीनरी भ्रष्ट रही, जैसी आज है, तब कोई भी प्रगति नहीं की जा सकती। लेकिन इस सबमें परिवर्तन करना संभव है। दूसरी ओर जनसंघ योजनाओं में सुधार करते हुए भी सरकारी कोष में कोई कमी करने की कल्पना नहीं करता। इसके विपरीत उसका विश्वास है कि वह और भी अधिक बढ़ेगा। आज तो कर-पद्धति इस प्रकार की है, जिससे आय के छिपाए जाने को प्रोत्साहन मिलता है। आम-व्यापारियों द्वारा आय-कर की जो राशि छिपा ली जाती है, उसका अनुमान 200 करोड़ रुपए से

700 करोड़ रुपए तक आँका जाता है। पर यदि निम्नतम अनुमान को ही हम सत्य मान लें और इस बात का प्रयत्न करें कि उक्त सरकारी राशि की चोरी करना संभव न हो तो सरकार की आय दुगुनी हो जाएगी। पुनः जनसंघ का अधिकतम आय का 2,000 रुपए प्रति मास का जो सुझाव है, वह बढ़ाया जा सकता है, इससे निजी उद्योगों में कार्यरत व्यक्तियों को उद्योग-धंधों में अधिक पूँजी लगाने की प्रेरणा मिलेगी और इसके फलस्वरूप राज्य को अधिक धन प्राप्त हो सकेगा। आज भी निजी उद्योग करनेवालों के पास धन की कमी नहीं है। परंतु वर्तमान बैंकिंग-पद्धति अत्यंत दोषपूर्ण है। यद्यपि कुछ वित्तीय निगम अभी कुछ दिन पूर्व प्रस्थापित किए गए हैं, किंतु वे समस्या को समझ नहीं सके हैं। यदि तिजोरियों में पड़ा धन लघु उद्योगों में लगाया जा सकता तो आर्थिक विकास की गति बहुत तेज़ हो जाती। इससे न केवल बेकार लोगों को काम मिलता अपितु आय के विभिन्न स्रोतों का मार्ग भी खुल जाता तथा राज्य के लिए हितकारी सिद्ध हो सकता। आज तो टैक्स लोगों के लिए असह्य हो गए हैं, क्योंकि इससे एक ओर व्यक्ति पूँजी लगाने में हतोत्साहित होता है, दूसरी ओर वह साधारण व्यक्ति के उपभोग में आनेवाली वस्तुओं पर प्रभाव डालता है। एक असफल व्यापारी की भाँति सरकार व्यापारियों की संख्या बढ़ाकर राज्य की आय बढ़ाने के स्थान पर व्यापारियों से धन छीन लेना चाहती है। परंतु यदि योजनाओं में संशोधन कर राज्य लघु उद्योगों को उपभोग्य वस्तुओं के क्षेत्र में प्राथमिकता दे तो इससे उत्पादन बढ़ने के साथ ही बचत भी की जा सकेगी, जो कि दूसरे बड़े उद्योगों में लगाई जा सकेगी। उस योजना के अंतर्गत आयात की मात्रा को किसी भी दशा में आय से बढ़ने नहीं दिया जाएगा। इतना ही नहीं, सत्य तो यह है ही, उस अवस्था में आयात और कम हो जाएगा, क्योंकि हम स्वयं मशीनें बनाने लगेंगे और कच्चा माल (रॉ मैटीरियल) हमें यही प्राप्त होने लगेगा। यदि हम साधारण व्यक्ति की क्रय-शक्ति में वृद्धि करने में सफल हो जाएँगे तो देश के अंदर व्यापार को अधिक विस्तृत क्षेत्र प्राप्त हो जाएगा और फलस्वरूप सरकार की आय में वृद्धि होगी। पुनः जब योजनाओं से प्राथमिकताओं को परिवर्तित कर वे उत्पादों को उनका महत्त्वपूर्ण स्थान दे दिया जाएगा, तो देश में मुद्रास्फीति की भी संभावना नहीं रह जाएगी।

उच्च सदन समाप्त किए जाएँ

तीसरी योजना में यह संभावना व्यक्त की गई है कि यदि सरकारी आय और व्यय का यही क्रम रहा तो 350 करोड़ रुपए की बचत हो सकेगी। पर यदि मितव्यता का प्रयास किया जाए तो राज्यों एवं केंद्र में मिलाकर 100 करोड़ रुपए की बचत की जा सकती है। उसी भाँति कर एकत्र करने में आज जो दुगुना व्यय हो रहा है, उसे भी बचाया जा सकता है। यदि जनसंघ का सुझाव स्वीकार कर कर-संग्रह करने की एक ही

मशीनरी कार्य करे। आज 31 मार्च तक वसूल न हो जाने वाले कर समाप्त हो जाते हैं और इस प्रकार कुछ प्राप्त होने के स्थान पर व्यय ही होता रहता है। इस स्थिति को बदलना आवश्यक है। जनसंघ की यह भी माँग है कि उच्च सदनों को समाप्त कर दिया जाए और राज्यपालों की नियुक्ति क्षेत्रों के आधार पर की जाए। उसी भाँति मंत्रियों की संख्या में कमी करना और उनके वेतन तथा भत्ते में कटौती आवश्यक है। मेरा मत है कि यह सब करने से कम-से-कम 50 करोड़ रुपए की बचत पाँच वर्ष में निश्चित रूप से हो सकेगी।

सामंजस्य द्वारा उच्चादर्शों की पूर्ति संभव

फिर भी संपूर्ण चीज़ों की व्याख्या विस्तृत रूप से करना कठिन है और यह संदेह बना रहना भी स्वाभाविक है कि यह सब कैसे होगा? कारण यह है कि कांग्रेस के भ्रष्ट शासन ने जनता के भीतर किसी भी कार्य को ईमानदारी से करने के प्रति संदेह उत्पन्न कर दिया है। कांग्रेस के नेतागण जो कि संघर्षशील आंदोलन की उपज हैं और जिनके त्यागमय आदर्शों से लोग प्रभावित हुए थे, अपने उच्चादर्शों से पूर्णतः गिर गए हैं। उनका पतन इस सीमा तक हो गया है कि आज जनता का विश्वास सार्वजनिक नेताओं पर से ही नहीं, मनुष्यों पर से भी उठ गया है। फिर भी जनसंघ के कार्यकर्ता ने भिन्न-भिन्न स्थानीय संस्थाओं पर अधिकार किया है। उनमें अपनी कर्तव्यपरायणता से आय की वृद्धि एवं टैक्सों में कमी कर तथा कम धन व्यय कर भी जो सुविधाएँ जनता को उपलब्ध कराई हैं, उसका जनता पर अच्छा प्रभाव हुआ है। सब जानते हैं कि हम अपने संगठनात्मक कार्यों में जो कार्य एक रुपया व्यय कर पूर्ण कर डालते हैं, वह अन्य लोग बीस रुपए खर्च कर भी नहीं कर पाते। वर्तमान राजकीय मशीनरी को भ्रष्ट समझते हुए भी जनसंघ को विश्वास है कि वह अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करा सकेगा। क्योंकि मेरा यह निश्चित मत है कि व्यक्तियों में मूलतः आज भी ईमानदारी का अभाव नहीं है, यदि उसे ठीक रूप से कार्यान्वित किया जाए। मैं सरकारी कर्मचारियों और जनता के बीच खाई पैदा करने का विरोधी हूँ। दोनों के सामंजस्य द्वारा ही उच्चादर्शों की पूर्ति की जा सकती है।

—पाञ्चजन्य, नवंबर 13, 1961

□

57

राष्ट्रीयता और साम्यवाद में संघर्ष

अभी तक कांग्रेस सहित अन्य दल चुनाव संबंधी अपनी प्रारंभिक तैयारियाँ भी पूर्ण नहीं कर पाए थे कि भारतीय जनसंघ ने इस दिशा में पहल करते हुए विजयादशमी के पावन मुहूर्त पर संपूर्ण देश में अपना चुनाव-अभियान प्रारंभ कर दिया। नेताओं की अहर्निश दौड़-धूप के कारण संपूर्ण देश में जनसंघ-चुनाव आंदोलन की प्रारंभिक तैयारियाँ पहले ही पूर्ण कर चुका था। अब चुनाव का बिगुल बजते ही सभी कार्यकर्ता अगली तैयारियों में जुट गए हैं। भारत की राजधानी दिल्ली में इस अभियान का दीनदयालजी ने श्री गणेश किया। बाराटूटी चौक की विशाल सार्वजनिक सभा में दीनदयालजी का भाषण–

"आज वास्तविक संघर्ष राष्ट्रीयता और साम्यवाद में है। चीन के आक्रमण के बाद कम्युनिस्टों की देश-द्रोहिता स्पष्ट हो गई है। अब वे धड़ाधड़ कांग्रेस में घुसने की कोशिश करते हुए उनका स्वागत कर रहे हैं। आज की कांग्रेस सरदार पटेल और राजर्षि टंडन[1] की कांग्रेस नहीं बल्कि

---

1. पुरुषोत्तम दास टंडन 'राजर्षि टंडन' (1882–1962) भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के अग्रणी पंक्ति के नेता, समर्पित राजनयिक, हिंदी के अनन्य सेवक, समाज सुधारक थे। हिंदी को भारत की राजभाषा का स्थान दिलवाने के लिए उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान किया। टंडनजी ने नागरी अंकों को संविधान में मान्यता दिलाने के लिए भरसक कोशिश की। इस हेतु उन्होंने उस संस्था को छोड़ा, जिसकी सेवा लगभग पाँच दशक तक की। संविधान-सभा में राजर्षि ने अंग्रेज़ी अंकों का विरोध किया, पर नेहरूजी की हिदायत के कारण कांग्रेसी सदस्य श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, श्री गोपाल स्वामी आयंगर के फॉर्मूले के पक्ष में रहे। टंडनजी का विरोध प्रस्ताव गिर गया और नागरी अंक संविधान में मान्यता प्राप्त न कर सके। हिंदी को राष्ट्रभाषा और 'वन्देमातरम्' को राष्ट्रगीत स्वीकृत कराने के लिए टंडनजी ने अपने सहयोगियों के साथ एक और अभियान चलाया था। उन्होंने करोड़ों लोगों के हस्ताक्षर और समर्थन-पत्र भी एकत्र किए थे।

मेनन[2] और मालवीय[3] की कांग्रेस रह गई है। यदि प्रजातंत्र और राष्ट्रीयता की रक्षा करनी है तो इस कांग्रेस को नहीं चलने दिया जा सकता।''

जनसंघ नेता ने कम्युनिस्टों तथा कांग्रेस में छिपे कम्युनिस्टों के पापपूर्ण गठबंधन के विरुद्ध जनता तथा सभी प्रजातंत्रीय राष्ट्रवादी शक्तियों का आह्वान करते हुए कहा कि, ''जनसंघ सभी राष्ट्रीय शक्तियों से एकजुट होकर संघर्ष करने की अपील करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जहाँ हमें सब प्रकार के व्यक्तियों का सहयोग चाहिए, वहाँ दूसरी ओर हमें उन अवसरवादी, स्वयं केंद्रित, असंतुष्ट तथा बदनाम राजनीतिज्ञों से भी सतर्क रहना होगा, जो जनता की कांग्रेस-विरोधी भावना का लाभ केवल अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए करना चाहते हैं। यदि प्रजातंत्र को सफल करना है तो ऐसे लोगों को तनिक भी आश्रय नहीं देना चाहिए। मुझे विश्वास है कि इधर-उधर के छोटे-छोटे गुटों और व्यक्तियों के बहकावे में न आते हुए जनता जनसंघ का संगठित होकर साथ देगी।''

यह स्मरणीय है कि जनसंघ ने दिल्ली की लोकसभा एवं कॉरपोरेशन की सभी सीटों पर अपने प्रत्याशी खड़े करने की घोषणा की है। लोकसभा के लिए प्रो. बलराज मधोक, भाई परमानंदजी के सुपुत्र डॉक्टर महावीर तथा दिल्ली के भूतपूर्व मेयर श्री त्रिलोकचंद्र के नामों की घोषणा भी कर दी गई है।

—पाञ्चजन्य, नवंबर 13, 1961

□

2. वी.के. कृष्ण मेनन (1896-1974) तत्कालीन प्रतिरक्षा मंत्री ।
3. केशव देव मालवीय (1904-1981) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता, जो डुमरियागंज लोकसभा क्षेत्र (उत्तर प्रदेश) से लोकसभा सदस्य और केंद्रीय खनन व ईंधन मंत्री थे। इन्हें भ्रष्टाचार के आरोपों के कारण नेहरू मंत्रिमंडल से इस्तीफ़ा देना पड़ा था ।

58

जम्मू-कश्मीर में चुनाव

चुनाव आयोग ने जम्मू-कश्मीर को छोड़कर सभी राज्यों में तीसरे आम चुनाव के लिए कार्यक्रम की घोषणा की है। जलवायुगत परिस्थितियों के कारण इस राज्य में देश के बाक़ी हिस्सों के साथ-साथ चुनाव आयोजित करना संभव नहीं हो सकता। पंजाब और हिमाचल प्रदेश के कुछ विधानसभा क्षेत्रों के लिए भी अपवाद करना होगा। हालाँकि पहाड़ी क्षेत्रों के लिए अंतिम तिथि की घोषणा की गई है, लेकिन प्रतीत होता है कि अभी तक जम्मू-कश्मीर राज्य के संबंध में कोई निर्णय नहीं लिया गया है। यह आवश्यक है कि अनिश्चितता की यह स्थिति शीघ्र समाप्त की जाए।

चुनाव कार्यक्रम के अतिरिक्त भी, अब भी जम्मू-कश्मीर राज्य और शेष भारत में चुनावों का नियमन करनेवाले क़ानूनों की दो अलग अलग श्रेणियाँ हैं। जनप्रतिनिधित्व अधिनियम्म जैसा कि संसद् द्वारा पारित हुआ है, वह इस राज्य पर लागू नहीं होता। कश्मीर का स्वयं का अधिनियम है। इस अधिनियम के तहत मतदान की पुरानी प्रथा जारी है। जबकि शेष भारत में पिछले दो चुनावों से प्राप्त अनुभवों के आधार पर अनेक संशोधन किए गए हैं, लेकिन ऐसा नहीं लगता है कि कश्मीर के शासकों ने इस संबंध में कुछ सीखा है। मतदान की पुरानी व्यवस्था के तहत कदाचारों की, ख़ासकर झूठे मतदान की संभावना अधिक है। इस संबंध में पिछले चुनाव के समय गंभीर आरोप लगाए गए थे। हाल ही में कुछ चुनाव भी भ्रष्ट आचरण के आधार पर ख़ारिज किए गए हैं। राज्य के लोग और राजनीतिक दल आगामी चुनावों को लेकर आशंकित हैं। यह आवश्यक है कि इन आशंकाओं को समाप्त किया जाए और भारतीय क़ानून को राज्य में भी लागू किया जाए।

यदि भारत के साथ एकात्मता के बंधन को मज़बूत किया जाना है, तो लोकसभा के लिए भी प्रत्यक्ष चुनाव ज़रूरी हैं। संसद् के लिए मताधिकार के बिना मतदाता और

विभिन्न राजनीतिक दल अखिल भारतीय मुद्दों में रुचि नहीं ले सकेंगे। पाकिस्तान के विद्वेषपूर्ण प्रचार का प्रतिकार करने के लिए और साथ ही चीनियों के ख़िलाफ़ लोगों के मनोबल का निर्माण करने के लिए भी लोगों में अखिल भारतीय चेतना आवश्यक है। वे हमारे सशस्त्र बलों पर निर्भर न रहें और सेना को उन्हें बचाने के लिए दिल्ली से भेजे गए किसी बल के रूप में न देखें। उन्हें महसूस होना चाहिए कि वे पूरे देश के शासक हैं और जम्मू और नई दिल्ली में तैयार होनेवाली सभी नीतियों के लिए ज़िम्मेदार हैं। इन विसंगतियों को अगले आम चुनाव से पहले समाप्त किया जाना चाहिए।

चूँकि चुनाव एक केंद्रीय विषय है, इसलिए यह आवश्यक है कि चुनाव आयोग और केंद्र सरकार राज्य में चुनाव संचालन पर अधिक-से-अधिक ध्यान दें। अग़र वहाँ संदिग्ध तरीक़ों के माध्यम से वर्तमान सरकार की पकड़ को ज़ारी रखने के लिए केवल एक चुनावी तमाशा किया जाना है, तो इससे न केवल लोकतंत्र के प्रति लोगों की आस्था कमज़ोर होगी, बल्कि सत्तारूढ़ तानाशाहों में ऐसी प्रवृत्तियाँ भी उत्पन्न होंगी, जिसके परिणामस्वरूप अंततः केंद्रीय सत्ता की अवज्ञा का भाव उत्पन्न होगा। ऐसी ख़तरनाक स्थिति से बचना ही होगा।

—ऑर्गनाइज़र, नवंबर 27, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

59

कम्युनिस्ट चीन से दौत्य-संबंध भंग करो

कम्युनिस्ट चीन ने फिर लद्दाख में आक्रमण करने का साहस किया है। इससे प्रकट होता है कि भारत सरकार सीमाओं की सुरक्षा के संबंध में चिंता नहीं करती। यह बात समझने में नहीं आती कि सीमा स्थित भारतीय सेना ने अंदर घुसने वाले आक्रमणकारियों का तुरंत प्रतिकार क्यों नहीं किया? स्पष्ट है कि नई दिल्ली में बैठे नीति-निर्माता ही इस निष्क्रियता के लिए उत्तरदायी हैं। हमारे प्रधानमंत्री महोदय ने चीनियों को दोष दिया है कि उन्होंने अपने वादे का उल्लंघन किया है। साहसविहीन लोग ही इस प्रकार का उलाहना दे सकते हैं। अनेक बार चीनियों के विश्वासघात किए जाने के पश्चात् भी उस पर विश्वास करना कहाँ तक उचित है? चीन के नए आक्रमण से जनसाधारण में गहरा रोष है। केवल ऐसे व्यक्ति ही इन आक्रमणों को सहन कर सकते हैं, जिनमें न कोई स्वाभिमान शेष है और न साहस। इन आक्रमणों की गंभीरता को घटाकर दिखाने का प्रयत्न करके प्रधानमंत्री ने केवल जले पर नमक छिड़कने का ही काम किया है। प्रधानमंत्री आज देश की भावनाओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहे हैं। जन-मानस में गहरा क्षोभ है और जनता चाहती है कि सारी बातें स्पष्ट की जाए। अत्यंत दुःख का विषय है कि प्रधानमंत्री ने सीमाओं पर आक्रमण के विषय में जनता को फिर अंधकार में रखा है। उन्होंने लोकसभा में कहा है कि ये नए आक्रमण गरमियों में हुए थे। मैं पूछता हूँ कि इतने मास तक भारत सरकार को इन आक्रमणों का ज्ञान क्यों नहीं हुआ और यदि हुआ तो इतने दिनों तक जनता को अंधकार में क्यों रखा गया? संभवतः वर्षों तक लगातार सत्तारूढ़ रहने के कारण सरकार जनता की भावनाओं का आदर करना आवश्यक नहीं समझती।

ऐसा लगता है कि शायद कम्युनिस्ट चीन ने यह समझकर इस समय आक्रमण

किया है कि भारत की जनता अब चुनावों की तैयारी में व्यस्त है, इस कारण वह उधर ध्यान नहीं दे सकेगी। चीनियों की यह ग़लतफ़हमी दूर करने के लिए सरकार पर जनमत का दवाब डालना ही होगा, जिससे सरकार चीनियों को होश में लाने के लिए ठोस पग उठाने के लिए मजबूर हो जाए। यदि कुछ समय पूर्व प्रधानमंत्री को चीन के प्रधानमंत्री के सम्मुख न झुकने के लिए विवश किया जा सकता था तो निःसंदेह आज भी जनता आक्रमणकारियों के विरुद्ध कार्रवाई करने के लिए भी उन्हें मजबूर कर सकती है।

जनसंघ की शाखाओं को आदेश दिया गया है कि सारे देश में जनता के रोष को प्रकट करने के लिए कार्यक्रम आयोजित किए जाएँ। आज की स्थिति में भारत को चीन के साथ दौत्य-संबंध तोड़ देने चाहिए।

—पाञ्चजन्य, दिसंबर 11, 1961

□

60

पं. मालवीय को श्रद्धांजलि

दीनदयालजी ने 25 दिसंबर, 1961 की शाम को दिल्ली में पंडित मदन मोहन मालवीय को भावभीनी श्रद्धांजलि दी।

पंडित मदन मालवीय न केवल एक स्वतंत्रता सेनानी थे, बल्कि समाज के उत्थान के लिए कार्य करनेवाले एक रचनात्मक कार्यकर्ता भी थे।

अतीत से प्रेरणा लेकर और धरती में अपनी जड़ें जमाए श्री मालवीय की दृष्टि हमेशा भविष्य की ओर रही और वह एक गौरवशाली भविष्य के लिए काम करते रहे। उनके रूप में देश ने एक परंपरावादी और एक तर्कशील व्यक्ति, एक सनातनी और एक उदार, एक सुधारवादी और एक क्रांतिकारी का एक सुखद मिश्रण पाया। वह एक हिंदू थे और इस पर गर्व महसूस करते थे। 1946 में अपनी मृत्यु शैया से नोआखली के दंगों[1]

---

1. मुसलिम लीग परिषद् ने 16 अगस्त, 1946 को सीधी कार्रवाई दिवस (डायरेक्ट एक्शन डे) की घोषणा की थी, ताकि अंग्रेज़ों और कांग्रेस दोनों को मुसलिम भावनाओं की ताक़त का अहसास कराया जा सके, क्योंकि मुसलिमों को भय था कि अगर अंग्रेज़ बाहर चले गए तो उन्हें भारी संख्या में मौजूद हिंदुओं के द्वारा निश्चित रूप से परेशानियाँ उठानी पड़ेंगी। नोआखली ज़िला उस समय मुसलिम लीग के शासन के अंतर्गत बंगाल प्रदेश का अंग था, जो इस समय बांग्लादेश में है। लीग ने इस ज़िले का चयन हिंदुओं को सबक सिखाने के लिए किया था, क्योंकि इसकी 80 प्रतिशत जनसंख्या मुसलिम थी और यह कलकत्ता के मीडिया की नज़र से दूर था। दंगे 10 अक्तूबर, 1946 को शुरू हुए। मुसलिम लीग सरकार ने 5 दिन बाद 15 अक्तूबर, 1946 को दंगों से हुई जान-माल की हानि के तथ्य को स्वीकार किया। यह आपराधिक विलंब था, क्योंकि इन बीच के दिनों में हज़ारों लोगों की जान और हज़ारों महिलाओं को बलात्कार से बचाया जा सकता था। स्टेट्समैन ने लिखा—'200 वर्ग मील के क्षेत्र में दंगाई भीड़ ने हिंदू निवासियों को घेर लिया है, उनका सामूहिक नरसंहार हो रहा है, उनके घर जलाए जा रहे हैं, उनकी महिलाओं को जबरन ले जाकर धर्म परिवर्तन कराया जा रहा है। हज़ारों उपद्रवियों ने गाँवों पर हमला किया, हिंदुओं को अपने मवेशी कत्ल करने और उन्हें खाने के लिए विवश किया गया। प्रभावित गाँवों के सभी पूजा-स्थलों को नष्ट कर दिया गया है। नोआखली के ज़िलाधीश और पुलिस अधीक्षक ने इन दंगों को रोकने के लिए कोई क़दम नहीं उठाया।'

के समय उन्मादी लोगों से उनकी अपील दरशाती है कि उनकी कितनी तीव्र इच्छा थी कि कांग्रेस अपनी नीतियों को संशोधित करे।

पंडित मालवीय मात्र एक दूरदर्शी नहीं थे, बल्कि उनमें एक मिशनरी का प्रबल उत्साह और व्यावहारिक कौशल भी था, जो उनके काल के आदर्शवादियों में इतना दुर्लभ था। उन्होंने आग्रहपूर्वक अपनी दृष्टि को वास्तविकताओं में परिवर्तित करने के लिए काम किया। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय उनके जीवन भर के कार्य का एक मूर्त रूप है।

यह अफसोस की बात है कि आज कुछ लोग, जो हिंदू धर्म के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं, जो कि हमारे राष्ट्रवाद का स्रोत और आधार है, इस विश्वविद्यालय के नाम में परिवर्तन की माँग करते हैं। मालवीय जी जिन चीजों के प्रतीक थे, यह उन सबको नकारने के तुल्य है।

—ऑर्गनाइज़र, दिसंबर 26, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

61

गोवा में कार्रवाई संयुक्त राष्ट्र को मज़बूत करेगी, कमज़ोर नहीं

27 दिसंबर, 1961 को मद्रास से दीनदयालजी का प्रेस वक्तव्य।

गोवा में भारत सरकार की कार्रवाई ने देश की प्रतिष्ठा को बढ़ाया है, देश के विश्वास को पुनर्जीवित किया है, पराधीन लोगों में नई आशा का संचार किया है और इस कारण यह संयुक्त राष्ट्र को मज़बूत करेगी, बजाय इसे कमज़ोर करने के, जैसा कि कुछ कोनों में कहा जा रहा है।

संयुक्त राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता से वंचित देशों का साधन नहीं हो सकता। जब तक राजनीतिक ग़ुलामी, आर्थिक शोषण, सामाजिक भेदभाव और सत्ता के लिए स्वार्थी वासना मौजूद है, तब तक स्थायी शांति संभव नहीं है। पश्चिमी शक्तियों में अगर संयुक्त राष्ट्र के लिए कोई सम्मान है, तो उन्हें इन बुराइयों को समाप्त करने में अपने प्रभाव का प्रयोग करना चाहिए, जो अतीत में उनकी अपनी करतूतों की विरासत हैं।

प्रधानमंत्री की अनिष्टसूचक टिप्पणियाँ

अब जब कि गोवा मुद्दा सुलझ गया है, यह आवश्यक है कि हमारे प्रयास उत्तर दिशा से आई चुनौती का सामना करने की ओर निर्देशित हों। प्रधानमंत्री द्वारा हाल ही में दिया गया कश्मीर का संदर्भ अनिष्टसूचक है। पाकिस्तान को आक्रमण किए गए इलाक़े खाली करने के लिए कहने के बजाय, वह यथास्थिति बनाए रखने और समायोजन की बात कर रहे हैं। यह समस्या के प्रति एक ग़लत दृष्टिकोण है और राज्य में उन विश्वासघाती

तत्त्वों को प्रोत्साहित करने का एक निश्चित तरीक़ा है, जो कश्मीर की स्थिति और उसके भविष्य के बारे में अनिश्चितता पर निर्भर हैं। जनसंघ चेतावनी देता है कि भारत के लोग इस मुद्दे पर आत्मसमर्पण को बरदाश्त नहीं करेंगे।

—ऑर्गनाइज़र, जनवरी 8, 1962

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

परिशिष्ट

दीनदयालजी को झरिया और सासाराम में थैलियाँ सौंपी गईं

भारतीय जनसंघ के महासचिव पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने कहा कि भारत की क्षेत्रीय अखंडता के संरक्षक के रूप में रक्षा मंत्री को हिमालय की रक्षा सुनिश्चित करनी चाहिए, न कि पानीपत की किसी चौथी लड़ाई में चीनियों से लड़ने का विचार करना चाहिए। वे कल रात झरिया में एक जनसभा को संबोधित कर रहे थे। झरिया में श्री उपाध्याय को 5,100 रुपए की एक थैली भेंट की गई।

जनसभा में भारतीय जनसंघ के महासचिव श्री उपाध्याय को 5,100 रुपए की थैली औपचारिक तौर पर श्री के.सी. भट्टाचार्य द्वारा दी गई, जो श्री उपाध्याय का स्वागत करने के लिए गठित स्वागत समिति के अध्यक्ष थे।

दो दिन पहले उन्हें सासाराम में भी इतनी ही राशि की एक थैली भेंट की गई थी।

—ऑर्गनाइज़र, अप्रैल 28, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

परिशिष्ट-II

भारतीय जनसंघ कार्यसमिति बैठक, पटना

जनसंघ मूल्यवृद्धि के विरोध में देशव्यापी आंदोलन करेगा

सांप्रदायिकता के उन्मूलन के लिए त्रिसूत्री कार्यक्रम, प्रतिनिधि-सभा का अधिवेशन और पटना में भारतीय कार्यसमिति के महत्त्वपूर्ण निश्चय।

पटना में भारतीय जनसंघ की कार्यसमिति तथा संसदीय अधिकरण की बैठक से आम लोगों के लिए जनसंघ का देशव्यापी आंदोलन प्रारंभ हो गया। 4 दिनों के अनवरत परिश्रम से चुनाव की दृष्टि से संपूर्ण स्थिति का विवचेन कर यह घोषणा की है कि जनसंघ आगामी चुनावों में विधानसभाओं के 1200 तथा लोकसभा के 275 स्थानों पर अपने प्रत्याशी खड़े करेगा।

जनसंघ अध्यक्ष श्री रामाराव ने बैठकों की अध्यक्षता की।

शोक-प्रस्ताव

जनसंघ की कार्यसमिति ने बैठक के आंरभ में स्वर्गीय गोविंदवल्लभ पंत के देहावसान का शोक प्रस्ताव पारित किया। सदस्यों ने एक मिनट मौन धारण कर, खड़े होकर श्रद्धांजलि अर्पित की। प्रस्ताव में कहा गया है कि पं. पंत के निधन से एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ कुशल प्रशासक, श्रेष्ठ संसदज्ञ तथा निस्स्वार्थी समाजसेवक हमारे बीच से उठ गया।

बढ़ती हुई क़ीमतें

जनसंघ की कार्यसमिति में, बढ़ती हुई क़ीमतों और भारी करों से उत्पन्न संकटजनक स्थिति पर भी विचार किया। उसका मत था कि सरकार की ग़लत अर्थनीतियों के कारण एक ऐसी स्थिति आ चुकी है, जिसे विस्फोटक कहा जा सकता है। प्रदेश-मंत्रियों ने भी इस संबंध में प्रादेशिक सरकारों और पंचायतों आदि द्वारा लगाए जाने वाले टैक्सों के

बोझ का वर्णन किया। पंजाब के मंत्री श्री यशदत्त शर्मा ने एक अत्यंत रोचक उदाहरण यह दिया कि पंजाब सरकार उस पानी पर भी जो गत बाढ़ के समय खेतों में चला गया था, सिंचाई-कर वसूल कर रही है। कार्य समिति ने इस बात की आवश्यकता अनुभव की कि सरकार को अपनी नीतियों में परिवर्तन करने को बाध्य करने के लिए कुछ करना होगा। एक देशव्यापी आंदोलन छेड़कर बढ़ती हुई क़ीमतों पर रोक लगाने के लिए सरकार को बाध्य करने का निश्चय किया गया।

सांप्रदायिकता का उभार

मध्य प्रदेश के प्रधान श्रीगिरिराज किशोर कपूर ने जो स्वयं जबलपुर में रहते हैं। कार्य समिति के सम्मुख हाल में हुए जबलपुर दंगे के संबंध में रिपोर्ट पेश की। रिपोर्ट में यह बताया गया कि दंगे भारत के कुछ कट्टर मुसलिम संप्रदायवादियों और पाकिस्तानी पंचमांगियों की सुनियोजित योजना के अंग मात्र थे। आपने यह भी बताया कि मुसलमानों के वोट प्राप्त करने के लिए कांग्रेस, प्रजा सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट पार्टी के नेतागण मुसलिम संप्रदायवादियों की अनुचित तरफ़दारी कर रहे हैं, पूर्वांचल के मंत्री श्री नानाजी देशमुख तथा दक्षिणांचल के मंत्री श्री जगन्नाथराव जोशी ने भी उत्तर प्रदेश के कोपागंज, अतरौली, गोरखपुर, मुरादाबाद तथा केरल के नीलांबर, त्रिचूर आदि स्थानों पर इस प्रकार के मुसलिम संप्रदायवाद के उदाहरण दिए। कार्य समिति ने कांग्रेस की संसद् समिति के सांप्रदायिक दलों के चुनाव में भाग लेने पर पाबंदी लगाने संबंधी प्रस्ताव पर भी विचार किया और देश में बढ़ती हुई सांप्रदायकिता के लिए कांग्रेस की नीतियों को ही ज़िम्मेदार बताया। एक प्रस्ताव पारित कर सांप्रदायिकता के उन्मूलन के लिए एक त्रिसूत्री योजना प्रस्तुत की गई।

अध्यक्ष पदों का निर्वाचन

संसदीय अधिकरण ने पंजाब प्रदेश जनसंघ के इस सुझाव पर विचार किया कि जनसंघ को ऐसी परंपरा के विकास में सहायक होना चाहिए, जिसके अंतर्गत लोकसभा के तथा विभिन्न विधानमंडलों के अध्यक्षों का निर्वाचन निर्विरोध रूप से हो सके।

अधिकरण के सदस्यों ने सामान्यतया इस सुझाव का स्वागत किया और अनुभव किया कि संसदीय लोकतंत्र में विधान निर्माती संस्थाओं का अध्यक्ष-पद दलगत राजनीति से पृथक् रखा जाना चाहिए, इससे न केवल अध्यक्षपद की गरिमा में वृद्धि होगी, अपितु अध्यक्षों को निर्वाचन के लिए बहुसंख्यक दल पर निर्भर न रहने के कारण अपने गुरुतर दायित्व का भलीभाँति निर्वाह करना अधिक सुगम होगा।

अधिकरण के सदस्यों ने इस परंपरा के निर्माण में जो कठिनाइयाँ हैं, उन पर भी

विचार किया। यह बताया गया कि सत्तारूढ़ दल ने अध्यक्ष-पदों के लिए स्थान-स्थान पर नए-नए व्यक्तियों का नामांकन करके इस प्रकार की परंपरा के विकास को दुष्कर बना दिया है। यह अनुभव किया गया कि यदि अध्यक्ष और उनके साथ उनके चुनाव-क्षेत्र भी निरंतर बदलते रहते हैं तो अन्य दलों के लिए इस संबंध में कोई अंतिम निश्चय करना शायद संभव नहीं हो सकेगा।

अंत में यह निर्णय किया गया कि जनसंघ अन्य प्रमुख दलों को इस प्रकार की परंपरा के विकास में योग देने के लिए प्रेरित करे और इसके लिए आवश्यक उपाय की योजना करे।

प्रतिनिधि-सभा का अगला अधिवेशन काशी में

भारतीय जनसंघ की कार्यसमिति ने निश्चय किया कि अगला अखिल भारतीय अधिवेशन आम चुनाव के पश्चात् किया जाए तथा चुनाव घोषणा-पत्र आदि को स्वीकार करने के लिए भारतीय प्रतिनिधि सभा का विशेष अधिवेशन नवंबर मास में काशी में किया जाए।

चुनाव घोषणा-पत्र का आलेख कार्यसमिति द्वारा विचार किए जाने के पश्चात् प्रदेशों के विचारार्थ भेजा जाएगा और तत्पश्चात् भारतीय प्रतिनिधि सभा के अधिवेशन में प्रदेशों की सिफ़ारिशों को साथ रखकर विचार किया जाएगा। घोषणा-पत्र पर भली प्रकार विचार करने के लिए इस अधिवेशन में ज़िला-समितियों के प्रधान मंत्रीगण और संभावित लोकसभा-प्रत्याशी भी विशेष आमंत्रितों के रूप में भाग लेंगे। कार्यसमिति ने चुनाव घोषणा-पत्र का आलेख तैयार करने के लिए एक उपसमिति नियुक्त की। महामंत्री पं. दीनदयाल उपाध्याय इस समिति के संयोजक तथा श्री अटलबिहारी बाजपेयी एम.पी. और प्रो. बलराज मधोक एम.पी. सदस्य होंगे।

लोकसभा में नए सदस्य

राजस्थान से लोकसभा के स्वतंत्र सदस्य श्री हरिश्चंद्र शर्मा के आवेदन पर विचार करने के पश्चात् उन्हें जनसंघ लोकसभा दल में सम्मिलित करने का निश्चय किया गया। श्री हरिश्चंद्र शर्मा कुछ दिन पूर्व जनसंघ के प्राथमिक सदस्य बने थे।

भावात्मक एकीकरण से ही सांप्रदायिकता का सामना किया जा सकेगा

जनसंघ कार्य-कारिणी का प्रस्ताव

(भारतीय जनसंघ की कार्यकारिणी ने सांप्रदायिकता का सफल सामना करने के

लिए एक त्रिसूत्री कार्यक्रमयुक्त प्रस्ताव पारित किया है। वह प्रस्ताव यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।)

जबलपुर में हुई दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं के संदर्भ में संप्रदायवादी तथा मज़हबी नामाभिधान वाले दलों के चुनाव में भाग लेने पर क़ानूनी प्रतिबंध लगाने के प्रश्न को जिस ढंग से उठाया गया है और सत्तारूढ़ पार्टी इस संबंध में शासन को नए तथा व्यापक अधिकारों से सज्ज करने के लिए जिस जल्दबाज़ी से काम ले रही है, वह सभी लोकतंत्र प्रेमियों के लिए गंभीर चिंता का विषय है।

एक लोकतंत्रवादी देश में जहाँ प्रत्येक वयस्क को, बिना मज़हब तथा सांप्रदायिक भेदभाव के आधार पर मताधिकार का उन्मुक्त उपयोग करने की गारंटी दी गई है, सांप्रदायिकता, जातिवाद तथा क्षेत्रीयता के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। स्वतंत्रता के 13 वर्ष पश्चात् भी यदि यह अवांछनीय प्रवृत्तियाँ सक्रिय और सशक्त हो रही हैं तो इसका दायित्व प्रमुखतया सत्तारूढ़ कांग्रेस पार्टी पर है, जो उसे कालावधि में राष्ट्र के भावात्मक एकीकरण का तथा आर्थिक एवं शैक्षणिक प्रगति का कोई शुद्ध और सुदृढ आधार रखने में सफल नहीं हो सकी है। सत्य तो यह है कि उस घातक द्वि-राष्ट्र सिद्धांत को, जिसकी चरम परिणति भारत विभाजन के रूप में हुई, समाप्त करने के लिए कोई कार्रवाई नहीं की गई है, जिसका दुष्परिणाम मुसलिम संप्रदायिकता के पुनर्जागरण के रूप में हुआ है। केरल में मुसलिम लीग के साथ किए गए घृणित गठबंधन ने सांप्रदायिकता को न केवल सम्मानास्पद स्वरूप दे दिया है बल्कि देश के अन्य भागों में रहनेवाले मुसलमानों को भी संप्रदाय के आधार पर संगठित होकर राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति के लिए अन्य दलों से मोल-तोल की स्थिति प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया है।

पाकिस्तान द्वारा भारतीय मुसलमानों के स्वयं-भू संरक्षक बनने के प्रयासों से तथा भारत स्थित पाक-पंचमांगियों की ध्वंसात्मक गतिविधियों के कारण, जिनका उद्देश्य भारत के मुसलमानों को भारतनिष्ठ बनने से रोकना और भारत को सब प्रकार से क्षतिग्रस्त करना है, स्थिति और भी बिगड़ गई है।

कम्युनिस्टों की नई चाल

यह खेद का विषय है कि जबलपुर तथा अन्य स्थानों में हुए सांप्रदायिक उत्पात के कारण मीमांसा करने के बजाय कांग्रेस तथा अन्य राजनीतिक दल उसे बढ़ा-चढ़ाकर प्रचारित कर रहे हैं और आगामी आम चुनाव पर दृष्टि रखकर मुसलमानों को तुष्ट करने के लिए एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं। कम्युनिस्ट पार्टी के लिए तो जबलपुर कांड एक बहु-प्रतीक्षित अवसर के रूप में आया है, जिसका लाभ उठाकर उसने चीनी

आक्रमण के विरुद्ध समस्त राष्ट्रवादी तथा लोकतांत्रिक दलों के संयुक्त मोरचे में दरार डालने और राजनीतिक क्षेत्र में अपने अकेलेपन को समाप्त करने की रणनीति का अवलंबन किया है। भारतीय जनसंघ के विरुद्ध उसका प्रचार-अभियान, जिसमें सत्य की निर्ममतापूर्वक हत्या की गई है और तथ्यों को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करने में किसी प्रकार के संकोच से काम नहीं लिया गया, उसकी इसी नीति का एक अंग है।

भारतीय जनसंघ अपने जन्म-काल से सांप्रदायिकता, जातिवाद, भाषावाद तथा क्षेत्रीयता के विरुद्ध आवाज़ उठाता रहा है और इन अवांछनीय प्रवृत्तियों के निराकरण के लिए निरंतर प्रयत्नशील है। इसके लिए जनसंघ ने विशुद्ध राष्ट्रीयता को प्रशुद्ध और परिपुष्ट करने के लिए अपनी आधारभूत मान्यताओं में एक देश, एक जन तथा एक संस्कृति की परिकल्पना को स्थान दिया है और संप्रदाय, मज़हब, भाषा तथा प्रांत के आधार पर राजनीति में किसी प्रकार की पृथकता को प्रश्रय देना दृढतापूर्वक अस्वीकार कर दिया है।

भावात्मक दृष्टिकोण आवश्यक

भारतीय कार्यसमिति का यह सुविचारित मत है कि सांप्रदायिकता के प्रति केवल नकारात्मक दृष्टिकोण लेकर चलना अभीष्ट परिणाम नहीं देगा। पुलिस तथा क़ानून के प्रयोग से कुछ काल के लिए उसे दबा भले ही दिया जाए, किंतु उसका सर्वथा निर्मूलन नहीं किया जा सकता। समस्या दिलों और दिमागों को संकुचितता के गड्ढे से निकालकर राष्ट्रीयता के विशाल दृष्टिकोण से संबद्ध करने की है। यह कार्य ज़ोर ज़बरदस्ती अथवा क़ानून से नहीं हो सकता। इसके लिए एक भावात्मक एवं रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाना होगा। संकीर्ण निष्ठाओं की निंदा करना ही पर्याप्त नहीं है, उन्हें उच्चतर निष्ठाओं द्वारा स्थापित करने का योजनाबद्ध प्रयास होना चाहिए। विघटनवादी प्रवृत्तियाँ एक दृष्टि से हमारे बहुविध पिछड़ेपन का ही प्रकटीकरण है और उनके निष्कासन के लिए जहाँ एक ओर आर्थिक, शैक्षणिक तथा सामाजिक क्षेत्र में द्रुत गति से आगे बढ़ने की आवश्यकता है, वहीं दूसरी ओर जनता को राजनीतिक दृष्टि से जागरूक बनाकर इन बुराइयों से लड़ने के लिए तैयार करना ज़रूरी है। इस संबंध में भारतीय कार्यसमिति निम्नलिखित सुझाव देती है—

1. राजनीति में बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक की परिकल्पना मूलतः राष्ट्रीयता के प्रतिकूल है और उसका परित्याग किया जाए। उपासना-पद्धति की भिन्नता के फलस्वरूप नौकरी, व्यापार, शिक्षा आदि क्षेत्र में किसी प्रकार के भेदभाव को प्रश्रय देना उचित नहीं और अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के नाम पर पृथकता को बद्धमूल करने के प्रयत्नों को रोका जाए।

2. सभी प्रमुख राजनीतिक दल यह निश्चय करें कि वे सांप्रदायिकता के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं करेंगे और न उम्मीदवारों के चयन आदि में इन प्रवृत्तियों को स्थान देंगे।

3. जिन संस्थाओं की सदस्यता सभी भारतीयों के लिए खुली नहीं है और जो किसी विशेष मतावलंबियों के हितों का संरक्षण तथा संवर्द्धन करने के लिए कार्यरत हैं, उन्हें राजनीतिक उद्देश्यों की दृष्टि से मान्य न किया जाए और न उनके द्वारा प्रस्तुत राजनीतिक स्वरूप की माँगों तथा शिकायतों पर विचार किया जाए। इससे उन्हें अपने सांप्रदायिक स्वरूप को त्यागने के लिए विवश होना पड़ेगा और राजनीति के असांप्रदायिक स्वरूप को बल मिलेगा।

—पाञ्चजन्य, मई 1, 1961

□

परिशिष्ट-III

धनबाद में दीनदयालजी

जनसंघ के महासचिव श्री दीनदयाल उपाध्याय ने हाल ही में बिहार में कोयला क्षेत्र का दौरा किया। धनबाद में उन्होंने एक बड़ी जनसभा को संबोधित किया। इस पर संपादकीय टिप्पणी करते हुए एक राष्ट्रीय अंग्रेजी साप्ताहिक 'द कोलफील्ड टाइम्स' धनबाद ने 5 मई को लिखा :

ऐसा प्रतीत होता है कि अखिल भारतीय जनसंघ अगले आम चुनाव के लिए अपने अभियान का शुभारंभ पहले ही कर चुका है। हो सकता है, कुछ लोग कहें कि यह कुछ ज़्यादा ही जल्दी है। लेकिन कुछ मामलों में ज़्यादा ही देर कर देने की तुलना में ज़्यादा ही जल्दी करना बेहतर होता है। चुनाव इसी तरह का एक मामला है। चुनाव में सबसे महत्त्वपूर्ण बात है वोट प्राप्त करना और इसके लिए आवश्यक है कि एक बड़ा और मज़बूत जाल पर्याप्त रूप से जल्दी डाला जाए।

झरिया में पिछले सप्ताह जनसंघ के महासचिव पंडित दीनदयाल उपाध्याय द्वारा दिए गए भाषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जाल मज़बूत है। पंडित उपाध्याय बात बनाकर नहीं बोले थे। कांग्रेस पर एक सीधे हमले में उन्होंने उसके लगभग सभी कमज़ोर बिंदुओं पर सख़्त हमले किए। और कांग्रेस के वृद्ध शरीर पर कमज़ोर बिंदु हैं भी इतने अधिक कि पंडितजी के प्रहार निर्णायक ही रहे। अपने विभिन्न रूपों में सांप्रदायिकता की दोबारा पुनरावृत्ति से लेकर अपने बदसूरत नतीजों के साथ बढ़ते दामों तक, यह एक पूर्ण सप्तकथा, जिनके सभी तार निपुणता के साथ छेड़े गए थे। आलोचना की सामग्री शक्तिशाली और असहनीय थी। केरल में मुसलिम लीग और पंजाब में अकाली दल के साथ कांग्रेस का गठबंधन ऐसी बातें हैं, जिन्होंने कांग्रेस के कई दिग्गज बहाना पेश समर्थकों को भी सिर नोंचने के लिए छोड़ दिया है। कांग्रेस

कार्यकर्ताओं के लिए इतनी ही शर्मनाक जबलपुर में हिंदू सांप्रदायिकता की निंदा करने में प्रधानमंत्री नेहरू की जल्दबाज़ी है। सांप्रदायिकता हमेशा ख़राब होती है, चाहे वह हिंदू हो या मुसलिम या किसी अन्य संप्रदाय की हो। लेकिन जबलपुर में वास्तव में परेशानी शुरू कैसे हुई, इसका निर्धारण करना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से एक जाँच समिति भी नियुक्त की गई है। समिति के निष्कर्ष ज्ञात हों, इससे पहले की गई निंदा थोड़ी-बहुत ग़ैर-क़ानूनी होने के अलावा तथ्य से परे हो सकती है, इस तथ्य की अनदेखी किसी के भी द्वारा नहीं की जानी चाहिए, और प्रधानमंत्री द्वारा तो ज़रा भी नहीं। ऐसे में, जनसंघ के महासचिव ने लोगों के संकट और अन्य संबद्ध बातों के बारे में जो कुछ कहा, उसकी ज़ाहिर तौर पर कई दिलों में गूँजती हुई प्रतिक्रिया उद्वेलित हुई होगी। संघ का वोट प्राप्त करने का जाल वास्तव में मज़बूत है।

लेकिन यह जाल कितना बड़ा है? यही सवाल है। यह सपना देखना आसान है कि कांग्रेस को सत्ता से बाहर कर दिया गया है। उसे सत्ता से बाहर करने के लिए लोगों से कहना भी उतना ही आसान है। लेकिन सत्ता से वास्तविक तौर पर बाहर करने से पहले काफ़ी कुछ किया जाना ज़रूरी है। कांग्रेस चालीस वर्ष से अधिक के ईमानदाराना, निष्कपट और श्रमसाध्य देशभक्तिपूर्ण कार्य के बूते जनता की दृष्टि में ऊँचा सम्मान प्राप्त कर सकी थी। यह दु:खद है कि वह अपने मानदंडों से पतित हो गई है। लेकिन इसका आत्मपतन दूसरों के लिए एक सीढ़ी का कार्य नहीं करेगा। उस स्पृहणीय ऊँचाई तक पहुँचने के लिए दूसरी पार्टी को भी उसी खड़ी चढ़ाई वाले कठिन रास्ते पर चलना होगा। चुनाव अभियान के लिए निर्मित मंच उस रास्ते की बाधा हैं। यह अफ़सोस की बात है कि अन्यथा सर्वश्रेष्ठ इरादों से परिचालित व्यक्तिओं को जन-मनोविज्ञान के इस प्राथमिक तथ्य का अहसास नहीं है। लेकिन जब तक ऐसा हो सके, और यह अहसास अभ्यास में परिवर्तित हो, जाल चाहे जितना भी मज़बूत हो, वह शिकार नहीं कर सकेगा।

—ऑर्गनाइज़र, मई 22, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

परिशिष्ट-IV

डॉ. मुखर्जी को श्रद्धांजलि

अगर वह जीवित होते

मैं उन लोगों में सबसे आगे हूँ, जिन्हें इस बात का गहराई से और ईमानदारी से अफ़सोस है कि मुक्त अर्थव्यवस्था को समाप्त करने और व्यक्तिगत स्वतंत्रता को नष्ट करने के लिए कांग्रेस और कम्युनिस्टों के बीच तेज़ी से विकसित हो रही साज़िश का विरोध करनेवाले सभी लोगों को एकजुट करने के लिए डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी की सेवाएँ अब उपलब्ध नहीं हो सकती हैं। अगर श्यामाप्रसादजी जीवित होते, तो उन्हें इस ख़तरे का अहसास आसानी से हो गया होता; और पूर्वग्रह के मकड़जालों को एक तरफ़ करते हुए, उन्होंने सभी स्वतंत्रता प्रेमी लेकिन बिखरे हुए भारतीय देशभक्त कार्यकर्ताओं में एकता गढ़ दी होती और अधिनायकवाद को एक सीधी टक्कर दी होती।

—सी. राजगोपालाचारी

उत्कृष्ट सेवा कार्य

विभिन्न कारणों से डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी उसी ऊँचाई तक नहीं पहुँच सके, जिस ऊँचाई पर कुछ अन्य राष्ट्रीय नेता पहुँचे, हालाँकि उनमें एक महान् देश के एक महान् नेता की अपेक्षित योग्यता थी। वह आगे क्यों नहीं बढ़ सके, इसके कारणों में से एक था कि वह अपने विचारों में दृढ थे, जो किसी व्यक्ति के राजनीतिक जीवन में एक बड़ी त्रुटि होती है। अपने स्वभाव में इस ख़ामी के बावजूद उन्होंने न केवल बंगाल के लिए बल्कि व्यापक हिंदू समाज के लिए विपत्ति में उत्कृष्ट सेवा प्रदान की है। मैं केवल एक या दो वर्ष के लिए उनके संपर्क में आया था। इस कारण मुझे उनको नज़दीक से अध्ययन करने का अवसर मिला था। वह महान् सत्यनिष्ठा वाले नेता थे। उनका निजी जीवन पवित्र था। उनके राजनीतिक विश्वास भारत के पारंपरिक धार्मिक विश्वास के साथ घुले-मिले थे। जब वह केंद्रीय मंत्रिमंडल में मंत्री थे, तो उन्होंने महान् सरदार

वल्लभभाई पटेल के एक क़रीबी सहयोगी के रूप में काम किया था। उनकी एक दुःखद परिस्थिति में मृत्यु हुई और उनकी मृत्यु ने उन्हें और अधिक महान् बना दिया। जब भी बंगाल के भविष्य का इतिहास लिखा जाएगा, मुझे विश्वास है कि डॉ.मुखर्जी उसमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान पर होंगे।

—डॉ. हरेकृष्ण मेहताब

देश के लिए जिए और मरे

डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी निस्संदेह सार्वजनिक जीवन जीने वाले एक उत्कृष्ट व्यक्ति थे, जिन्होंने न केवल अपने बंगाल राज्य पर अपनी छाप छोड़ी, बल्कि जो एक अर्थ में भारत के सार्वजनिक जीवन पर अपनी छाप छोड़ गए थे। वह एक महान् विद्वान् थे। वास्तव में उन्हें विद्वत्ता अपने महान् और प्रतिष्ठित पिता से विरासत में मिली थी।

डॉ. मुखर्जी एक कट्टर राष्ट्रवादी थे, लेकिन एक सच्चे राष्ट्रवादी की उनकी अवधारणा हिंदू धर्म और संस्कृति में उनके महान् विश्वास को नकारती नहीं थी। अविभाजित बंगाल में हिंदुओं की स्थिति बिल्कुल भी वैसी नहीं थी, जैसी कि होनी चाहिए थी। वहाँ मुसलिम समुदाय द्वारा हिंदू धर्म और संस्कृति पर लगातार हमले, हिंदुओं का जबरन धर्म-परिवर्तन, द्वैध शासन-पद्धति के अस्तित्व में आने से लेकर 1947 में विभाजन की तिथि तक हिंदुओं के प्रति भेदभावपूर्ण प्रशासन, यह वे कारक थे, जिन्होंने बंगाल में हिंदू चिंतन को प्रभावित किया और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि बंगाल वह प्रांत था, जहाँ हिंदू सभा ने मज़बूती से जड़ें जमा ली हैं। यह डॉ. श्यामाप्रसाद का नेतृत्व ही था, जिसने हिंदू सभा को पूरी तरह सांप्रदायिक बनने से बचा लिया था। यह उनका महान् योगदान था, वह बहुत बड़ी सीमा तक यह सहमत कराने में सफल रहे थे कि एक अच्छा हिंदू एक अच्छा राष्ट्रवादी हो सकता है (या संभवतः यह कि केवल एक अच्छा हिंदू एक अच्छा राष्ट्रवादी हो सकता है—सं.।)

सार्वजनिक गतिविधियों का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है, जहाँ उन्होंने काम न किया हो, और कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है, जहाँ उन्होंने काम किया हो और काफ़ी हद तक सफल न रहे हों। वह अपने विचारों में दृढ थे, लेकिन घटनाओं की प्रवृत्ति समझ लेते थे और जो अपरिहार्य होता था, उसके साथ अनिवार्य रूप से समायोजित हो जाते थे। जून 1947 में, यह स्पष्ट हो चुका था कि भारत को केवल विभाजन के परिणामस्वरूप स्वतंत्रता मिल सकेगी। डॉ.मुखर्जी मौके पर ख़रे उतरे और मेरी विनम्र राय में, स्थिति को स्वीकार करना उनका एक महान् राष्ट्रकर्मी जैसा क़दम था। उन ऐतिहासिक दिनों के दौरान, मैं उनसे अकसर मुलाक़ात करता था और मैं जानता हूँ कि विभाजन के लिए सहमत होना उनके लिए कितना बड़ा बलिदान था।

वह एक महान् प्रशासक थे और अब तक के उत्कृष्ट सांसदों में से एक थे। जिस भावना ने उन्हें केंद्रीय मंत्रिमंडल में शामिल होने के लिए प्रेरित किया था, यह ठीक वही भावना थी, जिसने उन्हें केंद्रीय मंत्रिमंडल छोड़ने के लिए प्रेरित किया था। विपक्षी बेंच पर उनकी हाज़िरजवाबी और सत्तापक्ष के ख़िलाफ़ सुनिर्देशित आक्रमणों ने एक गहरी छाप छोड़ी है, और मैं कहता हूँ, उन्होंने एक ऐसे विपक्ष की परंपरा स्थापित की, जिसमें शक्ति थी, लेकिन कोई दुर्भावना नहीं थी। सहयोग के लिए तत्परता थी, लेकिन जो मूलतः उनके सिद्धांतों के विपरीत था, उसका विरोध करने के लिए दृढ प्रतिरोध भी था। वह देश के लिए जिए और देश के लिए मरे, समाज के लिए और उन उच्च सिद्धांतों के लिए, जिनके लिए उन्होंने अपना जीवन समर्पित कर दिया था।

—एन.वी. गाडगिल

—ऑर्गनाइज़र, जुलाई 3, 1961

□

जनसंघ के महामंत्री को 31 हज़ार की थैली भेंट

काशी नगर जनसंघ के तत्त्वावधान में आयोजित एक महती सभा में जनसंघ के महामंत्री पं. दीनदयाल उपाध्याय को 31 हज़ार रुपए की थैली समर्पित की गई। इस राशि में काशी के लगभग 10 हज़ार नागरिकों ने योगदान दिया। श्री उपाध्याय ने जनता की आत्मीयता तथा स्नेह के प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए विश्वास दिलाया कि जनसंघ के कार्यकर्ता अपनी पूरी शक्ति लगाकर जनता की भावनाओं और आकांक्षाओं के अनुरूप देश के निर्माण में सफल होंगे। देश में बढ़ती हुई विभेदकारी शक्तियों का मुक़ाबला करने के लिए उन्होंने जनता को जनसंघ के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर आगे बढ़ने का आह्वान किया।

—पाञ्चजन्य, जुलाई 24, 1961

□

परिशिष्ट-VI

जनसंघ चुनावी घोषणा-पत्र राष्ट्रोत्थान के लिए जनसंघ का चतुःसूत्री कार्यक्रम

जनसंघ चुनाव घोषणा-पत्र में राष्ट्र के सर्वांगीण उत्थान के लिए संघर्षरत रहने का संकल्प

1962 पुनः एक बार भारतीय जनता को लोकतांत्रिक तरीक़े से वर्तमान शासन को बदलने और एक नए नेतृत्व के हाथों में राष्ट्र नौका की पतवार को सौंपने का महान् अवसर प्रदान करता है। जो शासन जनता की अन्न, वस्त्र तथा आवास की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति तो दूर, बाहरी आक्रमण तथा आंतरिक विघटन को रोकने के अपने प्राथमिक कर्तव्य का भी पालन नहीं कर सका, उसे सत्तारूढ़ रहने का कोई अधिकार नहीं है।

जो दल अपने उच्च आदर्शवाद से गिरकर सत्ता-प्राप्ति के लिए स्वार्थ प्रिय और जो अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए राष्ट्रद्रोही एवं पृथकतावादी शक्तियों के साथ गठबंधन कर रहा है, अवसरवादी, अनुशासनहीन व्यक्तियों का अखाड़ा बन गया है, वह भारतीय जनता को आसन्न संकटों के निवारण और उज्ज्वल भविष्य के निर्माण हेतु प्रखर आदर्शवाद अनुप्राणित साहसपूर्ण पग उठाने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता।

आज माँग है ऐसे नेतृत्व की, जो समाजनिष्ठा तथा कर्तव्यदक्ष हो, ऐसे दल की जो सुसंगठित तथा अनुशासित हों, ऐसे कार्यक्रम की जो यथार्थवादी और राष्ट्र की प्रकृति, प्रतिभा और परंपरा पर आधारित हो। सभी समस्याओं का सफल समाधान यही है। भारतीय संस्कृति और मर्यादाओं को ही अपना आधार बनाकर देश का विकास तथा लोकतंत्र को परिपुष्ट करने के लिए भारतीय जनसंघ प्रचारात्मक, रचनात्मक तथा आवश्यकतानुसार आंदोलनात्मक मार्गों द्वारा जनमत के जागरण तथा प्रकटीकरण के हेतु प्रयत्नशील रहा है। स्थानीय तथा प्रादेशिक प्रश्नों के अतिरिक्त जम्मू-कश्मीर का

शेष भारत के साथ एकीकरण, गोवा की मुक्ति, चीनी आक्रमण, पाकिस्तान के प्रति संतुष्टीकरण की नीति, महँगाई, बेकारी तथा कर -वृद्धि, राजकीय व्यापार, सहकारी खेती आदि सार्वदेशिक महत्त्व के प्रश्नों पर जनसंघ ने जनता की भावनाओं को प्रभावी रूप से अभिव्यक्त किया है।

जब विभिन्न राजनीतिक दल अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए सांप्रदायिकता, जातिवाद तथा क्षेत्रीयता को बढ़ावा देने के दोषी हैं, भारतीय जनसंघ ने इन विकृतियों के विरुद्ध सतत संघर्ष किया है और उसने सदैव राष्ट्रहित को ही प्राथमिकता दी है।

भारतीय जनसंघ के प्रति जनता के बढ़ते हुए विश्वास तथा समर्थन ने हमें इस बात के लिए उत्साहित किया है कि हम उसकी अपेक्षाओं को पूर्ण करने के लिए संपूर्ण शक्ति लगाकर प्रयत्न करें। जनता से भी हम आशा करते हैं कि भाग्य-निर्णय की इस घड़ी में वह अपने गंभीर दायित्व को पहचानकर भय अथवा प्रलोभन से विचलित न होते हुए अपने लोकतंत्रीय अधिकार का उपयोग करेगी।

आज की स्थिति में जिन समस्याओं की ओर अविलंब ध्यान देना चाहिए और जिनको हल किए बिना न तो स्वतंत्रता का संरक्षण ही किया जा सकता है और न देश का आर्थिक विकास ही संभव है, वे निम्नलिखित हैं—

(1) राष्ट्र की सुरक्षा एवं एकता
(2) शासन की शुचिता और दक्षता
(3) मूल्यों का स्थिरीकरण तथा बेकारी का उन्मूलन
(4) शिक्षा-पद्धति का पुनर्गठन

भारतीय जनसंघ आगामी 5 वर्षों में इन समस्याओं के समाधान का बीड़ा उठाता है।

भारत की सीमाएँ आज आक्रामित हैं। एक ओर पाकिस्तान ने तथा दूसरी ओर कम्युनिस्ट चीन ने, विशाल भू-भागों पर अपना बलात् अधिकार जमा रखा है। देश में आक्रमणकारियों का सफल सामना करने का सामर्थ्य होते हुए भी कांग्रेस शासन ने जिस तुष्टीकरण की नीति का पालन किया है, उससे शत्रुओं को अपनी मोरचेबंदी सुदृढ करने का अवसर मिला है तथा जनता का मनोबल क्षीण हुआ है। भारतीय जनसंघ स्वतंत्रता एवं प्रभुता के समक्ष विद्यमान इस चुनौती का सभी संभव उपायों से मुक़ाबला करेगा तथा भारत की समस्त भूमि को मुक्त करा के रहेगा।

शासन में भ्रष्टाचार एक संक्रामक रोग का रूप धारण चुका है। इसके लिए शासन की नीतियाँ, नियम तथा उच्चपदस्थ शासकों का व्यवहार उत्तरदायी है। भारतीय जनसंघ जहाँ भ्रष्ट कर्मचारियों और जन-प्रतिनिधियों के विरुद्ध कठोर दंड की व्यवस्था करेगा, वहाँ कर्तव्यदक्ष एवं ईमानदार जनसेवकों को सब प्रकार से बढ़ावा देगा। जनसंघ प्रशासन में बढ़ती हुई केंद्रीकरण की वृत्ति को हटाकर नीचे के कर्मचारियों को आधिकारिक

ज़िम्मेदारी तथा स्वविवेक से काम करने का अवसर देगा।

मूल्य के उतार-चढ़ाव से देश की आर्थिक व्यवस्था असंतुलित हो गई है। इसका परिणाम उत्पादक एवं उपभोक्ता दोनों पर हो रहा है। भारतीय जनसंघ अर्थव्यवस्था के संतुलित विकास के लिए आवश्यक समझता है कि कृषि और उद्योग उत्पादनों के मूल्य, वेतन और मज़दूरी, ब्याज़ और मुनाफ़ा इन सबके बीच तालमेल बिठाया जाए। भारतीय जनसंघ पंचवर्षीय योजनाओं तथा शासन की मौद्रिक एवं वित्तीय नीतियों का इस प्रकार निर्धारण करेगा कि राष्ट्रीय आय की वृद्धि में देश के सभी वर्ग समान रूप से साझीदार हो सकें तथा अर्थव्यवस्था में खिंचाव पैदा होकर विकास के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न न हों।

निःशुल्क माध्यमिक शिक्षा एवं रोज़गार की गारंटी

उपजीविका के अधिकार को भारतीय जनसंघ व्यक्ति का मौलिक अधिकार मानता है। बिना काम की व्यवस्था के व्यक्ति न तो अपने जीवन को सार्थक कर सकता है और न राष्ट्र-निर्माण में ही योगदान दे सकता है।

शिक्षा का जीविकोपार्जन के साथ घनिष्ठ संबंध है। आज न तो शिक्षा का पुनर्गठन किया गया है, जिससे वह व्यक्तित्व का समन्वित विकास करते हुए व्यक्ति को समाज के प्रति अपने दायित्वों के निर्वाह और जीविकोपार्जन में समर्थ बना सके और न प्रत्येक बालक-बालिका के लिए शिक्षा की उचित व्यवस्था की गई है।

भारतीय जनसंघ आगामी पाँच वर्षों में प्रत्येक युवकों को निःशुल्क माध्यमिक शिक्षा और रोज़गार की गारंटी देता है।

निकट भविष्य में विशेषतः उपर्युक्त लक्ष्यों की प्राप्ति तथा सामान्यतः भारतीय संस्कृति और मर्यादाओं के आधार पर भारत में एक राजनीतिक आर्थिक, सामाजिक जनतंत्र की स्थापना तथा उसे सुदृढ एवं सुसंपन्न करते हुए एक आधुनिक और जागरूक राष्ट्र बनाने के अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए भारतीय जनसंघ की नीतियों का आधार निम्नलिखित कार्यक्रम होगा।

राष्ट्रीय सुरक्षा

चीन और पाकिस्तान दोनों के आक्रामक मंतव्यों को ध्यान में रखकर भारत की रक्षा-शक्ति का विकास तथा उसे आधुनिकतम शस्त्रों से सुसज्ज किया जाएगा। प्रक्षेपास्त्रों, पनडुब्बियों तथा लड़ाकू विमानों की देश में निर्मित तथा अथवा प्राप्ति की व्यवस्था की जाएगी किंतु भारत किसी सैन्य संगठन में सम्मिलित नहीं होगा।

एक राष्ट्रीय सुरक्षा-नीति का निर्धारण एवं विकास करने के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा-

परिषद् की नियुक्ति की जाएगी, जिसमें देश की सभी राष्ट्रीय शक्तियों का समावेश होगा। एन.सी.सी. का विस्तार करके प्रत्येक विद्यार्थी को उसमें समाविष्ट किया जाएगा। प्रादेशिक सेना का विशाल आधार पर संगठन किया जाएगा। नए सुरक्षा उद्योगों की स्थापना तथा पुरानों की कार्यक्षमता में वृद्धि की जाएगी। जवानों के वेतन एवं अन्य सुविधाओं में वृद्धि की जाएगी। सीमांत क्षेत्र के विकास के लिए विशेष व्यवस्था सुरक्षा-मंत्रालय के द्वारा की जाएगी। यातायात तथा परिवहनों के साधनों के विस्तार के साथ क्षेत्र के आर्थिक विकास पर भी बल दिया जाएगा।

सीमाओं की देखभाल के लिए एक विशेष पुलिस दल संगठित किया जाएगा, जिसका दायित्व केंद्र पर होगा। अंत: प्रवेश तथा अवैध व्यापार को रोकने के लिए कड़े क़दम उठाए जाएँगे। गुप्तचर विभाग को अधिक सक्रिय एवं सक्षम बनाया जाएगा, जिससे विदेशी गुप्तचरों तथा पंचमांगियों पर कठोर दृष्टि रखी जा सके और उनके षड्यंत्रों को पकने से पूर्व ही विफल किया जा सके। आसाम और कश्मीर में अवैध रूप से आए पाकिस्तानियों के निष्कासन के लिए प्रभावी कार्रवाई की जाएगी।

सीमाओं का अतिक्रमण होने पर भारतीय जनसंघ की नीति विरोध-पत्र से संतोष न करते हुए जवाबी कार्रवाई की रहेगी।

राष्ट्रीय एकता

विघटन और विच्छेद की प्रवृत्तियों का उभाड़ इस बात का द्योतक है कि राष्ट्रीय निष्ठाओं को बलवती बनाने के भावात्मक प्रयत्न नहीं किए गए। उपासना-पद्धति की पूर्ण स्वतंत्रता देते हुए भी भारतीय जनसंघ मज़हब को राजनीति के साथ मिलाने अथवा सांप्रदायिक आधार पर विशेष अधिकारों की माँग करने की प्रवृत्ति को, जो असांप्रदायिक राज्य के सिद्धांत के प्रतिकूल तथा राष्ट्रीय एकात्मता के निर्माण में बाधक है, विरोधी है, किसी प्रकार का प्रश्रय नहीं देगा।

मज़हब के आधार पर भारतीय जन को बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक वर्गों में बाँटना अतर्कसंगत और राष्ट्रीयता की शुद्ध परिकल्पना के अज्ञान का परिचायक है। राजनीतिक प्रशासन में इस प्रकार की भ्रांत धारणाओं पर आधारित वर्गीकरण के लिए कोई स्थान नहीं होगा।

सभी नागरिकों में भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठा पैदा करके राष्ट्रीय एकता को बलवती बनाने के लिए विशेष कार्यक्रम अपनाए जाएँगे।

समाज के अंतर्गत ऊँच-नीच, छुआछूत आदि को हटाकर एकनिष्ठता संपादन करने के हेतु पिछड़ी हुई जातियों के लिए आर्थिक एवं शैक्षणिक सहायता की व्यवस्था की जाएगी।

भारत-स्थित प्रत्येक विदेशी मिशनरी के कार्य और व्यवहार की जाँच की जाएगी और जो मिशनरी आपत्तिजनक रीति से मत परिवर्तन करने अथवा राजनीतिक गतिविधियों में संलग्न पाए जाएँगे, उन्हें भारत से निष्कासित किया जाएगा। नियोगी समिति तथा रेगे समिति की सिफ़ारिशों को कार्यान्वित किया जाएगा। सामान्यत: वनवासी तथा सीमावर्ती केंद्रों में विदेशी मिशनरियों का प्रवेश निषिद्ध होगा।

राष्ट्रीय एकात्मता के मार्ग में वर्तमान संविधान बाधक है, जिसमें संघात्मक शासन की स्थापना की गई है और भारत को भारतीय संघ तथा प्रांतों को राज्यों की संज्ञा देकर उनकी पृथकता और प्रभुता को मान्य किया गया है। जनसंघ संविधान में संशोधन कर भारत को एकात्मक राज्य घोषित करेगा, जिसमें नीचे के स्तर तक विकेंद्रीकरण की व्यवस्था होगी।

कश्मीर

भारतीय जनसंघ संपूर्ण जम्मू-कश्मीर राज्य को भारत का अभिन्न अंग मानता है। जनसंघ उसे भारत के अन्य राज्यों के समकक्ष लाने के लिए भारतीय संविधान के अनुच्छेद 370 को समाप्त करके, रियासत के ऊपर पूर्णरूप से लागू करेगा। वे सब प्रावधान, जो जम्मू और कश्मीर में रहनेवाले भारतीय नागरिकों तथा शेष नागरिकों के बीच विभेद पैदा करते हैं, समाप्त कर दिए जाएँगे। जम्मू और कश्मीर राज्य के नागरिकों को लोकसभा के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन का मताधिकार दिया जाएगा।

राज्य में रहनेवाले विस्थापितों को नागरिकता और मतदान के अधिकार दिए जाएँगे। पाक अधिकृत कश्मीर से विस्थापित परिवारों को पुनर्वास और क्षतिपूर्ति की वे सब सुविधाएँ प्राप्त होंगी, जो अन्य विस्थापितों को उपलब्ध रही हैं।

भारतीय जनसंघ कश्मीर पर हुए आक्रमणों को भारत पर आक्रमण मानता है और सभी संभव उपायों से आक्रांत भूभाग को मुक्त किया जाएगा।

शक्ति का विकेंद्रीकरण

ग्राम पंचायत, नगरपालिका, निगम तथा अन्य स्थानीय संस्थाएँ जो कि प्रजातंत्रीय शासन की आधारभूत इकाइयाँ हैं, राष्ट्र के सर्वोच्च अधिनियम संविधान में अपना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करेंगी और उसी से शक्ति ग्रहण करेंगी। ज़िला परिषदों तथा जनपद सभाओं का गठन किया जाएगा तथा उन्हें प्रादेशिक शासनों की कृपा और अनुदानों पर निर्भर न रखते हुए संविधानांतर्गत अधिकारों तथा साधन स्रोतों से संपन्न किया जाएगा। विधिवत् निर्वाचित स्थानीय संस्थाओं को अवक्रांत अथवा भंग करने या उसके किसी सदस्य को निलंबित अथवा अपदस्थ करने का अधिकार राज्य सरकार को

नहीं रहेगा। यह अधिकार एक स्वतंत्र न्यायिक निकाय को सौंपा जाएगा।

ग्राम पंचायतों को भूमि-कर में से धन-राशि का निश्चित अंश प्रदान किया जाएगा।

आधारभूत स्वतंत्रताओं का संरक्षण

जनसंघ वर्तमान शासन द्वारा जनाधिकारों को कुंठित तथा सीमित करने के लिए बनाए गए जनसुरक्षा अधिनियम, निवारक-निरोध अधिनियम आदि को रद्द कर देगा और दंड प्रक्रिया संहिता 107, 108, 109 तथा 144 धाराओं और भारतीय दंड विधान की 124 अ तथा 153, 153 अ धाराओं में ऐसे संशोधन करेगा, जिससे नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण करने के लिए उनका दुरुपयोग न किया जा सके।

समाचार-पत्रों को विज्ञापन देने की प्रशासन की नीति का निर्धारण पक्षपात रहित तथा केवल प्रचार की दृष्टि से किया जाएगा।

प्रशासन में सुधार

जनसंघ प्रशासन को नौकरशाही, लालफीताशाही, अक्षमता, अदक्षता तथा भ्रष्टाचार के वर्तमान दोषों से मुक्त करने के लिए उसके ढाँचे में आमूल परिवर्तन करेगा।

अधिकारियों और कर्मचारियों के बीच जो खाई आज विद्यमान है और जो अधिकारियों में अहमन्यता तथा कर्मचारियों में हीनता का भाव पैदा करती है, उसे पाटा जाएगा तथा सभी के अंत:करण में राष्ट्र निर्माण के महान् दायित्व में सहभागी होने का गौरव जाग्रत् किया जाएगा। शासन के अस्थायी विभागों में काम करनेवाले कर्मचारियों को स्थायी बनाया जाएगा और विभागों के समाप्त होने पर इन कर्मचारियों को अन्यत्र स्थान देने का दायित्व शासन पर होगा।

सरकारी कर्मचारियों का अपने संगठन बनाने और सामूहिक वार्ता का अधिकार अक्षुण्ण रखा जाएगा और उनकी शिकायतों तथा माँगों पर विचार करने के लिए स्थायी समझौता-वार्तायंत्र (Negotiating Machinery) की स्थापना की जाएगी।

केंद्र, प्रदेश एवं स्थानीय संस्थाओं के कर्मचारियों के लिए समान वेतन दरें लागू कर सबको केंद्रीय स्तर पर लाया जाएगा। महँगाई के अनुपात में उन्हें महँगाई भत्ता मिलेगा। सरकारी कर्मचारियों के आवास की व्यवस्था शासन की ज़िम्मेदारी होगी। भ्रष्टाचार के उन्मूलन के लिए भ्रष्यचार विरोधी विभाग को अधिक सशक्त बनाने के साथ-साथ एक उच्चाधिकार संपन्न आयोग नियुक्त किया जाएगा, जो उच्चपदासीन व्यक्तियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच करेगा। भ्रष्टाचारियों के विरुद्ध कठोर दंड की व्यवस्था की जाएगी।

न्याय, स्वास्थ्य, कृषि, इंजीनियरिंग, शिक्षा तथा सार्वजनिक-उद्योगों के प्रबंध के लिए अखिल भारतीय सेवाएँ संगठित की जाएँगी।

प्रशासन व्यय में बचत

प्रशासन के व्यय में, जो गत वर्षों में कई गुना हो गया है, कमी करने की ओर जनसंघ विशेष ध्यान देगा। ऐसे विभाग एवं पद जो अनावश्यक हैं, समाप्त कर दिए जाएँगे। राज्यपालों की संख्या कम करके उन्हें केंद्रीय आधार पर नियुक्त किया जाएगा। विधान परिषदें जोकि दूसरे सदनों के अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं कर पाई हैं, समाप्त कर दी जाएँगी।

मंत्रियों की तथा राज्य के किसी भी अधिकारी को राष्ट्रीय आय की अधिकतम मर्यादा अर्थात् 2000 रुपए प्रतिमास से अधिक वेतन नहीं दिया जाएगा। अधिकारियों को राज्य की ओर से ऐसी सुविधाएँ उपलब्ध नहीं होंगी, जो कि सभी कर्मचारियों को प्राप्त न हों।

सस्ता और सुलभ न्याय

न्याय को सस्ता, सर्वजन सुलभ तथा शीघ्रतर बनाया जाएगा। न्याय-शुल्क कम किया जाएगा। समादेश-याचिकाएँ न्याय-शुल्क से मुक्त रहेंगी। निर्धन व्यक्तियों की रक्षा के लिए शासन की ओर से अभिभावकों की व्यवस्था की जाएगी। सामान्य अपराधों के लिए चलते-फिरते न्यायालयों की व्यवस्था की जाएगी।

न्यायपालिका को कार्यपालिका से सब स्तरों पर पृथक् किया जाएगा। न्यायालय कार्य-क्षेत्र को सीमित करने की प्रवृत्ति को रोका जाएगा।

विस्थापितों का पुनर्वास

पश्चिमी पाकिस्तान से आए विस्थापितों के दावों का शीघ्र भुगतान किया जाएगा। पाकिस्तान में छोड़ी हुई संपत्ति के लिए पूर्ण क्षतिपूर्ति की व्यवस्था होगी।

पूर्वी बंगाल से आए विस्थापितों को उनके लिए अनुकूल स्थिति में बसाने का प्रयत्न होगा तथा उन्हें पूर्ण क्षति-पूर्ति प्राप्त करने का अधिकार होगा। दंडाकारण्य योजना को विस्थापितों तथा स्थानीय निवासियों के सहयोग से शीघ्र पूर्ण किया जाएगा।

भाषा

जनसंघ प्रयत्न करेगा कि अंग्रेज़ी के स्थान पर हिंदी तथा प्रादेशिक भाषाएँ संविधान द्वारा नियत अवधि के अंदर राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो जाएँ। किंतु इस बात का ध्यान रखा जाएगा कि जो वर्ग निश्चित अवधि में हिंदी अथवा प्रादेशिक भाषाओं का आवश्यक ज्ञान अर्जित नहीं कर पाए हैं, वे सरकारी नौकरियों तथा अन्य सेवाओं में स्थान पाने तथा पदोन्नति में न पिछड़ें।

विभिन्न प्रदेशों के राजभाषा संबंधी विवादों के हल के लिए जनसंघ उच्चाधिकारयुक्त आयोग की नियुक्ति करेगा, जिसकी सिफ़ारिशें अनिवार्यतः लागू होंगी।

भारतीय जनसंघ हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के विकास के लिए एक पंचवर्षीय योजना बनाएगा, जिसके अंतर्गत अधिकारी विद्वानों द्वारा संस्कृत एवं अन्य भारतीय भाषाओं पर आधारित एक सामान्य, पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक शब्दावली तैयार की जाएगी और विश्व की समस्त प्रमुख भाषाओं के उपयोगी साहित्य को, विशेषत: उच्च शिक्षा के लिए आवश्यक ग्रंथों को हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अनूदित किया जाएगा।

जनसंघ लोकभाषाओं को प्रोत्साहित करेगा। संविधान द्वारा मान्य भारतीय भाषाओं की सूची में सिंधी का समावेश किया जाएगा। शिक्षा के माध्यम के संबंध में जनसंघ की नीति इस प्रकार होगी—

1. प्रारंभिक शिक्षा मातृभाषा में दी जाएगी।
2. माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा प्रादेशिक भाषा के माध्यम से दी जाएगी और हिंदी का अध्ययन अनिवार्य होगा।
3. हिंदी भाषी विद्यार्थियों के लिए किसी अन्य भारतीय भाषा का ज्ञान आवश्यक होगा।
4. संस्कृत भाषा की शिक्षा अनिवार्य होगी।

आर्थिक कार्यक्रम

देश के आर्थिक विकास को सर्वोपरि महत्त्व देने के उपरांत भी कांग्रेस शासन ने जो नीतियाँ एवं कार्यक्रम अपनाए हैं, उनके परिणामस्वरूप देश की अर्थव्यवस्था अधिकाधिक विश्रृंखलित एवं विपन्न होती जा रही है। वह न तो व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकती है और न देश के सुरक्षा-सामर्थ्य की गारंटी दे सकती है। पिछले वर्षों में विनियोजन एवं उत्पादन में वृद्धि अवश्य हुई है किंतु उससे न तो बेकारी कम हुई है और न सामान्य जन के जीवन-स्तर में वृद्धि। आर्थिक क्षेत्र में विषमता और केंद्रीकरण, अभाव और महँगाई, कर और क़र्ज़ा, हीनार्थ प्रबंधन और अवमूल्यन, परावलंबन और परानुकरण सब की वृद्धि हुई है। अधिकाधिक क्षेत्र पर राज्य के स्वामित्व और नियंत्रण के फलस्वरूप व्यक्ति की स्वतंत्रता और प्रेरणा पर प्रतिकूल परिणाम हुआ है। आज किसान, मज़दूर, कर्मचारी, अध्यापक, दुकानदार और व्यापारी सभी त्रस्त तथा पीड़ित हैं। इस अवस्था को बदलने के लिए क्रांतिकारी पग उठाने पड़ेंगे।

नियोजन

राष्ट्र के साधनों को न्यूनतम काल में अधिकतम लाभ के लिए प्रयुक्त करने के लिए जनसंघ नियोजन की आवश्यकता को स्वीकार करता है। किंतु योजना साधन है, साध्य नहीं। उसका निर्माण समाज की स्थायी निष्ठाओं की मर्यादाओं के अंतर्गत तथा राष्ट्र के

सामर्थ्य की सीमाओं का समुचित आकलन कर यथार्थ की ठोस भूमिका पर करना होगा। वर्तमान योजना की परिकल्पना और व्यवहार में राष्ट्र की स्वतंत्रता, एकता तथा लोकतंत्रीय पद्धति के लिए गंभीर संकट की संभावनाएँ निहित हैं। साथ ही उसमें एक ओर जनता के ऊपर वह बोझा डाला गया है, जिसे वह वहन नहीं कर सकती और दूसरी ओर उसकी उन शक्तियों की ओर दुर्लक्ष्य किया गया है, जिनके उपयोग से वह तीसरी योजना से भी बड़ी योजना को पूर्ण करके राष्ट्रीय आय में भारी वृद्धि कर सकती है।

भारतीय जनसंघ योजना में आमूल परिवर्तन करेगा। आगे दिए हुए आर्थिक कार्यक्रम के समावेश के अतिरिक्त उसमें प्रमुखतया निम्नलिखित परिवर्तन किए जाएँगे—

1. कृषि को प्राथमिकता देकर देश को अन्न एवं कच्चे माल की दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाया जाएगा।
2. कुटीर, छोटे यंत्रचालित एवं उपभोक्ता उद्योगों को प्राथमिकता देकर उन्हें व्यापक रूप से फैलाया जाएगा।
3. सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार को रोककर उसका दृढीकरण किया जाएगा। पिछली योजना के अंतर्गत लिये गए कार्यक्रमों को शीघ्र पूरा किया जाएगा तथा आगे केवल वे ही कार्यक्रम लिये जाएँगे, जो आधारभूत उद्योगों के रूप में कृषि और अन्य उद्योगों के लिए आवश्यक हों।
4. सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के सैद्धांतिक एवं कृत्रिम भेद को समाप्त कर दिया जाएगा। एक राष्ट्रीय क्षेत्र की परिकल्पना कर उसमें सबको अपनी-अपनी शक्ति और क्षमता के अनुसार साझेदार बनाते हुए उद्योगों की स्थापना और प्रबंध की व्यवस्था की जाएगी।
5. मूल्यों का स्थिरीकरण, अधिकतम उत्पादन, समानांतर वितरण, प्रत्येक को सामान्य जीवन-स्तर की गारंटी, अधिकतम रोज़गार की व्यवस्था, सभी वर्गों एवं क्षेत्रों का संतुलित और समान विकास, योजना के लक्ष्य रहेंगे।
6. सुरक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामान्य योजना से बँधी हुई अलग योजना बनाई जाएगी।

भारतीय जनसंघ योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद् का पुनर्गठन करेगा। योजना आयोग में केवल विशेषज्ञ रखे जाएँगे, जिससे वे निष्पक्ष तथा राजनीतिक प्रभाव मुक्त विचार रख सकें।

राष्ट्रीय विकास परिषद् में केंद्रीय मंत्रिमंडल, प्रदेशों के मुख्यमंत्री तथा संसद् और विधानसभाओं के आनुपातिक प्रणाली से चुने हुए प्रतिनिधि रखे जाएँगे।

कृषि

भारत में कृषि का अधिकतम उत्पादन सघन खेती से ही संभव है। इस हेतु भारतीय जनसंघ कृषि के लिए आवश्यक साधन और पूँजी की व्यवस्था करेगा। किसान को पर्याप्त मात्रा में तथा उचित दाम में और समय पर अच्छा बीज, खाद और उर्वरक, कृषि के औज़ार बैल तथा ऋण प्राप्त हो सकें, इसकी व्यवस्था की जाएगी। उपलब्ध साधनों की उपलब्धि का संबंध पैदावार की वृद्धि के साथ जोड़ा जाएगा।

सिंचाई

खेती को अदेवमातृका बनाने के लिए सिंचाई की व्यवस्था की जाएगी। बड़ी-बड़ी योजनाओं को शीघ्र पूरा करके उनका लाभ किसान बिना अतिरिक्त कर के ले सके, इसकी व्यवस्था की जाएगी।

छोटी योजनाओं, बाँध, तालाब, नलकूप, गूलों, कुओं आदि को प्रमुखता देकर अधिकतम भूमि को पियत बनाया जाएगा। नई योजनाओं के साथ पुराने सिंचाई के साधनों की भी मरम्मत की चिंता की जाएगी।

आज सिंचाई के साधन जहाँ हैं, वहाँ भी उनसे पूरा लाभ नहीं मिल पाता। नहरों से समय पर और पूरा पानी नहीं मिलता। सिंचाई की दरें अधिक तथा अनार्थिक हैं। सिंचाई की व्यवस्था के साथ अन्य साधन अनुपलब्ध हैं। नई नहरें तो बन गई हैं, किंतु बंबे और गुल नहीं बने हैं। भारतीय जनसंघ इन सब अव्यवस्थाओं को दूर कर सिंचाई विभाग को अधिक कार्यदक्ष बनाएगा। पानी के बहाव का देशव्यापी अध्ययन नहीं किया गया है। फलतः एक ओर बहुत सा पानी छोटे-छोटे ताल और तलैयों में इकट्ठा कर सिंचाई के काम में लाया जा सकता है, व्यर्थ बह जाता है तो दूसरी ओर उससे बाढ़ की समस्या पैदा होती है। जनसंघ देश में उपलब्ध जल के सही और वैज्ञानिक उपयोग की ओर विशेष ध्यान देगा।

भूमि-सुधार

भारतीय जनसंघ किसान को भूमि का मालिक बनाएगा। इस दृष्टि से अभी तक पारित अधिनियमों की खामियों को दूर कर तुरंत प्रभावी ढंग से क्रियान्वित किया जाएगा।

भारतीय जनसंघ बेदख़ली रोकेगा और ग़ैरक़ानूनी और अनुचित तरीक़ों से बेदख़ल किए गए किसानों को उनकी भूमि वापस करेगा। 5 एकड़ तक के भूस्वामियों, विधवा, नाबालिग, अपंग, सैनिक और धर्मस्थानों को पट्टे का अधिकार दिया जाएगा।

भूमि का पुनर्वितरण

भूमि की अधिकतर जोत के क़ानून प्रायः सभी प्रदेशों में बन चुके हैं; किंतु उनमें अनेक त्रुटियाँ हैं। और उनके कार्यान्वयन में ढिलाई बरती जा रही है, जिसके फलस्वरूप

किसान के मन में अनिश्चितता उत्पन्न हो रही है, जो उत्पादन वृद्धि में बाधक है। भारतीय जनसंघ 1 वर्ष के अंदर इन क़ानूनों के प्रावधानों को लागू करने की व्यवस्था करके बक़ाया तथा नौतोड़ बंजर ज़मीनों को अनार्थिक जोत के किसानों तथा भूमिहीनों में बाँटकर उन्हें भूमि के स्वामित्व का अधिकार दिया जाएगा।

आर्थिक जोत

भारतीय जनसंघ इस बात की व्यवस्था करेगा कि छोटे किसान अधिक ज़मीन लेकर अथवा समान खेती से अपनी जोत को आर्थिक बना सके। अपखंडन और अंतर्विभाजन के कारण जोतों को अनार्थिक बनने से रोकने के लिए उन पर प्रतिबंध लगा दिया जाएगा। हिंदू उत्तराधिकार क़ानून में इस संबंध में संशोधन किया जाएगा।

चकबंदी

चकबंदी में व्यापक भ्रष्टाचार, पक्षपात और धाँधली के निराकरण के लिए जनसंघ प्रभावी कार्रवाई करेगा। चकबंदी की आवश्यकता होने पर उससे पूर्व प्रत्येक गाँव का भूसर्वेक्षण तथा एक 'मास्टर प्लान' बनाया जाएगा।

सहकारिता

कृषकों की ऋण, बीज, खाद औज़ार आदि देने तथा उनके माल को बेचने के लिए सेवा सहकारी समितियाँ गठित की जाएँगी तथा उनको इस योग्य बनाया जाएगा कि कृषक को संपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। सहकारी संस्थाओं को प्रशासनिक हस्तक्षेप एवं दबाव से मुक्त कर स्वयं स्फूर्ति से विकसित एवं आत्मनिर्भर बनने दिया जाएगा। शासन का परामर्श मिलता रहेगा।

सहकारी खेती

लोकतंत्र के लिए घातक तथा प्रति एकड़ अधिकतम उत्पादन की दृष्टि से भारतीय जनसंघ सहकारी खेती को—अनुपयुक्त समझता है। उन सभी प्रावधानों को रद्द किया जाएगा, जो किसान को अपनी भूमि के स्वामित्व से वंचित करके उसे सहकारी कृषि समिति में सम्मिलित होने को विवश करते हैं। शासन की ओर से मिलने वाली सभी सुविधाएँ व्यक्तिगत किसान को बिना किसी भेदभाव तथा पक्षपात के प्राप्त होंगी।

भूमिहीनों को भूमि सहकारी खेती समिति के नाम पर न बाँटकर निजी स्वामित्व के आधार पर बाँटी जाएगी।

विपणन

भारतीय जनसंघ इस बात की व्यवस्था करेगा कि किसान अपनी उपज का उचित दाम पा सकें। इस हेतु गोदामों का निर्माण किया जाएगा—उचित दाम न मिलने की दशा में न्यूनतम पूर्व घोषित मूल्यों पर कृषि उपज के शासन के द्वारा ख़रीदने की व्यवस्था रहेगी। न्यूनतम मूल्य निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखा जाएगा कि कृषक को उत्पादन-मूल्य के साथ-साथ उचित लाभ भी मिल सके।

गोरक्षा तथा पशुपालन

पशुपालन एवं विकास की ओर भी पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया। वनवासियों को कृषि के लिए योग्य पद्धति पर भूमि दी जाएगी।

भारत में खेती के लिए ट्रैक्टर एवं अन्य मशीनें अनुपयुक्त हैं। खेती के काम तथा ढुलाई दोनों के लिए अच्छे बैलों की आवश्यकता है। कृषि के साथ-साथ यदि पशुपालन को भी किसान अपनाएँ तो वह एक-दूसरे के लिए पूरक हो सकते हैं तथा किसान की आमदनी में बहुत वृद्धि हो सकती है।

भारत में दूध और घी का उत्पादन बहुत बढ़ाया जा सकता है। इसकी उपलब्धि से हमारी खाद्य समस्या बहुत दूर तक हल हो सकेगी तथा हमें पौष्टिक पदार्थ भी मिल सकेंगे। आवश्यक है कि गो-पालन के महत्त्व को समझकर उसे कृषि विकास के कार्यक्रम का अनिवार्य अंग मानकर चला जाए। भारतीय जनसंघ तदनुसार चारागाहों को छोड़ने, उनका वैज्ञानिक आधार पर विकास करने, गो-सदनों, गोशालाओं, डेरियों आदि की स्थापना के कार्यक्रम हाथ में लेगा। पशुपालन पर ही जिनकी जीविका निर्भर है, उनकी भूधृति को अधिकतम मर्यादा से मुक्त किया जाएगा। राजस्थान, पर्वतीय क्षेत्र एवं तराई के तथा वन क्षेत्रीय जहाँ बड़े पैमाने पर पशुपालन किया जा सकता है, वहाँ इस व्यवसाय में संलग्न व्यक्तियों को विशेष सुविधाएँ दी जाएँगी। अकाल और महामारी के प्रकोप से पशुओं की रक्षा के लिए क़दम उठाए जाएँगे। पशु-बीमा की योजना लागू की जाएगी। इन क्षेत्रों में डेरियाँ खोलकर पशुधन के विपणन की व्यवस्था होगी।

हरियाणा, गोर, ओंगलादि क्षेत्रों की अच्छी नस्ल की रक्षा एवं सुधार का प्रबंध किया जाएगा। गोवंश की अवधता के लिए भारतीय जनसंघ संविधान में संशोधन करेगा।

वन

वनों के संरक्षण एवं संवर्धन के लिए भारतीय जनसंघ वर्तमान वननीति में परिवर्तन करेगा। वनोपज के लिए ही नहीं, भूक्षरण को रोकने, बाढ़-नियंत्रण, वर्षा आदि अनेक दृष्टियों से वनों की आवश्यकता है। आज की नीति का आधार वनों से अधिकाधिक

आमदनी करने का है, जिसमें वनों के संवर्धन और संरक्षण तथा वनोपज पर जीविकोपार्जन करनेवाले स्थानीय वासियों की अवहेलना ही की जाती है। भारतीय जनसंघ की नीति का आधार वनवासियों एवं कृषकों के हितों का संरक्षण करते हुए वनश्री का वर्धन और दोहन होगा। वन विभाग के ठेके श्रमिक एवं वनवासियों की सहकारी समितियों को दिए जाएँगे।

वनवासियों को वनों में कृषि के लिए टोंग्या पद्धति पर भूमि दी जाएगी। वनोपज के संग्रह की उन्हें सुविधा रहेगी तथा उसके उन्हें उचित दाम मिल सकें, इस हेतु व्यवस्था की जाएगी। वनवासियों की साहूकारों एवं ठेकेदारों के शोषण से रक्षा की जाएगी। क़र्ज़-निवारण क़ानून को वनवासी क्षेत्र में विशेष रूप से लागू करके उन्हें सुविधा दी जाएगी।

वनों में आसपास के ग्रामवासियों के विस्तार के अधिकार सुरक्षित रखे जाएँगे। ग्रामवासियों को अधिकाधिक वृक्षारोपण के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा।

उद्योग

भारतीय जनसंघ कृषि, उद्योग, व्यापार और सेवाओं के संतुलित एवं समन्वित विकास का संवर्धक है। भूमि पर भार कम करने तथा देश की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए शीघ्र औद्योगीकरण आवश्यक है।

भारतीय जनसंघ का मत है कि उचित एवं शीघ्र औद्योगीकरण के लिए हमें पाश्चात्य देशों का अनुकरण करने के स्थान पर अपनी प्रौद्योगिकी का विकास करना चाहिए। उत्पादन के उपलब्ध साधनों का अधिकतम फलदायी संयोजन प्रत्येक देश और काल की परिस्थिति पर निर्भर करता है। हमारे देश की प्राकृतिक संपदा, श्रम, शक्ति, प्रबंध और उद्यम की संभावनाएँ, सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्य तथा जीवन की भौतिक आवश्यकताएँ, सभी पश्चिमी देशों से इतनी भिन्न हैं कि हम वहाँ की उत्पादन प्रक्रिया का अनुकरण कर न तो अपनी समस्याओं को सुलझा सकते हैं और न आत्मनिर्भर, स्वचालित अर्थव्यवस्था का निर्माण कर सकते हैं।

भारतीय जनसंघ नई प्रौद्योगिकी का विकास करेगा, जिसमें विकेंद्रित अर्थ रचना के आधार पर प्रत्येक कुटुंब को उत्पादक इकाई बनाते हुए सबके लिए काम अधिकतम उत्पादन और समानांतर वितरण का लक्ष्य सिद्ध हो सकेगा।

छोटे उद्योग

उपयुक्त दृष्टि से छोटे और कुटीर उद्योगों का विकास कर जनसंघ उन्हें भारत के औद्योगीकरण का आधार बनाएगा। अधिकांश उपभोक्ता वस्तुएँ उन्हीं के द्वारा तैयार होंगी। बड़े उद्योग छोटे उद्योगों के लिए उत्पादक वस्तुएँ तैयार करने, उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं के एकत्रीकरण से नई वस्तुएँ बनाने तथा निर्यात के लिए विशेष उत्पादन के लिए ही

स्थापित किए जाएँगे। छोटे उद्योगों की उत्पादकता बढ़ाने तथा पैरों पर खड़ा करने के लिए उनका अभिनवीकरण आवश्यक है। जनसंघ खाद, अंबर चरखा आदि अनार्थिक योजनाओं में पैसा लगाना धन का अपव्यय मानता है, अतः उसे बंद कर देगा। हाथ-करघा उद्योगों की सहायता देकर उन्हें यंत्र चालित बनाने का प्रयत्न करेगा किंतु यह ध्यान रखा जाएगा कि कोई भी बुनकर बेरोज़गार न होने पाए।

छोटे उद्योगों के विकास के लिए निम्नलिखित साधन उपयोग में लाए जाएँगे—

1. नई छोटी मशीनों तथा कलों का निर्माण, जो कुटीरों तथा ग्रामों में चल सकें और माल के स्तर तथा उत्पादनकर्ता में वृद्धि कर सकें।
2. ग्रामों में औद्योगिक शिक्षालयों की स्थापना, जिनमें श्रमिकों को अर्वाचीन पद्धति से उद्योग चलाने की शिक्षा दी जा सके।
3. छोटे, कुटीर तथा ग्रामोद्योग द्वारा उत्पादित वस्तुओं के विक्रय के लिए बाज़ार सुरक्षित करना।
4. संयुक्त तथा सहकारी उद्योगों को प्रोत्साहन देना।

बड़े उद्योग

उपर्युक्त प्रावधान के अंतर्गत बड़े उद्योगों को विकास का पूर्ण अवसर दिया जाएगा किंतु उन्हें न तो एक स्थान पर कुछ प्रांतों और न ही कुछ क्षेत्रों में केंद्रित होने दिया जाएगा। कुछ बड़े नगरों में केंद्रित उद्योगों के विकेंद्रीकरण की योजना बनाई जाएगी।

आधारभूत उद्योग

भारतीय जनसंघ की नीति आधारभूत एवं सुरक्षा उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की है, किंतु वर्तमान में वह राज्य की शक्ति मुख्यतः सुरक्षा उद्योगों के विकास और विस्तार पर लगाएगा। आधारभूत उद्योगों में विशेषतः रेल, खनिज तेल तथा बिजली (जल एवं अणु) पर बल देगा। अन्य उद्योगों के विकास में व्यक्तिगत प्रयत्नों को संबद्ध किया जा सकेगा।

सार्वजनिक उद्योग

सार्वजनिक क्षेत्र के अंतर्गत आए उद्योगों के लिए स्वायत्त कॉरपोरेशन बनाई जाएगी। उनको राजनीतिक हस्तक्षेप और प्रभाव से मुक्त रखा जाएगा।

उनके उत्पादनों के मूल्यों के निर्धारण में सामान्य मूल्य नीति का ध्यान रखा जाएगा। उनमें लाभ प्रबंध की दक्षता के आधार पर होना चाहिए, न कि एकाधिकार अथवा मूल्यों में कराधान के आंशिक समावेश के द्वारा। उनके ऊपर वे सब नियम लागू होंगे, जो अन्य उद्योगों पर लागू होते हैं। उनके कर्मचारियों को राजनीति में भाग लेने का अधिकार होगा।

विदेशी पूँजी

भारतीय जनसंघ का बल स्वावलंबन पर है। उसने जिस अर्थव्यवस्था का चित्र रखा है, उसमें विदेशी पूँजी का बहुत कम स्थान है। आधारभूत एवं आवश्यक नए उद्योगों के लिए बिना किसी राजनीतिक शर्त के मिलने वाली विदेशी पूँजी का वह स्वागत करेगा, किंतु अपनी योजनाओं को वह इस प्रकार बनाएगा कि बिना विदेशी पूँजी के भी उसे पूरा किया जा सके। विदेशी पूँजी के साथ भारतीय पूँजी का गठबंधन आवश्यक होगा तथा यह भी शर्त होगी कि एक निश्चित अवधि में भारतीय तज्ञों को प्रशिक्षित करके अथवा उसके पूर्व भी यदि वे उपलब्ध हों, तो उनके सहारे संपूर्ण उद्योग को चलाया जाए।

विदेशी उद्योगों का भारतीयकरण

जनसंघ इस बात का प्रयत्न करेगा कि खान, जूट, तंबाकू, कॉफी, चाय, रबर, दियासलाई, माचिस, वनस्पति आदि, और अन्य उद्योग जो बहुतांश विदेशियों के हाथ में हैं, का भारतीयकरण हो जाए।

—पाञ्चजन्य, सितंबर 18, 1961

□

परिशिष्ट-VII

भारतीय जनसंघ कार्यसमिति बैठक

'पंजाब की स्थिति में कोई परिवर्तन करना घातक होगा, मतदान की चिह्न-प्रणाली कश्मीर में लागू हो'

भारतीय जनंसघ केंद्रीय कार्यसमिति जम्मू को अपनी विगत बैठक से चुनाव घोषणा प्रपत्र को अंतिम रूप देने के अतिरिक्त पंजाब और कश्मीर के विषय में निम्न प्रस्ताव स्वीकार किए—

पंजाब

विभाजित पंजाब द्विभाषी राज्य है, जिसमें पंजाबी और हिंदीभाषी लोग प्रदेश के एक छोर से दूसरे छोर तक इस प्रकार सभी स्तरों पर फैले हुए हैं कि पंजाब का और अधिक विभाजन न केवल असंभव है अपितु वह राजनीतिक दृष्टि में भी अदूरदर्शितापूर्ण है। यह स्थिति एक वास्तविक तथ्य है, जिसे राज्य पुनर्गठन आयोग ने भी स्वीकार किया था।

अकाली दल द्वारा प्रदेश के विभाजन की माँग पूर्णतः सांप्रदायिक है और उसका भाषा से कोई संबंध नहीं है। मास्टर तारासिंह के अनशन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अकाली दल ज़ोर-ज़बरदस्ती से अपनी माँग मनवाने पर तुला हुआ है, जो पूर्णतः अप्रजातांत्रिक है। अतः राजनीतिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के इस मार्ग की तीव्र निंदा की जानी चाहिए।

अकाली दल की उक्त सांप्रदायिक माँग को अस्वीकृत करने तथा अकालियों के सम्मुख न झुकने की भारत सरकार की नीति का कार्यसमिति ने स्वागत किया है। किंतु प्रस्ताव में केंद्रीय सरकार को चेतावनी देते हुए आगे कहा गया है कि क्षेत्रीय समितियों की शक्तियों में वृद्धि करते हुए उन्हें उप-विधानमंडलों का स्तर प्रदान करने की बातें पूर्णतः अनुचित हैं। कार्यसमिति का यह दृढ विश्वास है कि उक्त पग से पंजाब की

समस्या और भी उलझ जाएगी। अत: पंजाब की यथास्थिति में परिवर्तन कर अकालियों को संतुष्ट करने के प्रयासों को सदैव के लिए बंद कर देना चाहिए। कार्यसमिति ने पंजाब की जनता को सचेत करते हुए कहा है कि भारतीय जनसंघ अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर उक्त विघटनकारी तत्त्वों एवं पगों का सामना करेगा। अंत में राज्य की जनता को सचेत करते हुए कहा गया है कि अपनी एकता को स्थिर रखें और मास्टर तारासिंह के अनशन से उत्पन्न परिस्थिति के कारण राज्य का वातावरण दूषित न होने दें।

कश्मीर

कश्मीर के विषय में एक प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए कार्यसमिति ने परमिट प्रणाली की समाप्ति, राज्य के उच्चतम न्यायालय की परिधि में आने एवं आर्थिक एकीकरण की दिशा में किए गए प्रयत्नों पर संतोष व्यक्त करते हुए कहा है कि अभी भी राज्य के पूर्णत: भावात्मक एकीकरण करने के मार्ग में कश्मीर का पृथक् संविधान, राज्य में नागरिकता प्राप्ति के पृथक् नियम और लोकसभा के लिए जनता को अपने प्रतिनिधि चुनकर भेजने के अधिकार का प्राप्त न होना सबसे बड़ी बाधा है, जिन्हें अविलंब दूर किया जाना चाहिए। कार्यसमिति का यह मत है कि उस नीति के फलस्वरूप ही राज्य में पाकिस्तानियों को अवैध प्रवेश करने और अपनी विध्वंसक कार्रवाइयाँ ज़ारी रखने को प्रोत्साहन मिला है, जिनका तुरंत दमन किया जाना आवश्यक है।

कश्मीर के भारतीय निर्वाचन आयोग के अंतर्गत आ जाने के पश्चात् भी जम्मू और कश्मीर सरकार द्वारा आगामी चुनाव में चिह्न प्रणाली का विरोध करते हुए जो तर्क प्रस्तुत किए जा रहे हैं, उनकी तीव्र निंदा की गई है और भारत सरकार एवं निर्वाचन आयोग से समिति ने माँग की है कि संपूर्ण भारत की भाँति उक्त पद्धति को यहाँ पर भी लागू करना अनिवार्य है।

कार्यसमिति ने कहा है राज्य सरकार द्वारा उक्त पद्धति का विरोध किए जाने से जनता में चुनावों की निष्पक्षता के विषय में संदेह उत्पन्न होता जा रहा है, जिसका तुरंत निराकरण करना आवश्यक है। समिति ने जम्मू के प्रति बरती जाने वाली बख़्शी सरकार की भेदमूलक नीति की निंदा करते हुए डोगरी भाषा के विकास किए जाने की भी माँग की है।

प्रजा परिषद् द्वारा अपने सम्मान में आयोजित बैठक में भाषण करते हुए जनसंघ के अध्यक्ष श्री ए. रामाराव ने कश्मीर को भारत का अविभाज्य अंग बताते हुए कश्मीर की विशेष स्थिति समाप्त करने की माँग की।

—पाञ्चजन्य, सितंबर 18, 1961

□

परिशिष्ट-VIII

दीनदयालजी का बिहार दौरा

उत्तर प्रदेश

विधानसभा की 430 में से 216 और लोकसभा की 86 में से 44 सीटों पर चुनाव लड़ने की घोषणा कर जनसंघ ने पहले ही परेशानी में डाल दिया था, अब और अधिक उम्मीदवारों की घोषणा करके उसने प्रभावी दलों को चुनाव मैदान में पीछे ढकेल दिया है। विजयादशमी के दिन चुनाव-आंदोलन का श्रीगणेश करते हुए प्रदेश मंत्री श्री कुंजबिहारीलाल राठी ने कहा कि देश में पिछले दिनों जनसंघ की बढ़ती हुई लोकप्रियता से सत्तारूढ दल को चिंता हो गई है। आज जो प्रभाव बाहर के वातावरण में दिखाई दिया है, वह संसद् और विधानमंडलों में भी दिखाई दे तो निश्चय ही उसकी निरंकुशता पर अंकुश लगाया जा सकता है। जनता ने यह भार जनसंघ के ऊपर विश्वासपूर्वक डाला है। हमारे कार्यकर्ता निश्चय ही इस विश्वास के अनुरूप कार्य कर पाएँगे। आपने विश्वास प्रकट किया कि जनसंघ केवल विधानमंडल में सबसे बड़ा विरोधी दल ही न बनेगा, अपितु वह इतनी संख्या में अपने प्रतिनिधि भेजने में सफल होगा, जिससे कांग्रेसी सरकार का वर्तमान राक्षसी बहुमत समाप्त हो जाएगा। संभव है, उसे सरकार बनाने लायक़ बहुमत प्राप्त न हो।

इस बीच प्रदेश में मंडल सम्मेलनों की धूम सी मची है। इन सम्मेलनों में स्थान-स्थान पर सहस्रों कार्यकर्ता एकत्र होकर चुनाव सम्मेलन को तीव्र बनाने पर विचार विनिमय कर रहे हैं। 15 अक्तूबर से ही चुनाव-कोष एकत्र करके अभियान भी प्रारंभ कर दिया गया है।

विगत सप्ताह प्रदेश विधान के स्वतंत्र विधायक श्री उल्फत सिंह ने जनसंघ की सदस्यता स्वीकार ली। यह ख़बर भी है कि रायल ज़िले की चंदापुर स्वतंत्र पार्टी के नेता पार्टी से त्यागपत्र देकर जनसंघ में शमिल हो गए हैं।

बिहार

बिहार प्रदेश में चुनाव-आंदोलन को अंतिम रूप देने को प्रदेश के समस्त कार्यकर्ताओं का एक द्विदिवसीय सम्मेलन आयोजित किया गया, इस सम्मेलन के दूसरे दिन यहाँ अपराह्न में एक भव्य जुलूस निकाला गया। जुलूस में सम्मेलन में आए हुए प्रतिनिधियों के अलावा स्थानीय नागरिक भी बहुत बड़ी संख्या में शामिल थे। जुलूस-टिल्हा-धर्मशाला से प्रारंभ होकर गया नगर की प्रमुख सड़कों से घूमता हुआ सार्वजनिक सभा में परिणत हो गया। जुलूस में भारतीय जनसंघ के महामंत्री पं. दीनदयाल उपाध्याय, प्रादेशिक जनसंघ के नवनिर्वाचित अध्यक्ष श्री ठाकुरप्रसाद एडवोकेट, प्रादेशिक मंत्री श्री कैलाशपति मिश्र, उपाध्यक्ष पं. नारायण द्विवेदी तथा कोषाध्यक्ष श्री कालिकानंदन एडवोकेट जीप पर थे। नगर में स्थान-स्थान पर 25 स्वागत द्वार भी बनाऐ गए थे। अंत में जुलूस सार्वजनिक सभा में परिणत हो गया।

सभा में एकत्र लगभग दस सहस्र नागरिकों को संबोधित करते हुए महामंत्री श्री उपाध्याय ने घोषणा की कि जनसंघ सारे देश में विधानसभाओं की 1400 और लोकसभा की 250 सीटों पर चुनाव लड़ेगा। बिहार में जनसंघ विधानसभा की 150 तथा लोकसभा की 20 सीटों पर चुनाव लड़ेगा। गया विधानसभा की 20 और लोकसभा की 3 सीटों पर चुनाव लड़ेगा।

किसी अन्य दल से चुनाव-गठबंधन करने की संभावना से इनकार करते हुए श्री उपाध्याय ने कहा कि किसी ख़ास जगह में केवल स्थानीय तौर पर राष्ट्रवादी दलों से चुनाव के लिए समझौता किया जा सकता है। उन्होंने कहा कि पार्टी का चुनाव घोषणा-पत्र बुनियादी सिद्धांतों पर निर्भर है और वे हैं—विदेशियों के चंगुल से भारतीय भूमि की मुक्ति, प्रशासन की शुद्धता, मूल्य-स्थिरता और बेरोज़गारी का अंत। इसके अतिरिक्त माध्यमिक स्तर तक निःशुल्क शिक्षा भी आवश्यक उद्देश्यों में से एक है।

—पाञ्चजन्य, नवंबर 13, 1961

□

जनसंघ ने कृपलानी को समर्थन पर स्थिति स्पष्ट की

'टाइम्स ऑफ इंडिया' न्यूज सर्विस।

वाराणसी, 16 नवंबर : भारतीय जनसंघ के महासचिव श्री दीनदयाल उपाध्याय ने आज यहाँ कहा कि आचार्य कृपलानी की उम्मीदवारी को उनकी पार्टी के समर्थन का अर्थ यह नहीं है कि जनसंघ उनकी नीतियों का समर्थन करता है। आचार्य कृपलानी आम चुनाव में बंबई (उत्तर) संसदीय निर्वाचन क्षेत्र से श्री कृष्ण मेनन के ख़िलाफ़ चुनाव लड़ेंगे।

संवाददाताओं से बातचीत करते हुए श्री उपाध्याय ने कहा कि श्री कृपलानी को उनकी पार्टी के समर्थन का अर्थ केवल यह है कि जनसंघ नहीं मानता है कि श्री मेनन संयुक्त राष्ट्र में देश की गुटनिरपेक्ष विदेश नीति के सही प्रतिनिधि हैं।

श्री उपाध्याय ने कहा कि इन चुनावों में जनसंघ का भविष्य दाँव पर नहीं होगा। सहकारी खेती और चीन तथा पाकिस्तान के प्रति सरकार के रवैये का विरोध जनसंघ के चुनाव नारे होंगे।

उन्होंने राज्य स्तर पर दलों की मान्यता पर चुनाव आयोग के फ़ैसले की भी आलोचना की। उन्होंने कहा कि जनसंघ की कार्यकारिणी ने एक संकल्प पारित करके आयोग से आग्रह किया है कि पार्टियों को अखिल भारतीय स्तर पर मान्यता देने के पुराने तरीक़े को बनाए रखा जाए।

उन्होंने कहा कि जनसंघ के संसदीय बोर्ड ने लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के लिए उम्मीदवारों की सूची तय कर ली है। विधानसभाओं और लोकसभा के लिए उम्मीदवारों की संख्या क्रमशः इस प्रकार है—

आसाम (5 और 1), पश्चिम बंगाल (75 और 15), बिहार (150 और 20), यूपी (400 और 75), पंजाब (100 और 15), राजस्थान (130 और 15), गुजरात (60 और 5), मध्य प्रदेश (200), हिमाचल प्रदेश (15 और 1) और त्रिपुरा (6 और 1)।

—द टाइम्स ऑफ इंडिया, नवंबर 18, 1961

(अंग्रेज़ी से अनूदित)

□

वाराणसी प्रतिनिधि सम्मेलन
जनसंघ जनता की अपेक्षाएँ पूर्ण करेगा

वाराणसी के एक टूटे-फूटे खँडहर के अंदर साधारण से शामियाने के नीचे एकत्र भारतीय जनसंघ के प्रतिनिधियों की त्रिदिवसीय बैठक का सूक्ष्म अवलोकन करनेवाला कोई भी पर्यवेक्षक पूरे सम्मेलन की सादगी और प्रतिनिधियों की वैचारिक प्रौढ़ता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। यदि संक्षेप में उस सम्मेलन का वर्णन करना हो तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह आवश्यकता से अधिक सादगी और अपेक्षा से अधिक ऊँचे विचारों का एक ऐसा अनोखा जमघट था, जिसमें तरुणों के उत्साह और साहस के साथ-साथ प्रौढ़ों की गंभीरता और अनुभव के आधार पर किसी स्वर्णिम भविष्य के निर्माण के लिए जीने-मरने का संकल्प लिये भारत के कोने-कोने का प्रतिनिधित्व करनेवाले एकत्र थे।

काशी भारत की सांस्कृतिक राजधानी रही है। इस प्राचीन नगरी ने कितने ही साम्राज्यों का उत्थान और पतन देखा है। सनातन भारतीय संस्कृति को झकझोरने वाले कितने ही झंझावातों का सामना करते हुए अनादिकाल से भारतीय संस्कृति को पुष्पित और पल्लवित करने का श्रेय इस पुण्य नगरी को प्राप्त है। फिर सांस्कृतिक अभ्युत्थान के इस संक्रमण काल में यदि संस्कृति के सरंक्षण का दायित्व ग्रहण करनेवाले जनसंघ ने महानिर्वाचन के पूर्व अपनी नीतियों और मान्यताओं का निर्धारण करने के लिए इसी पुण्यस्थलों को अपना कार्यस्थल चुना तो इसे एक दैवी संकेत ही मानना चाहिए।

जनसंघ के बढ़ते हुए कार्य का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस सम्मेलन में कतिपय विदेशी पर्यवेक्षक भी उपस्थित थे। इसके पूर्व उन्होंने कांग्रेस और अन्य दलों के प्रतिनिधि सम्मेलन भी देखे थे, जिसकी शानोशौकत के मुक़ाबले यहाँ का वातावरण बिल्कुल ही आडंबरहीन और कुछ अंशो तक अजनबी-सा भी रहा। पर साथ ही वे

संपूर्ण कार्य विधि में परस्पर का सौहार्द और तर्क वितर्क का उच्च स्तर देखकर इस उदीयमान नेतृत्व की सराहना किए बिना नहीं रह सके। 'जनसंघ के पास मौलिक विचार का अभाव है', यह आरोप कितना मिथ्या और भ्रमपूर्ण है, यह अनुभव भी शायद ये पहली बार ही कर पाए थे।

अनेक संशोधनों के साथ चुनाव घोषणा-पत्र स्वीकृत, कांग्रेस की निरकुंशता समाप्त करने का दृढ संकल्प

भारतीय कार्य समिति द्वारा स्वीकृत चुनाव घोषणा-पत्र में प्रतिनिधियों द्वारा लगभग 200 संशोधन प्रस्तुत किए गए थे। सर्वप्रथम राष्ट्रीय सुरक्षा के संबंध में मध्य प्रदेश विधानसभा के सदस्य श्री सकलेचा के आणविक शस्त्रों के निर्माण के पक्ष में प्रस्तुत संशोधन पर बहस हुई। संशोधन प्रस्तुतकर्ता का तर्क यह था कि पड़ोसी चीन के आक्रामक इरादों और अणुबम बनाने की उसकी घोषणाओं के होते हुए अपनी सुरक्षा-सामर्थ्य के संबंध में जनसाधारण में आस्था उत्पन्न करने के लिए भारत में अणुबम बनाने का निश्चय अत्यंत आवश्यक है। इस संशोधन के विरुद्ध अपना मत व्यक्त करते हुए लोकसभा में जनसंघ दल के नेता श्री वाजपयी ने कहा कि कांग्रेस और जनसंघ की नीति में अंतर यह है कि कांग्रेस ने अणुअस्त्र निर्माण न करने की घोषणा की है, परंतु जनसंघ ने ऐसा नहीं किया है। परंतु आज विश्व की स्थिति में एक प्रमुख राजनीतिक दल द्वारा अणुअस्त्र निर्माण करने की घोषणा उचित नहीं होगी। भारतीय जनसंघ भी नहीं चाहता कि भारत शस्त्रीकरण की दौड़ में सम्मिलित हो अथवा किसी भाँति उसको बढ़ावा देने में सहायक हो।

राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रति प्रतिनिधियों में कितनी चिंता है, इसका दिग्दर्शन इसी से हो जाता है कि अपने नेताओं की निर्णय-बुद्धि पर पूरा भरोसा करनेवाले प्रतिनिधि भी इस प्रश्न पर तब तक शांत न हो सके जब तक महामंत्री पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने उन्हें यह आश्वासन नहीं दिया कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए समय और आवश्यकता अनुसार हम सबकुछ करने को तैयार होंगे। हमने कांग्रेस की तरह अणुशस्त्र न बनाने की शपथ नहीं ली है। पर विश्व की वर्तमान तनावपूर्ण अवस्था को देखते हुए कुछ काल तक जनसंघ जैसी ज़िम्मेदार पार्टी को अणु-परीक्षणों पर ज़ोर देना उचित न होगा।

अन्य दलों से गठबंधन नहीं

प्रतिनिधि सभा ने आम चुनावों में अन्य दलों के साथ चुनाव गठबंधन न करने के संबंध में कार्यसमिति द्वारा घोषित नीति की ही पुष्टि की। लगभग दो घंटे के विचारोपरांत पारित प्रस्ताव में कहा गया है कि आगामी आम चुनाव सत्तारूढ़ दल को चुनौती देने

और विभिन्न प्रश्नों को जनता के समक्ष ले जाने का एक महान् अवसर प्रस्तुत करते हैं। राजनीति को भावात्मक स्वरूप देने की दृष्टि से भारतीय जनसंघ ने इन चुनावों को अपने ही कार्यक्रम और नीतियों के आधार पर लड़ने का निश्चय किया है। वह किसी दल के साथ गठबंधन नहीं करेगा। परंतु आवश्यक हो तो समायोजन करना मान्य किया गया है। कांग्रेस, कम्युनिस्ट, मुसलिम लीग, अकाली दल तथा द्रविड़ मुनेत्र कझगम के साथ किसी प्रकार का समायोजन भी नहीं किया जाएगा। इस नवीन प्रस्ताव द्वारा इतना बंधन लगाया गया है कि यदि कहीं पर किसी दल के साथ समायोजन (Adjustment) किया जाए तो वह लोकसभा चुनाव क्षेत्र के स्तर पर किया जाना चाहिए।

कृषि योजनाओं में सरकारी मुनाफ़ा न्यायसंगत नहीं

एक संशोधन द्वारा यह मान्य किया गया कि सिंचाई के लिए पानी की दर में सरकार को किसी भाँति मुनाफ़ा नहीं लेना चाहिए। किसान को पानी देते समय केवल पानी का मूल्य ही लिया जाए। सिंचाई खेती का अधिकार होने के कारण मुनाफ़े का दृष्टिकोण अपनाना न्यायसंगत नहीं।

मध्य प्रदेश के एक प्रतिनिधि द्वारा रखा गया वन-ग्रामों के संबंध का संशोधन भी स्वीकार किया गया।

इस संशोधन के उपरांत घोषणा-पत्र में इस बात का समावेश किया गया है कि वन-ग्रामों को राजस्व विभाग के अंतर्गत देकर वहाँ के कृषकों को उनके द्वारा जोती जाने वाली भूमि पर स्वामित्व के अधिकार दिए जाएँगे।

सेवा-निवृत्त सैनिकों के पुनर्वास पर विशेष ध्यान देने और इस दृष्टि से उनके सेवाकाल में योग्य प्रशिक्षण की व्यवस्था का समावेश करने के लिए एक संशोधन मान्य किया गया है।

शस्त्रों पर लाइसेंस

मध्य प्रदेश के विधान सभासद द्वारा प्रस्तुत एक संशोधन में माँग की गई थी कि शस्त्र (Arms Act) रखने संबंधी नियमों को पूर्णतः समाप्त कर दिया जाए और हर व्यक्ति बंदूक़ आदि रखने के लिए स्वतंत्र हो। संशोधन इस रूप में अमान्य किए जाने के पश्चात् भी यह स्वीकार किया गया कि इससे संबंधित नीति में कड़ाई न बरती जाए और टोपीदार बंदूक़ों आदि पर से लाइसेंस हटा दिया जाए।

अंतिम दिन स्वीकृत संशोधन प्रस्तावों द्वारा घोषणा-पत्र की विदेशनीति के विषय में इन बातों का समावेश कर लिया गया कि जनसंघ भारत को विश्व के दोनों शक्ति गुटों से अलग रखेगा तथा उन अंतरराष्ट्रीय उलझनों में नहीं पड़ेगा, जिनका भारत से सीधा

संबंध नहीं। जनसंघ सभी देशों की स्वतंत्रता तथा समानता पर आधारित विश्वशांति की रक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ को सहायता प्रदान करेगा तथा उसके उद्देश्य-पत्र में इस प्रकार का संशोधन कराने का प्रयास करेगा, जिससे कि वह विश्व की जनता का प्रतिनिधित्व कर सके। जनसंघ भारत को सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य बनाने का प्रयास करेगा।

विदेश नीति में समाविष्ट अन्य प्रमुख बातें इस प्रकार रहीं—

जनसंघ पश्चिमी उपनिवेशवाद तथा साम्यवादी साम्राज्यवाद के चंगुल में फँसे देशों के स्वाधीनता-आंदोलनों को नैतिक समर्थन देगा, जिससे कि वे अपनी स्वतंत्र विदेश नीति रख सकें, जनसंघ तिब्बत की चीनी साम्राज्यवाद से मुक्ति में योगदान देगा, नेपाल के साथ अपने मैत्रीपूर्ण संबंधों को दृढ करेगा, जब तक पाकिस्तान पृथक् राज्य के रूप में विद्यमान है, उसके साथ सम सहयोग की नीति रखी जाएगी, गोवा आदि को सभी संभव उपायों द्वारा स्वतंत्र कराएगा, वेरूबारी के हस्तांतरण को रद्द किया जाएगा, निष्क्रांत संपत्ति एवं ऋण की वसूली में दृढता बरती जाएगी, तथा विदेश स्थित भारतीयों को अपने देशों में समान नागरिक अधिकार दिलाने का प्रयत्न किया जाएगा।

इस प्रकार प्रतिनिधि सभा ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र को 22 मामूली संशोधनों के पश्चात् अंतिम रूप से पारित कर दिया। चुनाव घोषणा-पत्र का मसविदा जनसंघ की कार्यसमिति ने अपने जम्मू अधिवेशन में स्वीकृत किया था।

भारतीय जनता को आश्वासन

सम्मेलन के अंतिम दिन महामंत्री पं. दीनदयाल उपाध्याय ने प्रतिनिधियों को संबोधित करते हुए कहा कि जनता के स्नेह और विश्वास के बल पर ही जनसंघ आगे बढ़ता जा रहा है। हमारा यह दायित्व है कि हम उसके विश्वास के योग्य सिद्ध हों। 15 वर्षों के कांग्रेसी शासन से जनता ऊब चुकी है। वह परिवर्तन चाहती है, नया नेतृत्व चाहती है। पर हमें यह भी याद रखना चाहिए कि केवल इच्छा मात्र से यह परिवर्तन नहीं आ सकता। इसके लिए दिन-रात श्रम करना पड़ेगा। मुझे विश्वास है कि हमारे कार्यकर्ता अपनी संपूर्ण शक्ति-बुद्धि को केंद्रित करते हुए आगामी चुनावों में आशातीत सफलता प्राप्त करेंगे। मैं आप सब की ओर से भारतीय जनता को यह आश्वासन देना चाहता हूँ कि हम अपनी पूरी शक्ति लगाकर उनकी अपेक्षाओं को पूर्ण करेंगे।

समारोप

और फिर अत्यंत उल्लासपूर्ण वातावरण में नई योजनाएँ, अपेक्षाएँ और आकांक्षाएँ सँजोकर, विजय का विश्वास लेकर सभी प्रतिनिधि अपने-अपने क्षेत्रों में वापस चले गए।

सम्मेलन समाप्त हो गया—भारतीय जनता को एक आश्वासन देकर, विरोधी दलों को एक चुनौती देकर और सत्तारुढ़ दल की निरंकुशता को समाप्त करने का संकल्प लेकर।

सरकारी कर्मचारियों के साथ न्याय किया जाए

केंद्रीय कर्मचारियों के संबंध में सरकार की भेदभावपूर्ण नीति की कटु आलोचना करते हुए जनसंघ प्रतिनिधि सभा ने एक प्रस्ताव में कहा कि केंद्रीय कर्मचारियों की पिछली हड़ताल के उपरांत शासन द्वारा अपनाई गई विभेदपूर्ण नीति निंदनीय है। यद्यपि शासन की ओर से यह आश्वासन दिया गया था कि तोड़फोड़ तथा हिंसा की कार्रवाई में भाग न लेनेवाले सभी निलंबित हड़ताली कर्मचारियों को पुन: काम पर ले लिया जाएगा, किंतु अभी तक भारी संख्या में ऐसे कर्मचारी मौजूद हैं, जिन्हें या तो बर्ख़ास्त कर दिया गया है अथवा उनकी पदावनति कर दी गई है। आज जबकि सिविल एविएशन एवं ऑडिट विभाग आदि कुछ कर्मचारी संघों को छोड़कर अन्यों की मान्यता समाप्त कर दी गई है, कर्मचारियों के विरुद्ध व्यक्तिगत कार्रवाई का कोई औचित्य नहीं है।

पिछले वर्ष में वस्तुओं के मूल्यांक में 10 अंकों से अधिक की वृद्धि होकर वह 127 तक पहुँच गया है। वेतन आयोग के निर्णय के अनुसार आवश्यक है कि कर्मचारियों के महँगाई भत्ते में तदनुसार बढ़ोतरी की जाए।

वेतन आयोग की सिफ़ारिशों के उपरांत भी जयपुर, इलाहाबाद तथा मदुरई नगरों को, जनसंख्या में वृद्धि तथा बढ़ती हुई महँगाई, विशेषत: मकानों की कमी को ध्यान में रखकर, अभी तक 'बी' श्रेणी के नगर घोषित नहीं किया गया। भारतीय प्रतिनिधि सभा शासन से यह आग्रह करती है कि—

1. जिन कर्मचारी संघों की मान्यता वापस नहीं की गई है, उन्हें अविलंब मान्यता प्रदान की जाए।
2. सभी हड़ताली कर्मचारियों को उनके पुराने पदों पर प्रतिष्ठित किया जाए।
3. महँगाई के अनुरूप कर्मचारियों के भत्ते में वृद्धि की जाए।
4. नगरों के अपग्रेडेशन के संबंध में शीघ्र घोषणा की जाए, तथा
5. केंद्रीय कर्मचारियों के चुनाव-सभाओं में भाग न लेने संबंधी निर्देश को वापस लिया जाए।

—पाञ्चजन्य, नवंबर 20, 1961

□

संदर्भिका

अ

आ

झ

ट

ड

त

द

ध

न

प

फ

ब

भ

म

य

र

□□□

परिचय

भूमिका लेखक

श्री सुरेश 'भैयाजी' जोशी

संघ के वरिष्ठ प्रचारक। मूलतः इंदौर के निवासी, मुंबई (तब बंबई) में पढ़ाई के दौरान ही संघ के संपर्क में आए। 1975 से प्रचारक रहते हुए संघ में विभिन्न दायित्व निभा रहे हैं। दीर्घकाल तक अखिल भारतीय सेवा प्रमुख का दायित्व निभाने के बाद, वर्ष 2009 से संघ के सरकार्यवाह हैं। संघ कार्य हेतु कई देशों में प्रवास कर चुके हैं।

वह काल लेखक

श्री बलबीर पुंज

लालोवल, गुरदासपुर (पंजाब) में 2 अक्तूबर, 1949 को जन्म। 1971 में 'मदरलैंड' से पत्रकारिता आरंभ। 1974 से 1996 तक फाइनेंशियल एक्सप्रेस में कार्य। आई.आई.एम.सी. के अध्यक्ष हैं। ओडिशा से राज्यसभा सदस्य रहे। आउटलुक, पंजाब केसरी एवं दैनिक जागरण में स्तंभ लेखन। भारतीय जनता पार्टी के उपाध्यक्ष रहे।

समर्पण परिचय लेखक

श्री इंदुशेखर तत्पुरुष

राजस्थान के गंगापुर शहर में 9 अक्तूबर, 1962 को जन्म। पहला कविता संग्रह 'खिली धूप में बारिश' 1996 में प्रकाशित। साहित्य की कई विधाओं में लेखन। राजस्थान सरकार में आयुर्वेद के चिकित्सक। साहित्य सेवा के लिए कई पुरस्कार-सम्मान।

अनुसंधान एवं संपादन सहायक

श्री इष्ट देव सांकृत्यायन

- श्री राजेश राजन
- डॉ. विकास द्विवेदी
- श्रीमती सुमेधा मिश्रा
- श्री देवेश खंडेलवाल
- श्री राम शिरोमणि शुक्ल
- डॉ. अरुण भारद्वाज

टंकण एवं सज्जा

- श्री प्रेम प्रकाश राय
- श्री राकेश शुक्ल
- श्री नरेंद्र कुमार
- श्रीमती दीपा सूद

...शुक्ल ४ शके १८७७ र. उ. ७।१७, र. अ. ६।२१

जानेवारी ता. १७ वार मंगळ पोष शुदी ४ संवत २०१२

2.. TUESDAY 17th JANUARY 1956

संघ का कार्य हिन्दु संगठन का है। भावात्मक हिन्दुत्व हमारे सम्मुख है। हिन्दू शब्द से जिस समाज की कल्पना होती है उसके कुछ लक्षण रखें। क्योंकि आगे [illegible] [illegible] की [illegible], उसके [illegible] रहने वाला एक [illegible] चलाने वाला। हिन्दु [illegible]। अन्य कार्य होते हुए भी हमने संगठन का ही कार्य हाथ में लिया है आदि कल कहा।

१. ज्ञान का लक्षण = एकत्व का बोध है; अनेकता का बोध - अज्ञान। एकात्मता का बोध कराने का प्रयत्न करना होगा।

अपने हृदय में सबके लिये समान आदर होना चाहिये जो बातें इसके पोषक न हों उन्हें व्यवहार से निकाल [illegible] हिन्दुत्व के लक्षण सबमें समान रूप से मिलेंगे। भगवान का दर्शन सभी कर सकते हैं। सभी भाषाओं में एक ही भाव व्यक्त होता है। [illegible] Father Goodwin ने [illegible] [illegible] [illegible] किया किन्तु [illegible] में [illegible], [illegible]

Import of [illegible] [illegible] 18 [illegible] total value of 4. value of imports of machinery in [illegible] 325 crores. Same industr[y] licensed for a c[illegible] excess of the [illegible] same have [illegible] near the [illegible] for the end of [illegible] These are [illegible] rubber, tyres [illegible] alcohol, soda [illegible] soda, refra[illegible] transmitter and rayon
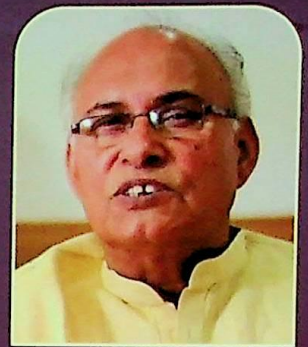
डॉ. महेश चंद्र शर्मा

जन्म : राजस्थान के चुरू कस्बे में 7 सितंबर, 1948 को।

शिक्षा : बी.ए. ऑनर्स (हिंदी), एम.ए. एवं पी-एच.डी. (राजनीति शास्त्र)।

कृतित्व : 1973 में प्राध्यापक की नौकरी छोड़कर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक बने। आपातकाल में अगस्त 1975 से अप्रैल 1977 तक जयपुर जेल में 'मीसा' बंदी रहे। सन् 1977 से 1983 तक अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् में उत्तरांचल के संगठन मंत्री, 1983 से 1986 तक राजस्थान विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि के लिए 'दीनदयाल उपाध्याय का राजनैतिक जीवन चरित—कर्तृत्व व विचार सरणी' विषय पर शोधकार्य। 1983 से साप्ताहिक 'विश्ववार्ता' व 'अपना देश' स्तंभ नियमित रूप से भारत के प्रमुख समाचार-पत्रों में लिखते रहे।

सन् 1986 में 'दीनदयाल शोध संस्थान' के सचिव बने। शोध पत्रिका 'मंथन' का संपादन। 1986 से वार्षिक 'अखंड भारत स्मरणिका' का संपादन। 1996 से 2002 तक राजस्थान से राज्यसभा सदस्य एवं सदन में भाजपा के मुख्य सचेतक रहे। 2002 से 2004 तक नेहरू युवा केंद्र के उपाध्यक्ष। 2006 से 2008 तक भाजपा राजस्थान के अध्यक्ष। 2008-2009 राजस्थान विकास एवं निवेश बोर्ड के अध्यक्ष। 1999 से एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान के अध्यक्ष। पंद्रह खंडों में प्रकाशित 'पं. दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय' के संपादक।
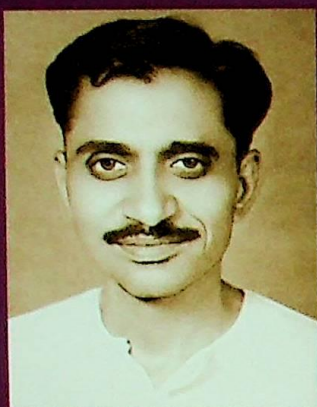
पं. दीनदयाल उपाध्याय का बचपन बहुत ही विकट स्थितियों में बीता, तो भी वे सदैव एक मेधावी छात्र के रूप में रेखांकित हुए। द्वि-राष्ट्रवाद की छाया ने जब भारत की आजादी की लड़ाई को आवृत्त कर लिया था, तब 1942 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के माध्यम से उन्होंने अपना सार्वजनिक जीवन प्रारंभ किया। वे उत्तम संगठक, साहित्यकार, पत्रकार एवं वक्ता के नाते संघ-कार्य को बल देते रहे।

1951 में जब डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में भारतीय जनसंघ की स्थापना हुई, तभी उनका राजनीति में प्रवेश हुआ। देश की अखंडता के लिए कश्मीर आंदोलन, गोवा मुक्ति आंदोलन तथा बेरुबाड़ी के हस्तांतरण के विरुद्ध आंदोलन चलाकर उन्होंने भारत की राजनीति में स्वतंत्रता संग्राम के मुद्दों को जीवित रखा। भारत की अखंडता के लिए उनका पूरा जीवन लगा।

देश के लोकतंत्र को सबल विपक्ष की आवश्यकता थी; प्रथम तीन लोकसभा चुनावों के दौरान भारतीय जनसंघ एक ताकतवर विपक्षी दल के रूप में उभरा। वह विपक्ष कालांतर में विकल्प बन सके, इसकी उन्होंने संपूर्ण तैयारी की।

केवल तंत्र ही नहीं, मंत्र का भी विकल्प आवश्यक था। विदेशी वादों के स्थान पर उन्होंने एकात्म मानववाद, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एवं भारतीयकरण का आह्वान किया। 1951 से 1967 तक वे भारतीय जनसंघ के महामंत्री रहे। 1968 में उन्हें अध्यक्ष का दायित्व मिला। अचानक उनकी हत्या कर दी गई। उनके द्वारा विकसित किया गया दल 'भारतीय जनता पार्टी' ही देश में राजनैतिक विकल्प बना।

ISBN 978-93-86231-24-6

₹ 400/-